16
Sankshiptha Meri Kahani

संक्षिप्त मेरी कहानी

जवाहरलाल नेहरू

1454
GANDHI PEACE FOUNDATION
MYSORE CENTRE
162, R...
M...
ಗಾಂಧಿ ಸ್ಮಾರಕ ನಿಧಿ
ಮೈಸೂರು
ನಂ. 16
ತತ್ವ ಪ್ರಚಾರ ಕೇಂದ್ರ

1454

संक्षिप्त

मेरी कहानी

●

लेखक
जवाहरलाल नेहरू

अनुवादक
हरिभाऊ उपाध्याय

●

ಕರ್ನಾಟಕ ಗಾಂಧೀ ಸ್ಮಾರಕ ನಿಧಿ (ರಿ)
ಪರಿಗ್ರಹಣ ಸಂಖ್ಯೆ:
ACC. No.: 9437
ಗಾಂಧೀ ಗ್ರಂಥಾಲಯ, ಬೆಂಗಳೂರು-1

१९५६

सस्ता साहित्य प्रकाशन

प्रकाशक
मार्तण्ड उपाध्याय
मंत्री, सस्ता साहित्य मंडल,
नई दिल्ली

दूसरी बार : १९५६
मूल्य
अढ़ाई रुपये

मुद्रक,
नेशनल प्रिंटिंग वर्क्स,
दिल्ली

GANDHI PEACE FOUNDATION
MYSORE CENTRE
162, RAMAVILAS ROAD
MYSORE-1

प्रकाशकीय

संसार की सभी महत्त्वपूर्ण भाषाओं में जिन गिने-चुने भारतीय ग्रंथों ने असाधारण लोकप्रियता प्राप्त की है, उनमें पं. जवाहरलाल नेहरू की 'मेरी कहानी' एक है। अनेक भाषाओं में उसके अनुवाद हुए हैं और लाखों प्रतियों की खपत हुई है।

इस लोकप्रियता का सबसे बड़ा कारण यह है कि वह एक व्यक्ति की जीवनी होने के साथ-साथ स्वतंत्रता के लिए तड़पते और जूझते एक महान् देश की कहानी है।

इसमें संदेह नहीं कि नेहरूजी का जीवन एक विलक्षण सेनानी का जीवन रहा है। इसलिए उसका छोटी-बड़ी अनगिनत घटनाओं और त्यागों से परिपूर्ण होना स्वाभाविक है। इसके अतिरिक्त नेहरूजी भारत के स्वाधीनता-संग्राम के साथ इतने घुले-मिले रहे हैं कि स्वतंत्रता-संबंधी सारे आन्दोलन तथा प्रवृत्तियां उनके साथ जुड़ गई हैं। यही कारण है कि उनकी जीवनी उपन्यास की भाँति रोचक और इतिहास की भाँति तथ्य एवं घटनाओं से पूर्ण है।

हिन्दी में बड़ी जीवनी ८६४ पृष्ठों में निकली है। प्रत्येक पाठक को इसे पढ़ना चाहिए। लेकिन युवक, विशेषकर विद्यार्थी भी इस पुस्तक से लाभ उठा सकें, इस दृष्टि से इसके संक्षिप्त संस्करण की मांग बहुत दिनों से हो रही थी। हमें प्रसन्नता है कि वैसा संस्करण पाठकों के हाथों में पहुँच रहा है। बड़ी सावधानी से बड़ी पुस्तक को संक्षिप्त करके इस पुस्तक की सामग्री का चुनाव किया गया है और इस बात का विशेष रूप से ध्यान रक्खा है कि कोई भी महत्त्व की घटना छूटने न पावे। इसे संक्षिप्त रूप देने में श्री ज्ञानचंद्र जैन तथा श्री शोभालाल गुप्त से हमें जो सहायता मिली है, उसके लिए हम उनके आभारी हैं।

हमें विश्वास है कि शिक्षा-संस्थाएं इसका अधिक-से-अधिक उपयोग करेंगी और हर युवक, जिसपर देश के नव-निर्माण की जिम्मेदारी है, इस पुस्तक से प्रेरणा प्राप्त करेगा।

—मंत्री

प्रस्तावना

इस किताब के लिखने का खास मकसद यह था कि मैं किसी निश्चित काम में लग जाऊँ, जो कि जेल-जीवन की तनहाई के पहाड़-से दिन काटने के लिए बहुत जरूरी होता है। साथ ही मैं पिछले दिनों की हिन्दुस्तान की उन घटनाओं का ऊहापोह भी कर लेना चाहता था, जिनसे मेरा ताल्लुक रहा है, ताकि उनके बारे में मैं स्पष्टता के साथ सोच सकूं। आत्म-जिज्ञासा के भाव से मैंने इसे शुरू किया और बहुत हदतक, यही क्रम बराबर जारी रक्खा है।...

मुझे उम्मीद है कि पाठक इसे पढ़ते हुए इस बात का ख़याल रक्खेंगे कि यह किताब ऐसे समय में लिखी गई है, जो मेरी जिन्दगी का खासतौर पर कष्टपूर्ण समय था। इसमें यह असर खासतौर पर झलकता है। अगर इसके बजाय और किसी मामूली वक्त में लिखी गई होती तो यह कुछ और ही तरह लिखी जाती...। मगर मैंने यही मुनासिब समझा कि यह जैसी है, वैसे ही इसे रहने दूँ, क्योंकि दूसरों को शायद वही रूप ज्यादा पसंद हो, जिससे उन भावों का ठीक-ठीक परिचय मिलता हो, जो इस किताब को लिखते वक्त मेरे दिमाग में उठते थे।

जवाहरलाल नेहरू

विषय-सूची

१.	कश्मीरी घराना	९
२.	मेरे पिताजी	११
३.	मेरा बचपन	१५
४.	थियोसॉफ़ी	२१
५.	हॅरो और कैंम्ब्रिज	२५
६.	देश लौटने पर	३१
७.	मेरा पहला भाषण	३४
८.	हिमालय की एक घटना	३७
९.	गांधीजी मैदान में	४०
१०.	मेरा निर्वासन और किसानों में भ्रमण	४७
११.	असहयोग	५३
१२.	मेरी पहली जेल-यात्रा	५८
१३.	लखनऊ-जेल	६६
१४.	फिर बाहर	७४
१५.	संदेह और संघर्ष	७७
१६.	नाभा का नाटक	८२
१७.	एक नया अनुभव	९०
१८.	पिताजी और गांधीजी	९३
१९.	साम्प्रदायिकता का दौर-दौरा	१००
२०.	यूरोप में	१०४
२१.	हिन्दुस्तान आने पर फिर राजनीति में	१११
२२.	लाठी-प्रहारों का अनुभव	११६
२३.	कलकत्ता-कांग्रेस और उसके बाद	१२३

२४. पूर्ण स्वाधीनता और उसके बाद १३१
२५. सविनय आज्ञा-भंग शुरू १३६
२६. नैनी-जेल में १४३
२७. यरवडा में संधि-चर्चा १४८
२८. युक्तप्रांत में कर-बन्दी १५६
२९. पिताजी की बीमारी और उनका देहान्त १६१
३०. दिल्ली का समझौता १६७
३१. लंका में विश्राम १७५
३२. समझौता-काल में दिक्कतें १७८
३३. दूसरी गोलमेज़-परिषद् १८६
३४. सुलह का खात्मा १९४
३५. गिरफ्तारियाँ, आर्डिनेंस और ज़ब्तियाँ २०१
३६. बरेली और देहरादून-जेलों में २०५
३७. जेल में जीव-जन्तु २१४
३८. गांधीजी का उपवास २२४
३९. लम्बी सजा का अन्त २२८
४०. गांधीजी से मुलाकात २३३
४१. अन्तर्जातीय विवाह एवं लिपि का प्रश्न २३७
४२. फिर जेल की तैयारी २४३
४३. भूकम्प २४७
४४. अलीपुर-जेल २५४
४५. फिर देहरादून-जेल २६०
४६. ग्यारह दिन २६५
४७. फिर जेल में २७२
४८. उपसंहार २८१

संक्षिप्त

मेरी कहानी

मेरी कहानी

(संक्षिप्त संस्करण)

: १ :

कश्मीरी घराना

"अपने बारे में खुद लिखना मुश्किल भी है और दिलचस्प भी, क्योंकि अपनी बुराई या निन्दा लिखना खुद हमें बुरा मालूम होता है, और अगर अपनी तारीफ करें तो पाठकों को उसे सुनना नागवार मालूम होता है।"

—अब्राहम काउली

हम लोग कश्मीरी हैं। दो सौ बरस से ज्यादा हुए होंगे, अठारहवीं सदी के शुरू में हमारे पुरखे यश और धन कमाने के इरादे से कश्मीर की सुन्दर तराइयों से नीचे के उपजाऊ मैदानों में आये। वे मुगल साम्राज्य के पतन के दिन थे। औरंगजेब मर चुका था और फर्रुखसियर बादशाह था। हमारे जो पुरखा सबसे पहले आये, उनका नाम था राजकौल। कश्मीर के संस्कृत और फारसी के विद्वानों में उनका बड़ा नाम था। फर्रुखसियर जब कश्मीर गया तो उसकी नजर उनपर पड़ी और शायद उसीके कहने से उनका परिवार दिल्ली आया, जोकि उस समय मुगलों की राजधानी थी। यह सन् १७१६ के आसपास की बात है। राजकौल को एक मकान और कुछ जागीर दी गई। मकान नहर के किनारे था, इसीसे उनका नाम नेहरू पड़ गया। कौल जो उनका कौटुम्बिक नाम था बदलकर कौल-नेहरू हो गया और आगे चलकर, कौल तो गायब हो गया और हम महज नेहरू रह गये।

उसके बाद ऐसा डांवाडोल जमाना आया कि हमारे कुटुम्ब

के वैभव का अन्त हो गया और वह जागीर भी तहस-नहस हो गई। मेरे परदादा लक्ष्मीनारायण नेहरू, दिल्ली के बादशाह के नाममात्र के दरबार में कम्पनी-सरकार के पहले वकील हुए। मेरे दादा गंगाधर नेहरू, १८५७ के गदर के कुछ पहले तक दिल्ली के कोतवाल थे। १८६१ में चौंतीस साल की भरी जवानी में ही वह मर गए।

१८५७ के गदर की वजह से हमारे परिवार का सब सिलसिला टूट गया। हमारे खानदान के तमाम कागज-पत्र और दस्तावेज तहस-नहस हो गये। इस तरह अपना सब-कुछ खो चुकने पर हमारा परिवार दिल्ली छोड़नेवाले और कई लोगों के साथ वहाँ से चल पड़ा और आगरा जाकर बस गया।

कुछ बरसों तक वे लोग आगरा रहे और वहीं ६ मई १८६१ को पिताजी का जन्म हुआ।[१] मगर वह पैदा हुए थे मेरे दादा के मरने के तीन महीने बाद। मेरे दादा की एक छोटी तस्वीर हमारे यहाँ है, जिसमें वह मुगलों का दरबारी लिबास पहने और हाथ में एक टेढ़ी तलवार लिये हुए हैं। उसमें वह एक मुगल सरदार-जैसे लगते हैं, हालाँकि सूरत-शकल उनकी कश्मीरियों की-सी ही थी।

तब हमारे परिवार के भरण-पोषण की जिम्मेदारी मेरे दो चाचाओं पर आ पड़ी, जो कि उम्र में मेरे पिताजी से काफी बड़े थे। बड़े चाचा बंसीधर नेहरू थोड़े ही दिन बाद ब्रिटिश सरकार के न्याय-विभाग में नौकर हो गये। जगह-जगह उनका तबादला होता रहा, जिससे वह परिवार के और लोगों से बहुत कुछ जुदा पड़ गये। मेरे छोटे चाचा नन्दलाल नेहरू राजपूताना की एक छोटी-सी रियासत, खेतड़ी, के दीवान हुए और वहाँ दस बरस तक रहे। बाद में उन्होंने कानून का अध्ययन किया और आगरे में वकालत शुरू

---

[१]एक विचित्र संयोग है कि कवीन्द्र रवीन्द्रनाथ ठाकुर भी उसी दिन, उसी महीने और उसी साल पैदा हुए थे।

की। मेरे पिता भी उन्हींके साथ रहे और उन्हींकी छत्रछाया में उनका लालन-पालन हुआ। दोनों का आपस में बड़ा प्रेम था और उसमें बंधु-प्रेम, पितृ-प्रेम और वात्सल्य का अनोखा मिश्रण था। मेरे पिताजी सबसे छोटे होने के कारण स्वभावतः मेरी दादी के बहुत लाड़ले थे। वह बूढ़ी थीं और बड़ी दबंग भी। किसीकी ताब नहीं थी कि उनकी बात को टाले।

मेरे चाचाजी नये हाईकोर्ट में जाया करते थे और जब वह हाईकोर्ट इलाहाबाद चला गया तो हमारे परिवार के लोग भी वहाँ जा बसे। तबसे इलाहाबाद ही हमारा घर बन गया और वहीं, बहुत साल बाद, मेरा जन्म हुआ। चाचाजी की वकालत धीरे-धीरे बढ़ती गई और वह इलाहाबाद के बड़े वकीलों में गिने जाने लगे।

: २ :

मेरे पिताजी

मेरे पिताजी कानपुर के स्कूल और इलाहाबाद के कालेज में शिक्षा पाते रहे। शुरू-शुरू में उन्होंने महज फारसी और अरबी की तालीम पाई थी। उनकी अंग्रेजी शिक्षा बारह-तेरह वर्ष की उम्र के बाद शुरू हुई। मगर उस उम्र में भी वह फारसी के अच्छे जानकार समझे जाते थे और अरबी में भी कुछ दखल रखते थे। इसी कारण उनसे उम्र में बहुत बड़े लोग भी उनके साथ इज्जत से पेश आते थे। छोटी उम्र में इतनी लियाकत हो जाने पर भी स्कूल और कालेज में वह ज्यादातर हँसी-खेल और धींगा-मुश्ती के लिए मशहूर थे। उन्हें संजीदा विद्यार्थी किसी तरह नहीं कह सकते थे। पढ़ने-लिखने की बनिस्बत खेल-कूद और शरारत का शौक बहुत था। कालेज में सरकश लड़कों के अगुआ समझे जाते थे। उनका झुकाव पश्चिमी लिबास की तरफ हो गया था और सो भी उस वक्त जबकि हिन्दुस्तान में कलकत्ता और बम्बई

जैसे बड़े शहरों को छोड़कर कहीं इसका चलन नहीं हुआ था। वह तेज-मिजाज और अक्खड़ थे, तो भी उनके अंग्रेज प्रोफेसर उनको बहुत चाहते थे और अक्सर मुश्किलों से बचा लिया करते थे। वह उनकी स्पिरिट को पसंद करते थे। उनकी बुद्धि तेज थी और कभी-कभी एकाएक जोर लगाकर वह क्लास में भी अपना काम ठीक चला लेते थे।

कालेज की परीक्षाओं में वह पास होते चले गये। मगर कोई खास नामवरी उन्होंने हासिल नहीं की। आखिर को बी० ए० के इम्तिहान में बैठे। मगर उसके लिए उन्होंने कुछ मेहनत या तैयारी नहीं की थी, और जो पहला पर्चा किया तो उससे उन्हें बिलकुल सन्तोष नहीं हुआ। उन्होंने सोचा, जब पहला ही पर्चा बिगड़ गया है तो अब पास होने की क्या उम्मीद ? उन्होंने बाकी पर्चे किये ही नहीं और जाकर ताज-महल की सैर करने लगे। (उन दिनों विश्वविद्यालय की परी-क्षाएं आगरा में हुआ करती थीं)। मगर बाद में उनके प्रोफेसर ने उन्हें बुलाया और बहुत बिगड़े। उनका कहना था कि पहला पर्चा तुमने ठीक-ठीक किया है और बड़ी बेवकूफी की, जो आगे के पर्चे नहीं किये। खैर, इस तरह पिताजी की कालेज की शिक्षा हमेशा के लिए खतम हो गई और बी० ए० पास करना आखिर रही गया।

अब उन्हें काम-धंधा जमाने की फिक्र हुई। सहज ही उनकी निगाह वकालत की ओर गई, क्योंकि उस समय वही एक पेशा ऐसा था जिसमें बुद्धिमान् और होशियार आदमियों के लिए काम की गुंजाइश थी और जिसकी चल जाती उसके पौ-बारह होते थे। अपने भाई की मिसाल उनके सामने थी ही। बस हाईकोर्ट-वकालत के इम्तिहान में बैठे और उनका नम्बर सबसे पहला रहा। उन्हें एक स्वर्ण-पदक भी मिला। कानून का विषय उन्हें दिल से पसन्द था और उसमें सफलता पाने का उन्होंने निश्चय कर लिया था।

उन्होंने कानपुर की जिला अदालतों में वकालत शुरू की, और चूंकि वह सफलता पाने के लिए बहुत लालायित थे, इसलिए जी-तोड़ मेहनत की। फिर क्या था, उनकी वकालत अच्छी चमक उठी। मगर हाँ, हँसी-खेल और मौज-मजा उनका उसी तरह जारी रहा और तब भी उनका कुछ वक्त उसमें चला जाता था। उन्हें कुश्ती और दंगल का खास शौक था। उन दिनों कानपुर कुश्तियों और दंगलों के लिए मशहूर था।

तीन साल तक कानपुर में उम्मीदवार के तौर पर काम करने के बाद पिताजी इलाहाबाद आये और हाईकोर्ट में काम करने लगे। इधर चाचाजी (पण्डित नन्दलाल) एकाएक गुजर गये। इससे पिताजी को जबरदस्त धक्का लगा। वह उनके लिए भाई ही नहीं, पिता के समान थे और उन दोनों में बड़ा प्रेम था। उनके गुजर जाने से परिवार का मुखिया, जिसपर सारी आमदनी का दारोमदार था, उठ गया। परिवार की और पिताजी की यह बहुत बड़ी हानि थी। अब इतने बड़े कुनबे के भरण-पोषण का प्रायः सारा भार उनके तरुण कन्धों पर आ पड़ा।

वह अपने पेशे में जुट पड़े। सफलता पर तो तुले हुए थे ही। इसलिए कई महीनों तक दूसरी सब बातों से जी हटाकर इसीमें लगे रहे। चाचाजी के करीब-करीब सब मुकदमे उन्हें मिल गये और उनमें अच्छी कामयाबी भी मिली। इससे अपने पेशे में भी उन्हें बहुत जल्दी कामयाबी मिलती चली गई। मुकदमे धड़ाधड़ आने लगे और रुपया खूब मिलने लगा। छोटी उम्र में ही उन्होंने वकालती पेशे में नामवरी हासिल कर ली, परन्तु उसकी कीमत उन्हें यह देनी पड़ी कि वकालत-देवी के ही मानो वह अधीन हो गये। उनके पास न सार्वजनिक और न घरू कामों के लिए वक्त रहता था—यहाँतक कि छुट्टियों के दिन भी वह वकालत के काम में ही लगाते थे। कांग्रेस उन दिनों मध्यम श्रेणी के अंग्रेजी पढ़े लोगों का ध्यान अपनी तरफ खींचने लगी थी। वह उसकी

शुरू की कुछ बैठकों में गये भी थे, और, जहांतक विचारों से संबंध है, वह कांग्रेसवादी रहे भी; पर उसके कामों में कोई खास दिलचस्पी नहीं लेते थे। अपने पेशे में ही इतने डूबे रहते थे कि उसके लिए उन्हें वक्त नहीं था।

साधारण अर्थ में वह जरूर ही राष्ट्रवादी थे। मगर वह अंग्रेजों और उनके तौर-तरीकों के कद्रदां भी थे। उनका यह खयाल बन गया था कि हमारे देशवासी ही नीचे गिर गये हैं और वे जिस हालत में हैं, बहुत-कुछ उसीके लायक भी हैं। जो राजनैतिक लोग बातें-ही-बातें करते हैं, करते-धरते कुछ नहीं, उनसे वह मन-ही-मन कुछ नफरत-सी करते थे, हालाँकि वह यह नहीं जानते थे कि इससे ज्यादा और वे कर ही क्या सकते थे ? हाँ, एक और खयाल उनके दिमाग में था, जो कि उनकी कामयाबी के नशे से पैदा हुआ था। वह यह कि जो राजनीति में पड़े हैं, उनमें ज्यादातर—सब नहीं—वे लोग हैं, जो अपने जीवन में नाकामयाब हो चुके हैं।

पिताजी की आमदनी दिन-दिन बढ़ती जाती थी, जिससे हमारे रहन-सहन में बहुत परिवर्तन हो गया था। आमदनी बढ़ी नहीं कि खर्च भी उसके साथ बढ़ गया। रुपया जमा करना पिताजी को ऐसा मालूम पड़ता था मानो जब और जितना चाहें रुपया कमाने की अपनी शक्ति पर तोहमत लगाना है। खिलाड़ी की भावना और हर तरह से बढ़ी-चढ़ी रहन-सहन के शौकीन तो वह थे ही; जो कुछ कमाते थे, सब खर्च कर देते थे। नतीजा यह हुआ कि हमारा रहन-सहन धीरे-धीरे पश्चिमी सांचे में ढलता गया।

मेरे बचपन में[1] हमारे घर का यह हाल था।

---

[1] **१४ नवम्बर १८८९, मार्गशीर्ष बदी सप्तमी, संवत् १९४६ को इलाहाबाद में मेरा जन्म हुआ था।**

: ३ :

मेरा बचपन

मां-बाप धनी-मानी और बेटा इकलौता हो तो अक्सर वह बिगड़ जाता है—फिर, हिन्दुस्तान में तो और भी ज़्यादा। और जब लड़का ऐसा हो जो ग्यारह साल की उम्र तक अपने मां-बाप का इकलौता रहा हो तो फिर दुलार की ख़राबी से उसके बचने की आशा और भी कम रह जाती है। मेरी दो बहनें उम्र में मुझसे बहुत ही छोटी हैं और हम हरएक के बीच काफ़ी साल का फ़र्क है। इस तरह अपने बचपन में मैं बहुत कुछ अकेला ही रहा।

मगर हमारे घर में किसी तरह का अकेलापन नहीं था। हमारा परिवार बहुत बड़ा था, जिसमें चचेरे भाई वग़ैरा और दूसरे पास के रिश्तेदार बहुत थे, जैसाकि हिन्दू परिवारों में आम तौर पर हुआ करता है। मगर मुश्किल यह थी कि मेरे तमाम चचेरे भाई उम्र में मुझसे बहुत बड़े थे और वे सब हाईस्कूल या कालेज में पढ़ते थे। उनकी नज़र में मैं उनके कामों या खेलों में शरीक होने लायक नहीं था। इस तरह इतने बड़े परिवार में मैं और भी अकेला लगता था और ज़्यादातर अपने ही खयालों और खेलों में मुझे अकेले अपना वक़्त काटना पड़ता था।

मैं अपने चचेरे भाइयों की बातें सुनता, मगर हमेशा सबकी सब मेरी समझ में आजाती हों सो बात नहीं। अक्सर ये बातें अंग्रेज और यूरेशियन लोगों के ऐंठू स्वभाव और हिन्दुस्तानियों के साथ अपमानजनक व्यवहारों के बारे में हुआ करती थीं और इस बात पर भी चर्चा हुआ करती थी कि प्रत्येक हिन्दुस्तानी का फर्ज होना चाहिए कि वह इस हालत का मुक़ाबला करे और इसे हरगिज बर्दाश्त न करे। हाकिमों और लोगों में टक्करें होती रहती थीं और उनके समाचार आये दिन सुनाई पड़ते थे। उसपर भी ख़ूब चर्चा होती थी। यह एक आम बात थी कि जब कोई अंग्रेज़ किसी हिन्दुस्तानी को कत्ल कर देता तो अंग्रेजों के

जूरी उसको बरी कर देते। यह बात सबको खटकती थी। रेल-गाड़ियों में यूरोपियनों के लिए डिब्बे रिज़र्व रहते थे और गाड़ी में चाहे कितनी भी भीड़ हो––और जबरदस्त भीड़ रहा ही करती थी––कोई हिन्दुस्तानी उसमें सफ़र नहीं कर सकता था, भले ही वे ख़ाली पड़े रहें। जो डिब्बे रिजर्व नहीं होते थे उनपर भी अंग्रेज लोग अपना कब्जा जमा लेते थे और किसी हिन्दुस्तानी को घुसने नहीं देते थे। सार्वजनिक बगीचों और दूसरी जगहों में भी बेंचें और कुर्सियां रिजर्व रखी जाती थीं। विदेशी हाकिमों के इस बर्ताव को देखकर मुझे बड़ा रंज होता और जब कभी कोई हिन्दुस्तानी उलटकर वार करता तो मुझे बड़ी खुशी होती। कभी-कभी मेरे चचेरे भाइयों में से कोई या उनके कोई दोस्त खुद भी ऐसे झगड़ों में उलझ जाते, तब हम लोगों में बड़ा जोश फैल जाता। हमारे परिवार में मेरे चचेरे भाई बड़े दबंग थे। उन्हें अक्सर अंग्रेजों से, ज़्यादातर यूरेशियनों[1] से झगड़ा मोल लेने का बड़ा शौक था। यूरेशियन तो अपनेको शासकों की जाति का बताने के लिए अंग्रेज अफसरों और व्यापारियों से भी ज्यादा बुरी तरह पेश आते थे। ऐसे झगड़े खासकर रेल के सफर में हुआ करते थे।

शाम को रोज़ कई मित्र पिताजी से मिलने आया करते थे। पिताजी आराम से पड़ जाते और उनके बीच दिन भर की थकान मिटाते। उनकी ज़बरदस्त हँसी से सारा घर भर जाता था। इलाहाबाद में उनकी हँसी एक मशहूर बात हो गई थी। कभी-कभी मैं परदे की ओट से उनकी और उनके दोस्तों की ओर झाँकता और यह जानने की कोशिश करता कि ये बड़े लोग इकट्ठे होकर आपस में क्या-क्या बातें किया करते हैं! मगर जब कभी ऐसा करते हुए मैं पकड़ा जाता, तो खींचकर बाहर लाया जाता और सहमा हुआ कुछ देर तक पिताजी की गोद में बैठाया जाता।

मैं पिताजी की बहुत इज़्ज़त करता था। मैं उन्हें बल, साहस

[1] यूरोपियन पिता तथा एशियाई माता से उत्पन्न सन्तान।

और होशियारी की मूर्ति समझता था और दूसरों के मुकाबले इन बातों में बहुत ही ऊँचा और बढ़ा-चढ़ा पाता था। मैं अपने दिल में मंसूबे बाँधा करता था कि बड़ा होने पर पिताजी की तरह होऊँगा। पर जहां मैं उनकी इज्जत करता था और उन्हें बहुत चाहता था वहाँ मैं उनसे डरता भी बहुत था। नौकर-चाकरों पर और दूसरों पर बिगड़ते हुए मैंने उन्हें देखा था। उस समय वह बड़े भयंकर मालूम होते थे और मैं मारे डर के कांपने लगता था। नौकरों के साथ उनका जो यह बर्ताव होता था, उससे मेरे मन में उनपर कभी-कभी गुस्सा आ जाया करता था। उनका स्वभाव दरअसल भयंकर था और उनकी उम्र के ढलते दिनों में भी उनका-सा गुस्सा मुझे किसी दूसरे में देखने को नहीं मिला। लेकिन खुशकिस्मती से उनमें हँसी-मज़ाक का माद्दा भी बड़े जोर का था और वह इरादे के बड़े पक्के थे। इससे आम-तौर पर अपने-आपपर ज़ब्त रख सकते थे। ज्यों-ज्यों उनकी उम्र बढ़ती गई उनकी संयम-शक्ति बढ़ती गई और फिर शायद ही कभी वह ऐसा भीषण स्वरूप धारण करते थे।

उनकी तेज-मिजाजी की एक घटना मुझे याद है, क्योंकि बचपन ही में मैं उसका शिकार हो गया था। कोई ५-६ वर्ष की मेरी उम्र रही होगी। एक रोज़ मैंने पिताजी की मेज पर दो फाउण्टेन-पेन पड़े देखे। मेरा जी ललचाया। मैंने दिल में कहा—पिताजी एक साथ दो पेनों का क्या करेंगे? एक मैंने अपनी जेब में डाल लिया। बाद में बड़ी जोरों की तलाश हुई कि पेन कहां चला गया? तब तो मैं घबराया। मगर मैंने बताया नहीं। पेन मिल गया और मैं गुनाहगार करार दिया गया। पिताजी बहुत नाराज हुए और मेरी खूब मरम्मत की। मैं दर्द व अपमान से अपना-सा मुंह लिये मां की गोद में दौड़ा गया और कई दिन तक मेरे दर्द करते हुए छोटे-से बदन पर क्रीम और मरहम लगाये गए।

लेकिन मुझे याद नहीं पड़ता कि इस सजा के कारण पिताजी

को मैंने कोसा हो। मैं समझता हूं, मेरे दिल ने यही कहा होगा कि सजा तो तुझे वाजिब ही मिली है; मगर थी जरूरत से ज़्यादा ! लेकिन पिताजी के लिए मेरे दिल में वैसी ही इज़्जत और मुहब्बत बनी रही ––हां, अब एक डर उसमें शामिल हो गया था। मगर मां के बारे में ऐसा न था। उससे मैं बिलकुल नहीं डरता था, क्योंकि मैं जानता था कि वह मेरे सब किये-धरे को माफ़ कर देगी और उसके इस ज़्यादा और बेहद प्रेम के कारण मैं उसपर थोड़ा-बहुत हावी होने की भी कोशिश करता था। पिताजी की बनिस्बत मैं मां को ज़्यादा पहचान सका था और वह मुझे पिताजी से अपने ज़्यादा नजदीक मालूम होती थी। मैं जितने भरोसे के साथ माताजी से अपनी बात कह सकता था, उतने भरोसे के साथ पिताजी से कहने का स्वप्न में भी ख़याल नहीं कर सकता था। वह सुडौल, क़द में छोटी और नाटी थी और मैं जल्द ही क़रीब-क़रीब उनके बराबर ऊंचा हो गया था और अपनेको उनके बराबर समझने लगा था। वह बहुत सुन्दर थीं। उनका सुन्दर चेहरा और छोटे-छोटे ख़ूबसूरत हाथ-पांव मुझे बहुत भाते थे।

एक और शख़्स थे, जिनपर लड़कपन में मैं भरोसा करता था। वह थे पिताजी के मुंशी मुबारक अली। वह बदायूं के रहनेवाले थे और उनके घर के लोग ख़ुशहाल थे। मगर १८५७ के ग़दर ने उनके कुनबे को बरबाद कर दिया और अंग्रेजी फौज ने उनको एक हद तक जड़मूल से उखाड़ फेंका था। इस मुसीबत ने उन्हें हरएक के प्रति और ख़ासकर बच्चों के प्रति बहुत नम्र और सहनशील बना दिया था। मेरे लिए तो वह, जब कभी मैं किसी बात से दुःखी होता या तकलीफ़ महसूस करता तो सान्त्वना के निश्चित आधार थे। उनके बढ़िया सफेद दाढ़ी थी और मेरी नौजवान आँखों को वह बहुत पुराने और प्राचीन जानकारी के ख़जाने मालूम होते थे। मैं उनके पास लेटे-लेटे घंटों अलिफ-लैला की और दूसरे किस्से-कहानियाँ या १८५७ और १८५८ के ग़दर

की बातें सुना करता। बहुत दिन बाद, मेरे बड़े होने पर, मुंशीजी मर गए। उनकी प्यारी सुखद स्मृति अब भी मेरे मन में बसी हुई है।

हिन्दू पुराणों और रामायण-महाभारत की कथाएँ भी मैं सुना करता था। मेरी माँ और चाचियाँ सुनाया करती थीं। मेरी एक चाची, पण्डित नन्दलालजी की विधवा पत्नी, पुराने हिन्दू-ग्रन्थों की बहुत जानकारी रखती थीं। उनके पास इन कहानियों का तो मानो ख़जाना ही भरा था। इस कारण हिन्दू पौराणिक कथाओं और गाथाओं की मुझे काफ़ी जानकारी हो गई थी।

धर्म के मामले में मेरे ख़यालात बहुत धुंधले थे। मुझे वह स्त्रियों से सम्बन्ध रखनेवाला विषय मालूम होता था। पिताजी और बड़े चचेरे भाई धर्म की बात को हँसी में उड़ा दिया करते थे और इसको कोई महत्त्व नहीं देते थे। हाँ, हमारे घर की औरतें अलबत्ता पूजा-पाठ और व्रत-त्यौहार किया करती थीं। हालाँकि मैं इस मामले में घर के बड़े-बूढ़े आदमियों की देखा-देखी उनकी अवहेलना किया करता था, फिर भी कहना होगा कि मुझे उनमें एक लुत्फ़ आता था। कभी-कभी मैं अपनी माँ या चाची के साथ गंगा नहाने जाया करता और कभी इलाहाबाद या काशी या दूसरी जगह के मन्दिरों में भी या किसी नामी और बड़े साधु-संन्यासी के दर्शन क लिए भी जाया करता। मगर इन सबका बहुत कम असर मेरे दिल पर हुआ।

फिर त्यौहार के दिन आते थे––होली, जबकि सारे शहर में रंगरलियों की धूम मच जाती थी और हम लोग एक-दूसरे पर रंग की पिचकारियाँ चलाते थे, दिवाली रोशनी का त्योहार होता, जबकि सब घरों पर धीमी रोशनीवाले मिट्टी के हजारों दिये जलाये जाते, जन्माष्टमी, जिसमें जेल में जन्मे श्रीकृष्ण की आधीरात को वर्षगाँठ बनाई जाती (लेकिन उस समय तक जागते रहना हमारे लिए बड़ा मुश्किल होता था), दशहरा और राम-लीला, जिसमें स्वांग और जलसों के द्वारा रामचन्द्र और लंका-विजय की पुरानी कहानी की नक़ल की जाती थी और

जिन्हें देखने के लिए लोगों की बड़ी भारी भीड़ इकट्ठी होती थी। सब बच्चे मुहर्रम का जलूस भी देखने जाते थे, जिसमें रेशमी अलम होते थे और सुदूर अरब में हसन और हुसैन के साथ हुई घटनाओं की यादगार में शोकपूर्ण मर्सिये गाये जाते थे। दोनों ईद पर मुंशीजी बढ़िया कपड़े पहनकर बड़ी मस्जिद में नमाज़ के लिए जाते और मैं उनके घर जाकर मीठी सेवैयाँ और दूसरी बढ़िया चीज़ें खाया करता। इनके सिवा रक्षाबंधन, भैया-दूज वग़ैरा छोटे त्यौहार भी हम लोग मनाते थे।

कश्मीरियों के कुछ ख़ास त्यौहार भी होते हैं, जिन्हें उत्तर में बहुतेरे दूसरे हिन्दू नहीं मानते। इनमें सबसे बड़ा नौ रोज़ याने वर्ष-प्रतिपदा का त्यौहार है। इस दिन हम लोग नये कपड़े पहनकर बन-ठनकर निकलते और घर के बड़े लड़के-लड़कियों को हाथ-ख़र्च के तौर पर कुछ पैसे मिला करते थे।

मगर इन तमाम उत्सवों में मुझे एक सालाना जलसे में ज़्यादा दिलचस्पी रहती, जिसका ख़ास मुझीसे ताल्लुक़ था—यानी मेरी वर्ष-गांठ का उत्सव। इस दिन मैं बड़े उत्साह और रंग में रहता था। सुबह ही मैं एक बड़ी तराजू में गेहूँ और दूसरी चीज़ों के थैलों से तौला जाता और फिर वे चीज़ें गरीबों को बाँट दी जातीं और बाद को नये-नये कपड़ों से सजा-धजाकर मुझे भेंट और तोहफ़े नजर किये जाते। फिर शाम को दावत दी जाती। उस दिन का मानो मैं राजा ही हो जाता, मगर मुझे इस बात का बड़ा दुःख होता था कि वर्ष-गाँठ साल भर में एक बार ही क्यों आती है? और मैंने इस बात का आन्दोलन-सा खड़ा करने की कोशिश की कि वर्ष-गाँठ के मौक़े बरस में एक बार ही क्यों, और अधिक क्यों न आया करें? उस वक़्त मुझे क्या पता था कि एक समय ऐसा भी आयेगा जब ये वर्षगाँठें हमको अपने बुढ़ापे के आने की दुःखदायी याद दिलाया करेंगी।

कभी-कभी हम सब घर के लोग अपने किसी भाई या किसी

रिश्तेदार या किसी दोस्त की शादी की बरात में भी जाया करते। सफ़र में बड़ी धूम रहती। शादी के उत्सवों में हम बच्चों की तमाम पाबन्दियाँ ढीली हो जाती थीं और हम आज़ादी से आ-जा सकते थे। शादीख़ाने में कई कुटुम्बों के लोग आकर रहते थे और उनमें बहुतेरे लड़के और लड़कियाँ भी होती थीं। ऐसे मौक़ों पर मुझे अकेलेपन की शिकायत नहीं रहती थी और जी भरकर खेलने-कूदने और शरारत करने का मौका मिल जाता था। हाँ, कभी-कभी बड़े-बूढ़ों की डाँट-फटकार भी ज़रूर पड़ जाती थी।

उन दिनों की एक छोटी-सी घटना मुझे अभी याद है। ६-७ वर्ष का रहा होऊँगा। मैं रोज घुड़-सवारी के लिए जाया करता था। मेरे साथ घुड़सेना का एक सवार रहता था। एक रोज़ शाम को मैं घोड़े से गिर पड़ा और मेरा टट्टू—जो अरबी नस्ल का एक अच्छा जानवर था—ख़ाली घर लौट आया। पिताजी टेनिस खेल रहे थे। काफ़ी घबराहट और हलचल मच गई और वहाँ जितने लोग थे सब-के-सब जो भी सवारी मिली, उसे लेकर मेरी तलाश में दौड़ पड़े। पिताजी उन सबके अगुआ बने हुए थे। वह रास्ते में मुझे मिले और मेरा इस तरह स्वागत किया मानो मैंने कोई बड़ी बहादुरी का काम किया हो।

: ४ :

थियोसॉफ़ी

जब मैं दस साल का था, हम लोग एक नये और काफ़ी बड़े मकान में आगए, जिसका नाम पिताज़ी ने 'आनन्द-भवन' रखा था। इस मकान में एक बड़ा बाग़ और एक तैरने का बड़ा-सा हौज था और वहाँ ज्यों-ज्यों नई-नई चीज़ें दिखाई पड़तीं, त्यों-त्यों मेरी तबीयत लहरा उठती। इमारत में नए-नए हिस्से जोड़े जा रहे थे और बहुत-सा खुदाई और चिनाई का काम हो रहा था। वहाँ मज़दूरों

को काम करते हुए देखना मुझे अच्छा लगता था।

मैं कह चुका हूं कि मकान में तैरने के लिए एक बड़ा हौज़ था। मैं तैरना जान गया और पानी के भीतर मुझे ज़रा भी डर नहीं मालूम होता था। गर्मी के दिनों में कई बार मौक़ा-बे-मौक़ा मैं उसमें नहाया करता। शाम को पिताजी के कई दोस्त तैरने आया करते थे। वह एक नई चीज़ थी। वहां तथा मकान में बिजली की जो बत्तियां लगाई गईं थीं वे इलाहाबाद में उन दिनों नई बातें थीं। इन नहानेवालों के झुण्ड में मुझे बड़ा आनन्द आता था और उनमें जो तैरना नहीं जानते थे उनमें से किसी को आगे धक्का देकर या पीछे खींचकर डराने में बड़ा ही मज़ा आता था।

उन दिनों बोअर-युद्ध हो रहा था। उसमें मेरी दिलचस्पी होने लगी। बोअरों की तरफ़ मेरी हमदर्दी थी। इस लड़ाई की खबरों को पढ़ने के लिए मैं अखबार लेने लगा।

इसी समय एक घरेलू बात में मेरा चित्त रम गया। वह थी मेरी एक छोटी बहन का जन्म। मेरे दिल में एक अर्से से एक रंज छिपा रहता था और वह यह कि मेरे कोई भाई या बहन नहीं है, जबकि और कइयों के हैं। जब मुझे यह मालूम हुआ कि मेरे भाई या बहन होनेवाली है तो मेरी खुशी का पार न रहा। पिताजी उन दिनों यूरोप में थे। मुझे याद है कि उस वक्त बरामदे में बैठा-बैठा कितनी उत्सुकता से इस बात की राह देख रहा था। इतने में एक डाक्टर ने आकर मुझे बहन होने की खबर दी और कहा––शायद मज़ाक में––कि तुमको खुश होना चाहिए कि भाई नहीं हुआ, जो तुम्हारी जायदाद में हिस्सा बंटा लेता। यह बात मुझे बहुत चुभी और मुझे गुस्सा भी आगया––इस ख़याल पर कि कोई मुझे ऐसा कमीना ख़याल रखनेवाला समझे।

पिताजी की यूरोप-यात्रा ने काश्मीरी ब्राह्मणों में अन्दर-ही-अन्दर एक तूफ़ान खड़ा कर दिया। यूरोप से लौटने पर उन्होंने किसी किस्म का प्रायश्चित्त करने से इन्कार कर दिया। इससे बड़ा

तहलका मच गया, ख़ासकर पिताजी की तेज़ी और अक्खड़पन के कारण। आख़िरकार कितने ही कश्मीरी पिताजी के साथ हो गए और एक तीसरा दल बन गया। थोड़े ही समय के अन्दर जैसे-जैसे ख़यालात बदलते गए और पुरानी पाबन्दियां हटती गईं, कश्मीरी लड़के विदेश जाने लगे। खान-पान का परहेज क़रीब-क़रीब सब उठ गया। स्त्रियों ने परदा करना छोड़ दिया। दूसरी बिरादरीवालों के साथ शादी-ब्याह होने लगे। मेरी दोनों बहनों[1] ने ग़ैर-कश्मीरियों के साथ शादी की और हमारे कुटुम्ब का एक युवक हाल ही में एक हंगेरियन लड़की ब्याह लाया है।

जब मैं कुल ग्यारह वर्ष का था तो मेरे लिए एक नये शिक्षक आए, जिनका नाम था एफ० टी० ब्रुक्स। वह मेरे साथ ही रहते थे। उनके पिता आयरिश थे और मां फ्रांसीसी या बेलजियन थीं। वह एक पक्के थियोसॉफिस्ट थे और मिसेज बेसेण्ट की सिफ़ारिश से आये थे। कोई तीन साल तक वह मेरे साथ रहे। कई बातों में मुझपर उनका गहरा असर पड़ा।

एफ० टी० ब्रुक्स की सोहबत से मुझे किताबें पढ़ने का चाव लगा, और मैंने कई अंग्रेजी किताबें पढ़ डालीं——अलबत्ता बिना किसी उद्देश्य के। बच्चों और लड़कों-सम्बन्धी अच्छा साहित्य मैंने देख लिया था।

ब्रुक्स ने विज्ञान के रहस्यों से भी मेरा परिचय कराया। हमने एक विज्ञान की प्रयोगशाला खड़ी कर ली थी और मैं घंटों प्रारम्भिक वस्तु-विज्ञान और रसायन-शास्त्र के प्रयोग किया करता था, जो बड़े दिलचस्प मालूम होते थे।

पुस्तकें पढ़ने के अलावा ब्रुक्स साहब ने एक और बात का असर मुझपर डाला, जो कुछ समय तक बड़े जोर के साथ रहा। वह थी थियोसॉफी। हर हफ्ते उनके कमरे में थियोसॉफिस्टों की

---

[1] पं० जवाहरलाल नेहरू की पुत्री इन्दिरा ने भी एक ग़ैर-कश्मीरी से शादी की है। ——अनु०

सभा हुआ करती । मैं भी उसमें जाया करता और धीरे-धीरे थियोसॉफी की भाषा और विचार-शैली मुझे हृदयंगम होने लगी ।

यहीं से जिंदगी में सबसे पहले मैं अपनी तरफ़ से धर्म और परलोक के बारे में गम्भीरता से सोचने लगा था । हिन्दूधर्म, ख़ासकर मेरी नजर में ऊंचा उठ गया था, उसके क्रिया-काण्ड और व्रत-उत्सव नहीं—बल्कि उसके महान ग्रन्थ, उपनिषद और भगवद्गीता । मैं उन्हें समझ तो नहीं पाता था; परन्तु वे मुझे बहुत विलक्षण जरूर मालूम होते थे ।

उन दिनों मिसेज बेसेण्ट इलाहाबाद आई हुई थीं और उन्होंने थियोसॉफी-संबंधी कई विषयों पर भाषण दिये थे। उनके सुन्दर भाषणों से मेरा दिल हिल उठता था और मैं चकाचौंध होकर घर आता और अपने आपको भूल जाता था, जैसे कि किसी सपने में हूं । मैं उस समय तेरह साल का था तो भी मैंने थियोसॉफिकल सोसायटी का मेम्बर बनना तय कर लिया । जब मैं पिताजी से इजाजत लेने गया तो उन्होंने हँसकर उड़ा दिया। वह इस मामले को इधर या उधर कोई महत्त्व नहीं देना चाहते थे । उनकी इस उदासीनता पर मुझे बड़ा दुःख हुआ ।

इस तरह मैं तेरह वर्ष की उम्र में थियोसॉफिकल सोसायटी का मेम्बर बना और खुद मिसेज बेसेण्ट ने मुझे प्रारम्भिक दीक्षा दी ।

ब्रुक्स साहब के मुझसे अलहदा होते ही थियोसॉफी से भी मेरा सम्पर्क छूट गया, और बहुत थोड़े ही अर्से में थियोसॉफी मेरी जिन्दगी से बिलकुल हट गई । इसकी कुछ वजह तो यह थी कि मैं इंग्लैंड पढ़ने चला गया था । मगर इसमें कोई शक नहीं कि ब्रुक्स साहब की संगति का मुझपर असर हुआ है और मैं उनका और थियोसॉफी का बहुत ॠणी हूं ।

जिस दूसरी मार्के की घटना ने मेरे जीवन पर उस समय असर डाला, वह थी रूस-जापान की लड़ाई । जापानियों की विजय से

मेरा दिल उत्साह से उछलने लगता और रोज मैं अखबारों में ताजी खबरें पढ़ने को उतावला रहता। मैंने जापान-संबंधी कई किताबें मंगाईं और उनमें से थोड़ी-बहुत पढ़ीं भी। जापान के इतिहास में तो मानो मैं अपनेको गवां बैठा था। पुराने जापान के सरदारों की कहानियां चाव से पढ़ता और लाफ्कॅडियो हर्न[1] का गद्य मुझे रुचिकर लगता था।

मेरा दिल राष्ट्रीय भावों से भरा रहता था। मैं यूरोप के पंजे से एशिया और हिन्दुस्तान को आजाद करने के भावों में डूबा रहता। मैं बहादुरी के बड़े-बड़े मनसूबे बांधा करता था कि कैसे हाथ में तलवार लेकर मैं हिन्दुस्तान को आजाद करने के लिए लड़ूंगा।

मैं चौदह साल का था। हमारे घर में रद्दोबदल हो रहे थे। मेरे बड़े चचेरे भाई अपने-अपने काम-धन्धों में लग गए थे और अलहदा रहने लगे थे। मेरे मन में नये-नये विचार और गोल-मोल कल्पनाएं मंडराया करती थीं और स्त्री-जाति में मेरी कुछ दिलचस्पी बढ़ने लगी थी; लेकिन अब भी मैं लड़कियों की बनिस्बत लड़कों के साथ मिलना ज़्यादा पसन्द करता था और लड़कियों के साथ मिलना-जुलना अपनी शान के खिलाफ़ समझता था।

मई १९०५ में, जब मैं पन्द्रह साल का था, हम इंग्लैंड रवाना हुए। पिताजी, मां, मेरी छोटी बहन और मैं, चारों साथ गये थे।

: ५ :

हॅरो और केम्ब्रिज

मई के आख़िर में हम लोग लन्दन पहुंचे। हॅरो में दाख़िल होने की दृष्टि से मेरी उम्र कुछ बड़ी थी, क्योंकि मैं उन दिनों पंद्रह बरस का था। इसलिए यह मेरी ख़ुशक़िस्मती ही थी कि मुझे वहां

[1] जापानी लेखक, जिसने जापान-जीवन के अनुपम चित्र चित्रित किये हैं। अनु०

जगह मिल गई। मेरे परिवार के लोग पहले तो यूरोप के दूसरे देशों की यात्रा को चले गए और फिर वहां से कुछ महीनों बाद हिन्दुस्तान लौट गए।

इससे पहले मैं अजनबी आदमियों में बिलकुल अकेला कभी नहीं रहा था। इसलिए मुझे बड़ा ही सूना-सूना-सा मालूम पड़ता और घर की याद सताती थी; लेकिन यह हालत ज़्यादा दिनों तक नहीं रही। कुछ हद तक मैं स्कूल की ज़िन्दगी में हिल-मिल गया और पढ़ाई तथा खेल-कूद में लगा रहने लगा; लेकिन मेरा पूरा मेल कभी नहीं बैठा। हमेशा मेरे दिल में यह ख़याल बना रहता कि मैं इन लोगों में से नहीं हूं और दूसरे लोग भी मेरी बाबत यही ख़याल करते होंगे। कुछ हद तक मैं सबसे अलग-अकेला ही रहा। लेकिन कुल मिलाकर मैं खेलों में पूरा-पूरा हिस्सा लेता था। खेलों में मैं चमका-चमकाया तो कभी नहीं, लेकिन मेरा विश्वास है कि लोग यह मानते थे कि मैं खेल से पीछे हटनेवाला भी न था।

शुरू में मुझे नीचे के दर्जे में भर्ती किया गया, क्योंकि मुझे लैटिन कम आती थी; लेकिन फ़ौरन ही मुझे तरक्की मिल गई। सम्भवतः कई बातों में और ख़ासकर आम बातों की जानकारी में, मैं अपनी उम्र के लड़कों से आगे था। इसमें शक नहीं कि मेरी दिलचस्पी के विषय बहुतेरे थे और मैं अपने ज़्यादातर सहपाठियों से ज़्यादा किताबें और अखबार पढ़ता था। मुझे याद है कि मैंने पिताजी को लिखा था कि अंग्रेज लड़के बड़े मट्ठर होते हैं, क्योंकि वे खेलों के सिवा और किसी विषय पर बात ही नहीं कर सकते। लेकिन मुझे इसमें अपवाद भी मिले थे, ख़ासतौर पर ऊपर के दर्जों में।

स्कूल में अच्छा काम करने के लिए मुझे जी० एम० ट्रैवेलियन की गैरीबाल्डी-संबंधी एक पुस्तक इनाम में मिली थी। इस पुस्तक में मेरा मन ऐसा लगा कि मैंने फ़ौरन ही इस माला की बाकी दो किताबें भी ख़रीद लीं और उनमें गैरीबाल्डी की पूरी कहानी बड़े

ध्यान के साथ पढ़ी। हिन्दुस्तान में भी इसी तरह की घटनाओं की कल्पना मेरे मन में उठने लगी। मैं आज़ादी की बहादुराना लड़ाई के सपने देखने लगा और मेरे मन में इटली और हिन्दुस्तान अजीब तरह से मिल-जुल गए। इन ख़यालों के लिए हॅरो कुछ छोटी और तंग जगह मालूम होने लगी और मैं विश्वविद्यालय के ज़्यादा बड़े क्षेत्र में जाने की इच्छा करने लगा। इसीलिए मैंने पिताजी को इस बात के लिए राज़ी कर लिया और मैं हॅरो में सिर्फ दो बरस रहकर वहां से चला गया। यह दो बरस का समय वहां के निश्चित साधारण समय से बहुत कम था।

१९०७के अक्तूबर के शुरू में मैं केम्ब्रिज के ट्रिनिटी कालिज में पहुंच गया। उस वक्त मेरी उम्र सत्रह या अठारह बरस के लगभग थी। मुझे इस बात से बेहद खुशी हुई कि अब मैं अण्डर ग्रेजुएट हूं, स्कूल के मुकाबले यहां मुझे जो चाहूं सो करने की काफ़ी आज़ादी मिलेगी। मैं लड़कपन के बन्धन से मुक्त हो गया था और यह महसूस करने लगा था कि आख़िर मैं भी अब बड़ा होने का दावा कर सकता हूं। मैं ऐंठ के साथ केम्ब्रिज के विशाल भवनों और उसकी तंग गलियों में चक्कर काटा करता और यदि कोई जान-पहचान वाला मिल जाता तो बहुत ख़ुश होता।

कैम्ब्रिज में मैं तीन साल रहा। ये तीनों साल शान्तिपूर्वक बीते—धीरे-धीरे, धीमी-धीमी बहनेवाली कैम नदी की तरह। ये साल बड़े आनन्द में बीते। इनमें बहुत-से मित्र मिले, कुछ अध्ययन किया, कुछ खेले और मानसिक क्षितिज धीरे-धीरे बढ़ता रहा। मैंने प्राकृतिक विज्ञान का कोर्स लिया था। मेरे विषय थे रसायन-शास्त्र, भूगर्भ-शास्त्र और वनस्पति-शास्त्र। परन्तु मेरी दिलचस्पी इन्हीं विषयों तक सीमित न थी। केम्ब्रिज में या छुट्टियों में लन्दन में अथवा दूसरी जगहों में मुझे जो लोग मिले, उनमें से बहुत-से विद्वत्तापूर्ण ग्रन्थों के बारे में, साहित्य और इतिहास के बारे में, राजनीति और अर्थशास्त्र के बारे में बातचीत करते

थे। पहले-पहल तो ये बढ़ी-चढ़ी बातें मुझे बड़ी मुश्किल मालूम हुई; परन्तु जब मैंने कुछ किताबें पढ़ीं, तब सब बातें समझने लगा, जिससे मैं कम-से-कम अन्त तक बात करते हुए भी इन साधारण विषयों में से किसीके बारे में अपना घोर अज्ञान ज़ाहिर नहीं होने देता था। हम लोग अपनेको बड़ा अक्लमन्द समझते थे।

१९०७ से कई साल तक हिन्दुस्तान बेचैनी और कष्टों से मानो उबलता रहा। १८५७ के ग़दर के बाद पहली मर्तबा हिन्दुस्तान फिर लड़ने पर आमादा हुआ था। वह विदेशी शासन के सामने चुपचाप सिर झुकाने को तैयार न था। तिलक की हलचलों और उनके कारावास तथा अरविन्द घोष की खबरों से, और बंगाल की जनता जिस ढंग से स्वदेशी और बहिष्कार की प्रतिज्ञाएं ले रही थी, उनसे इंग्लैंड में रहनेवाले हिन्दुस्तानियों में खलबली मच जाती थी। हम सब लोग बिना किसी अपवाद के तिलक-दल या गरम-दल के थे। हिन्दुस्तान में यह नया दल उन दिनों इन्हीं नामों से पुकारा जाता था।

कैम्ब्रिज में जो हिन्दुस्तानी रहते थे उनकी एक 'मजलिस' थी। इसमें हम लोग अक्सर राजनैतिक मामलों पर बहस करते थे; लेकिन ये बहसें कुछ हद तक बेमानी थीं। पार्लमेण्ट की अथवा यूनिवर्सिटी-यूनियन की बहस की शैली तथा अदाओं की नकल करने की जितनी कोशिश की जाती थी उतनी विषय को समझने की नहीं। मैं अक्सर मजलिस में जाया करता था। लेकिन तीन साल में मैं वहां शायद ही बोला होऊं। मैं अपनी झिझक और हिचकिचाहट दूर नहीं कर सका।

जब मैं कैम्ब्रिज में था तभी यह सवाल उठ खड़ा हुआ था कि मुझे कौन-सा 'कैरियर' चुनना चाहिए? कुछ समय के लिए इंडियन सिविल सर्विस की बात भी सोची गई। उन दिनों उसमें एक ख़ास आकर्षण था। परन्तु चूंकि न तो पिताजी ही उसके लिए

बहुत उत्सुक थे न मैं ही, अतः यह विचार छोड़ दिया गया। शायद इसका मुख्य कारण यह था कि उसके लिए अभी मेरी उम्र कम थी और अगर मैं उस इम्तिहान में बैठना भी चाहता तो मुझे अपनी डिग्री लेने के बाद भी तीन-चार साल और वहाँ ठहरना पड़ता। मैंने कैम्ब्रिज में जब अपनी डिग्री ली तब मैं बीस वर्ष का था और उन दिनों इंडियन सिविल सर्विस के लिए उम्र की मियाद बाईस से लेकर चौबीस वर्ष तक थी। इम्तिहान में कामयाब होने पर इंग्लैंड में एक साल और बिताना पड़ता है। मेरे परिवार के लोग मेरे इंग्लैण्ड में इतने दिनों तक रहने के कारण ऊब गए थे और चाहते थे कि मैं जल्दी से घर लौट आऊं। पिताजी पर एक बात का और भी असर पड़ा; और वह यह थी कि अगर मैं आई० सी० एस० हो जाता तो मुझे घर से दूर-दूर जगहों में रहना पड़ता। पिताजी और माँ दोनों ही यह चाहते थे कि इतने दिनों तक अलग रहने के बाद मैं उनके पास ही रहूँ। बस, पासा पुश्तैनी पेशे के यानी वकालत के पक्ष में पड़ा और मैं इनर टैम्पिल में भरती हो गया।

१९१० में अपनी डिग्री लेने के बाद मैं कैम्ब्रिज से चला आया। ट्राइपस के इम्तिहान में मुझे मामूली सफलता मिली—दूसरे दर्जे में सम्मान के साथ पास हुआ। अगले दो साल मैं लन्दन के इधर-उधर घूमता रहा। मेरी कानून की पढ़ाई में बहुत समय नहीं लगता था और बैरिस्टरी के एक के बाद दूसरे इम्तिहान में मैं पास होता रहा। हां, उसमें मुझे न तो सम्मान मिला, न अपमान। बाकी वक्त मैंने योंही बिताया।

छुट्टियों में मैंने कभी-कभी यूरोप के भिन्न-भिन्न देशों की भी सैर की। १९०९ की गरमी में जब काउन्ट जैपलिन अपने नये हवाई जहाज में कौन्स्टैन्स झील पर फ्रीडरिश शैफिन से उड़कर र्बलिन आये, तब मैं और पिताजी दोनों वहीं थे।

कोई दो महीने बाद हमने पैरिस में वह हवाई जहाज देखा

जो उस शहर पर पहले-पहल उड़ा और जिसने एफिल टावर के पहले-पहल चक्कर लगाये।

१९१० में कैम्ब्रिज से अपनी डिग्री लेने के बाद फौरन ही मैं सैर-सपाटे के लिए नार्वे गया था। वहां एक दुर्घटना से बाल-बाल बच गया। हम लोग पहाड़ी प्रदेश में घूम रहे थे। बुरी तरह थके हुए, एक छोटे-से होटल में अपने मुकाम पर पहुंचे और गरमी के कारण नहाने की इच्छा प्रकट की। वहां ऐसी बात पहले किसीने न सुनी थी। होटल में नहाने के लिए कोई इन्तजाम न था लेकिन हमको बता दिया गया कि हम लोग पास की एक नदी में नहा सकते हैं। अतः छोटे-छोटे तौलियों से, जो होटलवालों ने हमें उदारतापूर्वक दिये थे, सुसज्जित होकर हममें से दो—एक मैं और एक नौजवान अंग्रेज—पड़ोस के हिम-सरोवर से निकलती और दहाड़ती हुई तूफानी धारा में जा पहुंचे। मैं पानी में घुस गया। वह गहरा तो न था लेकिन ठंडा इतना था कि हाथ-पांव जमे जाते थे और उसकी जमीन बड़ी रपटीली थी। मैं रपटकर गिर गया। बरफ की तरह ठंडे पानी से मेरे हाथ-पैर निर्जीव हो गए। मेरा शरीर और सारे अवयव सुन्न पड़ गए और पैर जम न सके। तूफानी धारा मुझे तेजी से बहाये ले जा रही थी, परन्तु मेरे अंग्रेज साथी ने किसी तरह बाहर निकलकर मेरे साथ भागना शुरू किया और अन्त में मेरा पैर पकड़ने में कामयाब होकर उसने मुझे बाहर खींच लिया। इसके बाद हमें मालूम हुआ कि हम कितने बड़े खतरे में थे, क्योंकि हमसे दो-तीन सौ गज की दूरी पर यह पहाड़ी धारा एक विशाल चट्टान के नीचे गिरती थी और वह जल-प्रपात उस जगह की एक दर्शनीय चीज थी।

१९१२ की गर्मी में मैंने बैरिस्टरी पास कर ली और उसी शरद ऋतु में मैं, कोई सात साल से ज्यादा इंग्लैंड में रहने के बाद, आखिर को हिन्दुस्तान लौट आया। इस बीच छुट्टी के

दिनों में दो बार घर गया था। परन्तु अब मैं हमेशा के लिए लौटा। और मुझे लगा कि जब मैं बम्बई में उतरा तो अपने पास कुछ न होते हुए भी अपने बड़प्पन का अभिमान लेकर उतरा था।

: ६ :

देश लौटने पर

१९१२ के अख़ीर में राजनैतिक दृष्टि से हिन्दुस्तान बहुत फीका मालूम होता था। तिलक जेल में थे, गरम दलवाले दबा दिए गए थे। किसी प्रभावशाली नेता के न होने से वे चुपचाप पड़े हुए थे। बंग-भंग दूर होने पर बंगाल में शांति हो गई थी और सरकार को कौंसिलों की मिण्टो-मार्ले-योजना के अनुसार माडरेटों को अपनी ओर करने में कामयाबी मिल गई थी। प्रवासी भारतवासियों की समस्या में,ख़ासतौर पर दक्षिण अफ्रीका में रहनेवाले भारतीयों की दशा के बारे में, कुछ दिलचस्पी जरूर ली जाती थी। कांग्रेस माडरेटों के हाथ में थी।

१९१२ की बड़े दिनों की छुट्टियों में मैं डेलीगेट की हैसियत से बांकीपुर की कांग्रेस में शामिल हुआ। गोखले, जो हाल ही अफ्रीका से लौटकर आये थे, उसमें उपस्थित थे। उस अधिवेशन के प्रमुख व्यक्ति वही थे। मुझपर उनका अच्छा प्रभाव पड़ा।

मैं हाईकोर्ट में वकालत करने लगा। कुछ हद तक मुझे अपने काम में दिलचस्पी आने लगी। यूरोप से लौटने के बाद शुरू-शुरू के महीने बड़े आनन्द के थे। मुझे घर आने और वहाँ आकर पुरानी मेल-मुलाकातें कायम कर लेने की खुशी हुई। परन्तु धीरे-धीरे अपनी तरह के अधिकांश लोगों के साथ जिस तरह की जिन्दगी बितानी पड़ती थी, उसकी सब ताजगी गायब

होने लगी और मैं यह महसूस करने लगा कि, मैं बेकार और उद्देश्यहीन जीवन की नीरस खानापूरी में ही फंस रहा हूं। मैं समझता हूं कि मेरी खिचड़ी शिक्षा इस बात के लिए जिम्मेदार थी कि मेरे मन में अपनी परिस्थितियों से असंतोष था। इंग्लैंड की अपनी सात बरस की जिन्दगी में मेरी जो आदतें और जो भावनाएं बन गईं थीं, वे, जिन चीजों को मैं यहाँ देखता था, उनसे मेल नहीं खाती थीं। तक़दीर से मेरे घर का वायु-मंडल बहुत अनुकूल था और उससे कुछ शांति भी मिलती थी; परन्तु उतना काफ़ी न था। उसके बाद तो वही बार-लाइब्रेरी, वही क्लब और दोनों में वही साथी, जो उन्हीं पुराने विषयों पर (आमतौर पर कानूनी पेशे-संबंधी बातों पर) ही बार-बार बातें करते थे। निस्संदेह यह वायु-मंडल ऐसा न था, जिससे बुद्धि को कुछ गति या स्फूर्ति मिले और मेरे मन में जीवन के प्रति बिलकुल नीरसपन का भाव घर करने लगा। कहने योग्य विनोद या प्रमोद की बातें भी न थीं।

अपने वकालत के पेशे में मुझे पूरा उत्साह नहीं था। राजनीति के मानी मेरे मन में ये थे कि विदेशी शासन के ख़िलाफ़ उग्र राष्ट्रीय आन्दोलन हो। लेकिन उस समय की राजनीति में इसके लिए कोई गुंजाइश नहीं। मैं कांग्रेस में शरीक हो गया और उसकी बैठकों में जाता रहता। फ़िजी में हिन्दुस्तानी मजदूरों के लिए शर्तबंदी कुली-प्रथा के ख़िलाफ़ या दक्षिण अफ्रीका में प्रवासी भारतीयों के साथ दुर्व्यवहार किये जाने के ख़िलाफ़ या ऐसे ही कोई ख़ास मौकों पर जब कभी कोई आन्दोलन उठ खड़ा होता तो मैं अपनी पूरी ताकत से उसमें जुटकर खूब मेहनत करता। लेकिन ये काम तो सिर्फ़ कुछ समय के लिए ही होते थे।

शिकार-जैसे दूसरे कामों में मैंने अपना जी बहलाना चाहा; लेकिन उसकी तरफ़ भी मेरा ख़ास लगाव या झुकाव न था। बाहर

जाना और जंगल में घूमना तो मुझे अच्छा लगता था; किंतु इस बात की ओर मैं कम ध्यान देता कि कोई जानवर मारूं। सच बात तो यह है कि मैं जानवरों को मारने के लिए कभी मशहूर नहीं हुआ, हालांकि एक दिन कश्मीर में थोड़े-बहुत इत्तिफ़ाक से ही एक रीछ के मारने में मुझे कामयाबी मिल गई थी। शिकार के लिए मेरे मन में जो थोड़ा-बहुत उत्साह था, वह भी एक छोटे-से बारहसिंगे के साथ जो घटना हुई उससे ठंडा पड़ गया। यह छोटा-सा निर्दोष अहिंसक पशु चोट से मरकर मेरे पैरों पर गिर पड़ा और अपनी आंसूभरी बड़ी-बड़ी आंखों से मेरी तरफ देखने लगा। तबसे उन आंखों की मुझे अक्सर याद आ जाती है।

उन शुरू के सालों में श्री गोखले की भारत-सेवक समिति की ओर भी मेरा खिंचाव हुआ था। मैंने उसमें शामिल होने की बात तो कभी नहीं सोची। कुछ तो इसलिए कि उनकी राजनीति मेरे लिए बहुत ही नरम थी, और कुछ इसलिए कि उन दिनों अपना पेशा छोड़ने का मेरा कोई इरादा न था। परन्तु समिति के मेम्बरों के लिए मेरे दिल में बड़ी इज़्ज़त थी, क्योंकि उन्होंने निर्वाह-मात्र पर अपनेको स्वदेश की सेवा में लगा दिया था। मैंने दिल में कहा कि कम-से-कम यह एक समिति ऐसी है, जिसके लोग एकाग्र चित्त होकर लगातार काम करते हैं, फिर चाहे वह काम सोलहों आने ठीक दिशा में भले ही न हो।

विश्व-व्यापी महायुद्ध शुरू हुआ और उसमें हमारा ध्यान लग गया, हालांकि वह हमसे बहुत दूर हो रहा था। शुरू में उसका हमारे जीवन पर ऐसा ज़्यादा प्रभाव नहीं पड़ा और हिन्दुस्तान ने तो उसकी बीभत्सता के पूरे स्वरूप का अनुभव भी नहीं किया। राजनीति के बरसाती नाले बहते और लोप हो जाते थे। "ब्रिटिश डिफेंस आफ रिएलम एक्ट" की तरह जो "भारत-रक्षा कानून" बना था, देश को वह जोर से जकड़े हुए

था। लड़ाई के दूसरे साल से ही षड्यंत्रों और गोलियों से उड़ाये जाने की ख़बरें आने लगीं। उधर पंजाब में रंगरूटों की जबरन भरती की ख़बरें भी सुनाई देती थीं।

धीरे-धीरे राजनैतिक जीवन फिर बढ़ने लगा। लोकमान्य तिलक जेल के बाहर आ गए, और उन्होंने तथा मिसेज़ बेसेण्ट ने होमरूल लीगें कायम कीं। मैं दोनों लीगों में शामिल हुआ। लेकिन काम मैंने ख़ासतौर पर मिसेज़ बेसेण्ट की लीग के लिए ही किया। हिन्दुस्तान के राजनैतिक मंच पर मिसेज़ बेसेण्ट दिनों-दिन अधिक भाग लेने लगी। कांग्रेस के वार्षिक अधिवेशनों में कुछ अधिक जोश भर गया और मुस्लिम लीग कांग्रेस के साथ-साथ चलने लगी। वायु-मंडल में बिजली-सी दौड़ गई और हम-जैसे अधिकांश नवयुवकों के दिल फड़कने लगे। निकट भविष्य में हम बड़ी-बड़ी बातें होने की उम्मीदें करने लगे। मिसेज़ बेसेण्ट की नज़रबन्दी से पढ़े-लिखे लोगों में बहुत उत्तेजना बढ़ी और उसने देश भर में होमरूल-आन्दोलन में जान डाल दी। होमरूल लीगों में न सिर्फ वे पुराने गरम दलवाले ही शामिल हुए जो १९०७ से कांग्रेस से अलग हो गए थे, बल्कि मध्यम श्रेणी के लोगों में से नये कार्यकर्त्ता भी आये; लेकिन आम जनता को इन लोगों ने छुआ तक नहीं।

मिसेज़ बेसेण्ट की नजरबन्दी का नतीजा यह हुआ कि पिताजी तथा दूसरे माडरेट लीडर होम-रूल लीग में शामिल हो गए। कुछ महीने बाद ज़्यादातर माडरेट नेताओं ने लीग से इस्तीफ़ा दे दिया। पिताजी उसके मेम्बर बने रहे और उसकी इलाहाबाद-शाखा के सभापति भी बन गए।

: ७ :

मेरा पहला भाषण

लड़ाई के शुरू के सालों में मेरे अपने राजनैतिक और

सार्वजनिक कार्य साधारण ही थे और मैं आम सभाओं में व्याख्यान देने से बचा रहा। अभी तक मुझे जनता में व्याख्यान देने में डर व झिझक मालूम होती थी। कुछ हद तक इसकी वजह यह भी थी कि मैं यह महसूस करता था कि सार्वजनिक व्याख्यान अंग्रेजी में तो होने नहीं चाहिए और हिन्दुस्तानी में देर तक बोलने की अपनी योग्यता में मुझे संदेह था। मुझे वह छोटी-सी घटना याद है, जो उस समय हुई जब मुझे इस बात के लिए मजबूर कर दिया गया कि मैं पहले-पहल इलाहाबाद में सार्वजनिक भाषण दूं। सम्भवतः यह १९१५ में हुआ। तारीख के बारे में मैं ठीक-ठीक नहीं कह सकता। इसके अलावा पहले क्या हुआ और फिर क्या, यह तरतीब भी मुझे साफ-साफ याद नहीं है। प्रेस का मुंह बन्द करनवाले एक क़ानून के विरोध में सभा होनेवाली थी और उसमें मुझे यह मौका मिला था। मैं बहुत थोड़ा बोला, सो भी अंग्रेजी में। ज्योंही मीटिंग ख़त्म हुई, मुझे इस बात से बड़ी सकुच हुई कि डाक्टर तेजबहादुर सप्रू ने मंच पर पब्लिक के सामने मुझे छाती से लगाकर प्यार से चूमा। मैंने जो कुछ या जिस तरह कहा उसपर वह खुश हुए हों सो बात नहीं, बल्कि उनकी इस बेहद खुशी का सबब सिर्फ़ यह था कि मैंने आम सभा में व्याख्यान दिया और इस तरह सार्वजनिक कार्य के लिए एक नया रंगरूट मिल गया। उन दिनों सार्वजनिक काम दरअसल केवल व्याख्यान देना ही था।

उस ज़माने में घर में राजनैतिक सवाल चर्चा और बहस के लिए शान्तिमय विषय नहीं था। उसकी चर्चा अक्सर होती थी; लेकिन चर्चा होते ही तनातनी होने लगती थी। गरम दल की तरफ़ जो मेरा झुकाव था, उसे पिताजी बड़े ग़ौर से देख रहे थे; ख़ास तौर पर बातूनी राजनीति के बारे में मेरी नुक़्ताचीनियों को और कार्य के लिए की जानेवाली मेरी आग्रहपूर्ण मांग को। मुझे भी यह बात साफ़-साफ़ नहीं दिखाई देती थी कि क्या काम होना चाहिए और पिताजी कभी-कभी ख़याल करते थे कि मैं

सीधे उस हिंसात्मक कार्य की तरफ़ जा रहा हूं, जिसको बंगाल के नौजवानों ने अख़्तियार किया था। इससे वह बहुत ही चिन्तित रहते थे, जबकि दलअसल मेरा आकर्षण उस तरफ़ था नहीं। हां, यह ख़याल मुझे हर वक्त घेरे रहता था कि हमें मौजूदा हालत को चुपचाप बरदाश्त नहीं करना चाहिए और कुछ-न-कुछ करना ज़रूर चाहिए। राष्ट्रीय दृष्टि से किसी काम को सफल करना बहुत आसान नहीं दिखाई देता था। लेकिन मैं यह महसूस करता था कि स्वाभिमान और स्वदेशाभिमान दोनों ही यह चाहते हैं कि विदेशी हुकूमत के ख़िलाफ़ अधिक लड़ाका और आक्रामक रवैया अख़्तियार किया जाय। पिताजी ख़ुद माडरेटों की विचार-पद्धति से असंतुष्ट थे और उनके मन के भीतर द्वंद्व-युद्ध मच रहा था। वह इतने हठी थे कि जबतक इस बात का पूरा-पूरा विश्वास न हो जाय कि ऐसा करने के अलावा और कोई चारा नहीं, तबतक वह एक स्थिति को छोड़कर दूसरी को कभी नहीं अपनाते। आगे रखे जानेवाले हरेक कदम के माने यह थे कि उनके मन में कठिन और कठोर द्वंद्व हो; लेकिन अपने मन से इस तरह लड़ने के बाद जब वह कोई कदम आगे रख देते थे तब फिर पीछे पैर नहीं हटाते थे। उन्होंने आगे जो कदम बढ़ाया, वह किसी उत्साह के झोंके में नहीं, बल्कि बौद्धिक विश्वास के फलस्वरूप, और एक बार आगे कदम रख देने के बाद उनका सारा अभिमान उन्हें पीछे मुड़कर देखने से भी रोकता था।

उनकी राजनीति में बाह्य परिवर्तन मिसेज़ बेसेण्ट की नज़रबन्दी के वक्त से आया और तबसे वह कदम-ब-कदम आगे ही बढ़ते गए और अपने माडरेट दोस्तों को पीछे छोड़ते गए। अन्त में १९१९ में पंजाब में जो दुःखान्त काण्ड हुआ, उसने उन्हें हमेशा के लिए अपने पुराने जीवन और अपने पेशे से अलग काट फेंका और उन्होंने गांधीजी के चलाये नए आन्दोलन के साथ अपने भाग्य की डोर बांध दी।

लेकिन यह बात तो आगे जाकर होने को थी। १९१५ से १९१७ तक तो वह यह तय ही नहीं कर पाए कि क्या करना चाहिए। एक तो उनके अपने मन में तरह-तरह की शंकाएं उठ रही थीं, दूसरे वह मेरी वजह से चिन्तित थे। इसलिए वह उन दिनों के सार्वजनिक प्रश्नों पर शान्तिपूर्वक बातचीत नहीं कर सकते थे। अक्सर यह होता था कि बातचीत में वह नाराज़ हो जाते और हमें बात जहां-की-तहां ख़त्म कर देनी पड़ती।

मैं गांधीजी से पहले-पहल १९१६ में बड़े दिन की छुट्टियों में लखनऊ-कांग्रेस में मिला। दक्षिण अफ्रीका में उनकी बहादुराना लड़ाई के लिए हम सब लोग उनकी तारीफ़ करते थे; लेकिन हम नौजवानों में बहुतों को वह बहुत अलग तथा राजनीति से दूर व्यक्ति मालूम होते थे। उन दिनों उन्होंने कांग्रेस या राष्ट्रीय राजनीति में भाग लेने से इन्कार कर दिया था और अपनेको प्रवासी भारतीयों के मसले की सीमा तक बांध रखा था। इसके बाद ही चम्पारन में निलहे गोरों के कारण होनेवाले किसानों के दुःख दूर करने में उन्होंने जैसा साहस दिखाया और उस मामले में उनकी जो जीत हुई, उससे हम लोग उत्साह से भर गए। हम लोगों ने देखा कि वह हिन्दुस्तान में भी अपने इस तरीके से काम लेने को तैयार हैं और उनसे सफलता की भी आशा होती थी।

लखनऊ-कांग्रेस के बाद उन दिनों इलाहाबाद में सरोजिनी नायडू ने जो कई बढ़िया भाषण दिये, उनसे भी, मुझे याद है, मेरा दिल हिल उठता था। वे भाषण शुरू से आख़िर तक राष्ट्रीयता और देश-भक्ति से सराबोर होते थे।

: ८ :

हिमालय की एक घटना

मेरी शादी १९१६ में, दिल्ली में, बसन्त-पंचमी को हुई

थी। उस साल गरमी में हमने कुछ महीने काश्मीर में बिताए। मैंने अपने परिवार को तो श्रीनगर की घाटी में छोड़ दिया और अपने एक चचेरे भाई के साथ कई हफ़्ते तक पहाड़ों में घूमता रहा, तथा लद्दाख रोड तक बढ़ता चला गया।

संसार में उच्च प्रदेश में उन संकड़ी और निर्जन घाटियों में, जो तिब्बत के मैदान की तरफ ले जाती हैं, घूमने का यह मेरा पहला अनुभव था। जोजी-ला घाटी की चोटी से हमने देखा तो हमारी एक तरफ नीचे की ओर पहाड़ों की घनी हरियाली थी और दूसरी तरफ खाली कड़ी चट्टान। हम उस घाटी की संकड़ी तह के ऊपर चढ़ते चले गए, जिसके दोनों ओर पहाड़ हैं। एक तरफ़ बर्फ़ से ढकी हुई चोटियां चमक रही थीं और उनमें से छोटे-छोटे गलेशियर—हिमसरोवर—हमसे मिलने के लिए, नीचे को रेंग रहे थे। हवा ठंडी और कटीली थी; लेकिन दिन में धूप अच्छी पड़ती थी और हवा इतनी साफ थी कि अक्सर हमें चीजों की दूरी के बारे में भ्रम हो जाता था। वे दरअसल जितनी दूर होती थीं, हम उन्हें उससे बहुत कम दूर समझते थे। धीरे-धीरे सूनापन बढ़ता गया, पेड़ों और वनस्पतियों तक ने हमारा साथ छोड़ दिया—सिर्फ नंगी चट्टान और बरफ़ और पाला और कभी-कभी कुछ सुन्दर फूल रह गए। फिर भी प्रकृति के इन जंगली और सुनसान स्थानों में मुझे अजीब संतोष मिला। मेरे उत्साह और उमंग का ठिकाना न था।

इस यात्रा में मुझे एक बड़ा दिल को कंपा देनेवाला अनुभव हुआ। जोजी-ला घाटी से आगे सफ़र करते हुए एक जगह, जो मेरे खयाल में मटायन कहलाती थी, हमसे कहा गया कि अमरनाथ की गुफा यहां से सिर्फ आठ मील दूर है। यह ठीक था कि बीच में बुरी तरह हिम से ढका हुआ एक बड़ा पहाड़ पड़ता था, जिसे पार करना था। लेकिन उससे क्या? आठ मील होते ही क्या हैं? जोश खूब था और तजुरबे नदारद। हमने अपने डेरे

तंबू, जो ग्यारह हजार पांच सौ फुट की ऊंचाई पर थे, छोड़ दिये और एक छोटे-से दल के साथ पहाड़ पर चढ़ने लगे। रास्ता दिखाने के लिए हमारे साथ यहां का एक गडरिया था।

हम लोगों ने रस्सियों की सांकल में एक दूसरे से बंधे हुए कई बरफ़ीली-नदियों को पार किया। हमारी मुश्किलें बढ़ती गईं तथा सांस लेने में भी कठिनाई मालूम होने लगी। हमारे कुछ सामान उठानेवालों के मुंह से खून निकलने लगा, हालांकि उनपर बहुत बोझ नहीं था। इधर बरफ़ पड़ने लगी और बर्फ़ीली नदियां भयानक रूप से रपटीली हो गईं। हम लोग बुरी तरह थक गए और एक-एक कदम आगे बढ़ने के लिए बहुत कोशिश करनी पड़ती थी। लेकिन फिर भी हम यह मूर्खता करते ही गए। हमने अपना खीमा सुबह चार बजे छोड़ा था और बारह घंटे तक लगातार चढ़ते रहने के बाद एक सुविशाल हिम-सरोवर देखने का पुरस्कार मिला। यह दृश्य बहुत ही सुन्दर था। उसके चारों ओर बर्फ़ से ढकी हुई पर्वत-चोटियां थीं, मानो देवताओं का मुकुट अथवा अर्द्धचंद्र हो? परन्तु ताजा बर्फ़ और कुहरे ने शीघ्र ही इस दृश्य को हमारी आंखों से ओझल कर दिया। पता नहीं कि हम कितनी ऊंचाई पर थे; लेकिन मेरा खयाल है कि हम लोग कोई पन्द्रह-सोलह हज़ार फुट ऊंचाई पर ज़रूर होंगे, क्योंकि हम अमरनाथ की गुफ़ा से बहुत ऊंचे थे। अब हमें इस हिम-सरोवर को, जो सम्भवतः आध मील लम्बा होगा, पार करके दूसरी तरफ नीचे गुफ़ा को जाना था। हम लोगों ने सोचा कि चढ़ाई खत्म होने से हमारी मुश्किलें भी ख़त्म हो गई होंगी, इसलिए बहुत थके होने पर भी हम लोगों ने हंसते हुए यात्रा की यह मंज़िल भी तय करनी शुरू की। इसमें बड़ा धोखा था, क्योंकि वहां दरारें बहुत-सी थीं और ताजी गिरनेवाली बरफ़ ख़तरनाक दरारों को ढक देती थी। इस नये बरफ़ ने ही मेरा करीब-करीब ख़ात्मा कर दिया होता, क्योंकि मैंने ज्योंहीं उसके ऊपर पैर रखा, वह नीचे को खिसक गई और मैं धम्म से मुंह बाये हुए एक विशाल

दरार में जा गिरा। यह दरार बहुत बड़ी थी और कोई भी चीज़ उसमें बिल्कुल नीचे पहुंचकर हजारों वर्ष बाद तक भूगर्भशास्त्रियों की खोज के लिए इतमीनान के साथ सुरक्षित रह सकती थी। लेकिन मेरे हाथ से रस्सी नहीं छूटी और मैं दरार की बाजू को पकड़े रहा और ऊपर खींच लिया गया। इस घटना से हम लोगों के होश तो ढीले हो गए थे, फिर भी हम लोग आगे चलते गए। लेकिन दरारों की तादाद और उनकी चौड़ाई आगे जाकर और भी बढ़ गई। इनमें से कुछ को पार करने के कोई साधन भी हमारे पास न थे, इसलिए अन्त में हम लोग थके-मांदे हताश ही लौट आये और इस प्रकार अमरनाथ की गुफ़ा अनदेखी ही रह गई।

: ६ :

गांधीजी मैदान में

यूरोपियन महायुद्ध के अन्त में हिन्दुस्तान में एक दबा हुआ जोश फैला हुआ था। कल-कारखाने जगह-जगह खड़े हो गए थे और पूंजीवादी वर्ग धन और सत्ता में बढ़ गया था। चोटी पर के मुट्ठीभर लोग मालामाल हो गए थे और उनके जी इस बात के लिए ललचा रहे थे कि बचत की इस दौलत को और भी बढ़ाने के लिए सत्ता और मौके मिलें। मगर आम लोग इतने ख़ुशक़िस्मत न थे और वे उस बोझ को कम करने की टोह में थे कि जिसके तले वे कुचले जा रहे थे। मध्यम वर्ग के लोगों में यह आशा फैल रही थी कि अब शासन-सुधार होंगे ही, जिनसे स्वराज्य के कुछ अधिकार मिलेंगे और उनके द्वारा उन्हें अपनी बढ़ती के नये रास्ते मिलेंगे। राजनैतिक आन्दोलन, जोकि शान्तिमय और बिलकुल वैध था, कामयाब होता हुआ दिखाई देता था और लोग विश्वास के साथ आत्मनिर्णय, स्वशासन और स्वराज्य की बातें करते थे। इस अशान्ति के कुछ चिह्न जनता में भी, और ख़ासकर किसानों में, दिखाई पड़ते थे।

पंजाब के देहाती इलाकों में ज़बरदस्ती रंगरूट भरती करने की दुःखदाई बातें लोग अभी तक बुरी तरह याद करते थे और कोमागाटा-मारू वाले दूसरे लोगों पर षड्यंत्र के मुक़दमे चलाकर जो दमन किया गया था, उसने उनकी चारों ओर फैली हुई नाराजगी को और भी बढ़ा दिया। जगह-जगह लड़ाई के मैदानों से जो सिपाही लौटे थे वे अब पहले जैसे 'जो हुकुम' नहीं रह गये थे। उनकी जानकारी और अनुभव बढ़ गया था और उनमें भी बहुत अशान्ति थी।

मुसलमानों में भी, तुर्किस्तान और खिलाफ़त के मसले पर अख़्तियार किये गए रुख़ पर, गुस्सा बढ़ रहा था और आन्दोलन तेज हो रहा था। देश भर में प्रतीक्षा और आशा की हवा जोरों पर थी, लेकिन उस आशा में चिन्ता और भय समाये हुए थे। इसके बाद रौलट-बिलों का दौर हुआ, जिसमें कानूनी कार्रवाई के बिना भी गिरफ़्तार करने और सजा देने की धाराएं रखी गईं थीं। सारे हिन्दुस्तान में चारों ओर उठे हुए क्रोध की लहर ने उनका स्वागत किया; यहांतक कि माडरेट लोगों ने भी अपनी पूरी ताक़त से उनका विरोध किया। सच तो यह है कि हिन्दुस्तान के सब विचार और दल के लोगों ने एक स्वर से उनका विरोध किया था। फिर भी सरकारी अफ़सरों ने उनको क़ानून बनवा ही डाला और ख़ास रिआयत केवल इतनी की गई कि उनकी मियाद महज तीन वर्ष की रख दी गई!

रौलट-कानून बन तो गया, मगर जहांतक मैं जानता हूं, अपनी तीन वर्ष की जिन्दगी में वह कभी काम में नहीं लाया गया, हालांकि वे तीन साल शांति के नहीं, ऐसे उपद्रव के साल थे, जो १८५७ के ग़दर के बाद हिन्दुस्तान ने पहले-पहल देखे थे। इस तरह ब्रिटिश सरकार ने लोकमत के घोर विरोधी होते हुए एक ऐसा क़ानून बनाया, जिसका उसने कुछ उपयोग भी नहीं

किया लेकिन बदले में एक तूफ़ान पैदा कर लिया। इससे बहुत-कुछ यह ख़याल किया जा सकता है कि इस क़ानून को बनाने का उद्देश्य सिर्फ़ खलबली मचाना था!

१९१९ के शुरू में गांधीजी एक सख़्त बीमारी से उठे थे। रोग-शैय्या से उठते ही उन्होंने वाइसराय से प्रार्थना की थी कि वह इस बिल को क़ानून न बनने दे। इस अपील की उन्होंने दूसरी अपीलों की तरह कोई परवाह न की और उस हालत में, गांधीजी को अपनी तबीयत के ख़िलाफ़ इस आन्दोलन का अगुआ बनना पड़ा, जो उनके जीवन में पहला भारत-व्यापी आन्दोलन था। उन्होंने सत्याग्रह-सभा शुरू की, जिसके मेम्बरों से यह प्रतिज्ञा कराई गई थी कि उनपर लागू किये जाने पर वे रौलट-कानून को न मानेंगे। दूसरे शब्दों में उन्हें खुल्लमखुला और जान-बूझकर जेल जाने की तैयारी करनी थी।

जब मैंने अख़बारों में यह ख़बर पढ़ी तो मुझे बड़ा सन्तोष हुआ। आख़िर इस उलझन से एक रास्ता मिला तो? वार करने के लिए एक हथियार तो मिला जो सीधा, खुला और बहुत करके राम-बाण था। मेरे उत्साह का पार न रहा और मैं फ़ौरन ही सत्याग्रह-सभा में सम्मिलित होना चाहता था। लेकिन मैंने उसके नतीजे पर—क़ानून तोड़ना, जेल जाना वग़ैरा पर—शायद ही ग़ौर किया हो; और अगर मैंने ग़ौर किया भी होता तो मुझे उसकी परवा न होती। मगर एकाएक मेरे सारे उत्साह पर पाला पड़ गया और मैंने समझ लिया कि मेरा रास्ता आसान नहीं है; क्योंकि पिताजी इस नए विचार के घोर विरोधी थे। वह नये-नये प्रस्तावों के बहाव में बह जाने वाले न थे। कोई नया क़दम आगे बढ़ाने के पहले वह उसके नतीजे को बहुत अच्छी तरह सोच लिया करते थे और जितना ही ज़्यादा उन्होंने सत्याग्रह के प्रश्न और उसके प्रोग्राम के बारे में सोचा, उतना ही कम वह उन्हें जँचा। उन्हें यह बात बहुत बेहूदा मालूम देती थी कि

मैं जेल जाऊँ। जेल जाने का सिलसिला अभी शुरू नहीं हुआ था; पर यह ख़याल ही उनको बहुत नागवार मालूम होता था। पिताजी अपने बच्चों से बहुत ही मुहब्बत रखते थे। यद्यपि वह प्रेम का दिखावा नहीं करते थे तो भी उनके अन्दर बहुत प्रेम भरा रहता था।

बहुत दिनों तक मानसिक संघर्ष चलता रहा और चूंकि हम दोनों जानते थे कि यह बड़ी-बड़ी बाज़ियां लगाने का सवाल है, जिसमें हमारे सारे जीवन में बड़ी उथल-पुथल होने की संभावना है, दोनों ने इस बात की कोशिश की कि जहाँतक हो सके एक-दूसरे की भावनाओं का ख़याल रखें। मैं चाहता था कि जहाँतक हो सके कोशिश करूं कि उनको तकलीफ़ न हो। मगर मुझे अपने दिल में यक़ीन हो गया था कि मुझे जाना तो सत्याग्रह के ही रास्ते है। हम दोनों के लिए वह मुसीबत का समय था और कई रातें मैंने अकेले बड़ी चिन्ता और बेचैनी में काटीं। बाद को मुझे मालूम हुआ कि पिताजी रात को सचमुच फ़र्श पर सोने लगे। वह खुद यह अनुभव कर लेना चाहते थे कि जेल में जमीन पर सोया जा सकेगा या नहीं।

पिताजी ने गांधीजी को बुलाया और वह इलाहाबाद आये। दोनों की बड़ी देर तक बातें होती रहीं। उस समय मैं मौजूद न था। इसका नतीजा यह हुआ कि गांधीजी ने मुझे सलाह दी कि जल्दी न करो और ऐसा काम न करो जो पिताजी को असह्य हो। मुझे इससे दुःख ही हुआ; मगर उसी समय देश में ऐसी घटनाएं घट गईं जिनसे सारी हालत ही बदल गई और सत्याग्रह-सभा ने अपनी कार्रवाई बन्द कर दी।

सत्याग्रह-दिवस—सारे हिन्दुस्तान में हड़तालें और तमाम काम-काज बन्द —दिल्ली, अमृतसर और अहमदाबाद में पुलिस और फ़ौज का गोली चलाना और बहुत-से आदमियों का मारा जाना—अमृतसर और अहमदाबाद में भीड़ के द्वारा हिंसा-कांड

हो जाना—जलियांवाला-बाग का हत्याकाण्ड—पंजाब में फ़ौजी कानून के भीषण, अपमानजनक और दिल दहलानेवाले कारनामे। पंजाब मानो दूसरे प्रांतों से अलग काट दिया गया हो, उसपर मानो एक दुहेरा परदा पड़ गया था, जिससे बाहरी दुनिया की आंखें उसतक नहीं पहुंच पाती थीं। वहां से मुश्किल से कोई ख़बर मिलती थी और कोई न वहाँ जा सकता था, न वहाँ से आ ही सकता था।

कोई इक्का-दुक्का, जो किसी तरह उस नरक-कुंड से बाहर आ पहुँचता था, इतना भयभीत होता था कि साफ़-साफ़ हाल नहीं बता सकता था। हम लोग जो बाहर थे, असहाय और असमर्थ थे, छोटी-बड़ी खबर का इन्तजार करते रहते थे और हमारे दिल में कटुता भरती जा रही थी। हममें से कुछ लोग फ़ौजी कानून की परवा न करके खुल्लमखुल्ला पंजाब के उन हिस्सों में जाना चाहते थे; लेकिन हमें ऐसा नहीं करने दिया गया। इसी बीच कांग्रेस की तरफ़ से दुखियों और पीड़ितों को सहायता पहुंचाने तथा जांच करने के लिए एक बड़ा संगठन बनाया गया।

ज्योंही ख़ास-ख़ास जगहों से फ़ौजी क़ानून वापस लिया गया और बाहरवालों को जाने की छुट्टी मिली, मुख्य-मुख्य कांग्रेसी और दूसरे लोग पंजाब में जा पहुँचे और सहायता तथा जांच के काम में अपनी सेवाएँ देने लगे। पीड़ितों की सहायता का काम मुख्यतः पंडित मदनमोहन मालवीय और स्वामी श्रद्धानंद-जी की देखभाल में होता था और जाँच का काम मुख्यतः पिताजी और देशबन्धुदास की देख-रेख में। गांधीजी उसमें बहुत दिलचस्पी ले रहे थे और दूसरे लोग अक्सर उनसे सलाह-मशवरा लिया करते थे। देशबन्धुदास ने अमृतसर का हिस्सा ख़ास-तौर पर अपनी तरफ़ लिया था और वहाँ मैं उनके साथ उनकी सहायता के लिए तैनात किया गया था। मुझे उनके साथ और उनके नीचे काम करने का वह पहला मौक़ा था। वह अनुभव मेरे लिए बड़ा

क़ीमती था और इससे उनके प्रति मेरा आदर बढ़ा। जलियांवाला-बाग से और उस भयंकर गली से, जिसमें लोगों को पेट के बल रेंगाया गया था, संबंध रखनेवाले बयान, जो बाद को कांग्रेस-जांच-रिपोर्ट में छपे थे, हमारे सामने लिये गए थे।

उस साल (१९१९) के अख़ीर में मैं अमृतसर से देहली को रात की गाड़ी से रवाना हुआ था। जिस डिब्बे में मैं चढ़ा, उसकी तमाम जगहें भरी हुईं थीं, सिर्फ़ ऊपर एक बर्थ ख़ाली थी। सब मुसाफ़िर सो रहे थे। मैंने वह ख़ाली बर्थ ले ली––दूसरे दिन सुबह मुझे मालूम हुआ कि वे तमाम मुसाफ़िर फ़ौजी अफसर थे। वे आपस में जोर-जोर से बातें कर रहे थे, जो मेरे कानों तक आ ही पहुंचती थीं। उनमें से एक बड़ी तेज़ी के साथ, मगर विजय के घमंड में बोल रहा था और फ़ौरन ही मैं समझ गया कि यह वही जलियांवाला-बाग के 'बहादुर' मि० डायर हैं। वह अपने अमृतसर के अनुभव सुना रहा था। उसने बताया कि कैसे सारा शहर उसकी दया के भरोसे हो रहा था। उसने सोचा, एक बार इस सारे बाग़ी शहर को ख़ाक में मिला दूं। मगर कहा, फिर मुझे रहम आ गया और मैं रुक गया। हण्टर-कमेटी में अपना बयान देकर वह लाहौर से वापस आ रहा था। उसकी बातचीत और उसकी संगदिली को देखकर मेरे दिल को बड़ा धक्का लगा–– वह देहली स्टेशन पर उतरा तो गहरी गुलाबी धारियोंवाला पायजामा और ड्रेसिंग-गाउन पहने हुए था।

पंजाब-जांच के ज़माने में मुझे गांधीजी को बहुत-कुछ समझने का मौक़ा मिला। बहुत बार उनके प्रस्ताव कमेटी को अजीब मालूम होते थे और कमेटी उन्हें पसन्द नहीं करती थी। मगर क़रीब-क़रीब हमेशा अपनी दलीलों से कमेटी को वह समझा लिया करते थे और कमेटी उन्हें मंजूर कर लिया करती थी। बाद की घटनाओं से मालूम हुआ कि उनकी सलाह में दूरंदेशी थी। तबसे उनकी राजनैतिक अंतर्दृष्टि में मेरी श्रद्धा बढ़ती गई।

पंजाब की दुर्घटनाओं और उनकी जांच के कार्य का मेरे पिताजी पर ज़बरदस्त असर हुआ। उनकी तमाम क़ानूनी और वैधानिक बुनियाद उसके द्वारा हिल गई थी और उनका मन उस परिवर्तन के लिए धीरे-धीरे तैयार हो रहा था, जो एक साल बाद आनेवाला था। अपनी पुरानी माडरेट स्थिति से वह पहले ही बहुत कुछ आगे बढ़ चुके थे।

१९१९ के बड़े दिनों में पिताजी अमृतसर - कांग्रेस के सभापति हुए। उन्होंने माडरेट नेताओं के नाम कांग्रेस में शामिल होने की एक दिल हिला देनेवाली अपील की। मगर उन्होंने उसका वैसा जवाब नहीं दिया जैसा कि वह चाहते थे। वे लोग शामिल नहीं हुए। उनकी आँखें उन नये सुधारों की ओर लगी हुई थीं, जो मांटेगू-चैम्सफोर्ड सिफ़ारिशों के फल-स्वरूप आनेवाले थे। उनके इंकार कर देने से पिताजी के दिल को बड़ा दुःख पहुंचा और इससे इनके और माडरेटों के दिल की खाई और चौड़ी हो गई।

अमृतसर-कांग्रेस पहली गांधी-कांग्रेस हुई। लोकमान्य तिलक भी आये थे और उन्होंने उसकी कार्रवाई में प्रमुख भाग लिया। मगर इसमें कुछ शक नहीं कि प्रतिनिधियों में अधिकांश और इससे भी ज़्यादा बाहर की भीड़ में अधिकतर लोग अगुआ बनने के लिए गांधीजी की ओर देख रहे थे। हिन्दुस्तान के राजनैतिक क्षितिज में 'महात्मा गांधी की जय' की आवाज़ बुलन्द हो रही थी। अली-बन्धु हाल ही में नज़रबन्दी से छूटे थे और सीधे अमृतसर-कांग्रेस में आये थे। राष्ट्रीय आन्दोलन एक नया रूप धारण कर रहा था और उसकी नई नीति निर्माण हो रही थी।

१९२० में राजनैतिक और ख़िलाफ़त-आंदोलन दोनों एक ही दिशा में और एक साथ चले और कांग्रेस के द्वारा गांधीजी के अहिंसात्मक असहयोग के मंजूर कर लिये जाने पर आख़िर दोनों एक साथ मिल गए। पहले ख़िलाफ़त-कमेटी ने उस कार्यक्रम को

अपनाया और १ अगस्त को लड़ाई जारी करने का दिन मुक़र्रर हुआ।

: १० :

मेरा निर्वासन और किसानों में भ्रमण

१९२० में मुझे इस बात का बिलकुल पता न था कि कारख़ानों में या खेतों में काम करनेवाले मजदूरों की हालत क्या है और मेरा राजनैतिक दृष्टिकोण बिलकुल मध्यम वर्ग के जसा था। फिर भी मैं इतना जरूर जानता था कि उनमें ग़रीबी बहुत है और उनके दुःख भयंकर हैं। मैं सोचता था कि राजनैतिक दृष्टि से हिन्दुस्तान आज़ाद हो जाय तो उसका पहला लक्ष्य यह होगा कि इस ग़रीबी के मसले को हल करे। मगर मुझे सबसे पहली सीढ़ी तो राजनैतिक आजादी ही दिखाई दी, जिसमें मध्यम वर्ग की प्रधानता हुए बिना नहीं रह सकती। गांधीजी के चम्पारन (बिहार) और खेड़ (गुजरात) के किसान-आंदोलन के बाद किसानों के प्रश्न पर मैं ज़्यादा ध्यान देने लगा। फिर भी मेरा ध्यान तो १९२० में राजनैतिक बातों में और असहयोग के आगमन में लग रहा था, जिसकी चर्चा से राजनैतिक वायुमंडल भरा हुआ था।

उन्हीं दिनों एक नई बात में मेरी दिलचस्पी पैदा हो गई, जो आगे चलकर जीवन में महत्त्वपूर्ण बन गई। मैं स्वयं प्रायः कोई इच्छा न रखते हुए, किसानों के सम्पर्क में आ गया और सो भी एक विचित्र रीति से।

मेरी मां और कमला (मेरी पत्नी) दोनों की तन्दुरुस्ती ख़राब थी और मई १९२० के शुरू में मैं उनको मसूरी ले गया। पिताजी उस वक़्त एक बड़े राज्य के मामले में व्यस्त थे, जिसमें दूसरी ओर के वकील देशबन्धुदास थे। हम सेवाय होटल में ठहरे थे। उन दिनों अफ़ग़ान और ब्रिटिश राज्य-प्रतिनिधियों के दरमियान

मसूरी में सुलह की बातें हो रही थीं (यह १९१९ में हुए छोटे अफ़ग़ान-युद्ध के बाद की बात है, जबकि अमानुल्ला तख़्त पर बैठा था) और अफ़गान प्रतिनिधि सेवाय होटल में ठहरे हुए थे। लेकिन वे एक तरफ़ ही रहते थे, खाना भी अकेले खाते थे और किसीसे मिलते-जुलते न थे। मुझे उनमें कोई ख़ास दिलचस्पी नहीं थी और इस महीने भर में मैंने उस प्रतिनिधि-मंडल के एक भी आदमी को नहीं देखा और अगर देखा भी हो तो मैं किसीको पहचानता न था। लेकिन क्या देखता हूं कि एक दिन एकाएक शाम को पुलिस-सुपरिन्टेंडेंट वहां आया और मुझे स्थानीय सरकार का ख़त दिखाया, जिसमें मुझसे यह वायदा चाहा गया था कि मैं अफ़ग़ान-प्रतिनिधिमण्डल से कोई सरोकार न रक्खूँ। मुझे यह एक बड़ी अजीब बात मालूम हुई, क्योंकि इस महीने भर में मैंने उन्हें कभी देखा तक नहीं और न मुझे उसका मौक़ा मिल सकता था। सुपरिन्टेंडेंट इस बात को जानता था, क्योंकि वह प्रतिनिधिमण्डल की हलचलों पर ग़ौर से निगाह रखता था और वहां दरअसल ख़ुफ़िया लोगों का एक ख़ासा जमघट लगा रहता था। मगर ऐसा वादा करना मेरे मिजाज के ख़िलाफ़ था और मैंने उनको ऐसा कह भी दिया। उन्होंने मुझे डिस्ट्रिक्ट मजिस्ट्रेट से, जो कि देहरादून का सुपरिण्टेंडेंट था, मिलने के लिए कहा और उससे मैं मिला। चूंकि मैं बराबर कहता रहा कि मैं ऐसा वायदा नहीं कर सकता, मुझे मसूरी से चले जाने का हुक्म मिला, जिसमें कहा गया कि मैं २४ घंटे के अन्दर देहरादून जिले के बाहर चला जाऊं। इसके मानी यही थे कि मैं कुछ घंटों में ही मसूरी छोड़ दूं। मुझे यह अच्छा तो नहीं लगा कि अपनी बीमार मां और पत्नी दोनों को वहां छोड़कर जाऊं, लेकिन उस वक़्त मुझे उस हुक्म को तोड़ना मुनासिब नहीं मालूम हुआ। उस समय सविनय भंग तो था नहीं, इसलिए मैं मसूरी से चल दिया।

मसूरी से निकाल दिये जाने के फलस्वरू मुझे दो हफ़्ते

इलाहाबाद रहना पड़ा और इसी अर्से में मैं किसान-आंदोलन में जा फंसा और यों-ज्यों दिन बीतते गए, त्यों-त्यों मैं उसम अधिकाधिक फंसता गया, जिसने मेरे विचारों और दृष्टिकोण पर काफ़ी असर डाला ।

जून १९२० के शुरू में, जहांतक मुझे याद है, कोई दो सौ किसान प्रतापगढ़ के देहात से पचास मील पैदल चलकर इलाहाबाद आये––इस इरादे से कि वे अपने दुःखों और मुसीबतों की तरफ़ वहां के ख़ास-ख़ास राजनैतिक पुरुषों का ध्यान आकर्षित करें। बाबा रामचन्द्र नामक उनके एक अगुवा थे, जो न तो वहां के रहनेवाले ही थे और न ख़ुद किसान ही। मैंने सुना कि किसानों का यह जत्था जमुना के घाट पर डेरा डाले हुए है। मैं कुछ मित्रों के साथ उनसे मिलने गया। उन्होंने बताया कि किस तरह ताल्लुकेदार जोर-जुल्म से वसूली करते हैं, कैसा उनका अमानुषी व्यवहार है और कैसी उनकी असह्य हालत हो गई है। उन्होंने हमसे प्रार्थना की कि हम उनके साथ चलकर उनकी हालत की जांच करें। उनको डर था कि ताल्लुकेदार उनके इलाहाबाद आने पर जरूर बहुत बिगड़ेंगे और उसका बदला लिये बिना न रहेंगे, इसलिए वे चाहते थे कि उनकी हिफ़ाजत के लिए हम उनके साथ रहें। वे हमारे इंकार को मानने के लिए किसी तरह तैयार न थे और सचमुच हमसे बुरी तरह चिपट गए । आख़िर मैंने उनसे वादा किया कि मैं एक-दो रोज बाद जरूर आऊंगा।

मैं कुछ साथियों को लेकर वहां पहुंचा। कोई तीन दिन वहां हम लोग गांव में रहे।

तीन दिन तक मैं गांवों में घूमता रहा और एक बार इलाहाबाद आकर फिर वापस गया । हम गांव-गांव घूमे––किसानों के साथ खाते, उन्हींके साथ उनके कच्चे झोंपड़ों में रहते, घंटों उनसे बातचीत करते और कभी-कभी छोटी-बड़ी सभाओं में व्याख्यान भी देते। शुरू में हम एक छोटी मोटर में गये थे। किसानों में इतना उत्साह था कि सैकड़ों ने रात-रात भर काम

454

करके खेतों के रास्ते कच्ची सड़क तैयार की, जिससे मोटर ठेठ दूर-दूर के गांवों में जा सके। अक्सर मोटर अड़ जाती और बीसों आदमी ख़ुशी-ख़ुशी दौड़कर उसे उठाते। आख़िर को हमें मोटर छोड़ देनी पड़ी और ज़्यादातर सफ़र पैदल ही करना पड़ा। जहां-कहीं हम गए, हमारे साथ पुलिस और ख़ुफ़िया के लोग, और लखनऊ के डिप्टी कलेक्टर रहते थे। मैं समझता हूं, खेतों में हमारे साथ दूर-दूर तक पैदल चलते हुए उनपर एक प्रकार की मुसीबत ही आगई होगी। वे सब थक गए थे और हमसे और किसानों से बिलकुल उकता उठे थे। डिप्टी कलेक्टर थे लखनऊ के एक नाज़ुकमिजाज नौजवान—पम्प शू पहने हुए। कभी-कभी वे हमसे कहते कि जरा धीरे चलें। मैं समझता हूं, आख़िर हमारे साथ चलना उन्हें कठिन हो गया और वे रास्ते में ही कहीं रह गए।

जून का महीना था, जिसमें सबसे ज़्यादा गर्मी पड़ा करती है। बारिश के पहले की उमस थी। सूरज की तेजी बदन को झुलसाये देती थी और आंखों को अन्धा बना देती थी। मुझे धूप में चलने की बिलकुल आदत न थी और इंग्लैंड से लौटने के बाद हर साल गर्मियों में मैं पहाड़ पर चला जाया करता था; किन्तु इस बार मैं दिन भर खुली धूप में घूमता था और सिर पर धूप से बचने के लिए हैट भी न था। सिर्फ़ एक छोटा तौलिया सिर पर लपेट लिया था। दूसरी बातों में मैं इतना मशग़ूल था कि धूप का कुछ ख़याल भी नहीं रहा और इलाहाबाद लौटने पर जब मैंने देखा तो पता चला कि मेरे चेहरे का रंग कितना पक्का हो गया था। मुझे याद पड़ा कि सफ़र में क्या-क्या बीती लेकिन इस बात पर मैं अपने-आपसे भी ख़ुश हुआ, क्योंकि मुझे मालूम हो गया कि बड़े-बड़े मजबूत आदमियों के बराबर मैं धूप को बर्दाश्त कर सका, और मैं जो उससे डरता था उसकी जरूरत नहीं थी। मैंने देख लिया है कि मैं कड़ी-से-कड़ी गर्मी और कड़े-से-कड़े जाड़े को बर्दाश्त कर सकता हूं। इससे मुझे

अपने काम में तथा जेल-जीवन बिताने में बड़ी मदद मिली। इसकी वजह यह थी कि मेरा शरीर आम तौर पर मज़बूत और काम करने के लायक़ था और मैं हमेशा कसरत किया करता था। इसका सबक मैंने पिताजी से सीखा था, जो थोड़े-बहुत कसरती थे और क़रीब-क़रीब अपने आख़िरी दिनों तक उन्होंने रोज़ाना कसरत जारी रखी थी। उनके सिर पर चांदी-से सफेद बाल हो गये थे, चेहरे पर झुर्रियां पड़ गयी थीं और वह विचार करते-करते बूढ़े और थके-से दिखाई देते थे। मगर उनका बाकी शरीर मृत्यु के एक-दो साल पहले तक उनसे बीस बरस कम उम्र के आदमी-का-सा जान पड़ता था।

जून १९२० में प्रतापगढ़ जाने के पहले भी मैं गांवों से अक्सर गुज़रता था। वहां ठहरता था और किसानों से बातचीत भी करता था। बड़े-बड़े मेलों के अवसर पर गंगा-किनारे हज़ारों देहातियों को मैंने देखा था और उनमें होमरूल का प्रचार किया था; लेकिन उस समय मैं यह अच्छी तरह न जानता था कि दरअसल वे क्या हैं और हिन्दुस्तान के लिए उनका क्या महत्त्व है। हममें से ज्यादातर लोगों की तरह मैं भी उनके बारे में कोई विचार नहीं करता था। यह बात मुझे इस प्रतापगढ़ की यात्रा में मालूम हुई और तब से हिन्दुस्तान का जो चित्र मैंने अपने दिमाग़ में बना रखा है, उसमें हमेशा के लिए इस नंगी-भूखी जनता का स्थान बन गया है। सम्भवतः उस हवा में एक क़िस्म की बिजली थी। शायद मेरा दिमाग़ उसका असर अपने पर पड़ने देने के लिए तैयार था और उस समय जो चित्र मैंने देखे और जो छाप मुझपर पड़ी, वह मेरे दिल पर हमेशा के लिए अमिट हो गई।

इन किसानों की बदौलत मेरी झप निकल गइ और मैं सभाओं में बोलना सीख गया। तबतक मैं शायद ही किसी सभा में बोला होऊं। अक्सर हमेशा हिन्दुस्तानी में बोलने की नौबत आती थी और उसके ख़याल से मैं दहशत खाया करता था;

लेकिन मैं किसान-सभाओं में बोलने को कैसे टाल सकता था? और इन सीधे-सादे ग़रीब लोगों के सामने बोलने में झेंपने की भी क्या बात थी? मैं वक्तृत्व-कला तो जानता न था। इसलिए उनके साथ एकदिल होकर बोलता और मेरे दिल और दिमाग़ में जो-कुछ होता था वह सब उनसे कह देता था। लोग चाहे थोड़े हों चाहे हज़ारों की तादाद में हों, मैं हमेशा बात-चीत के या जाती ढंग से ही उनके सामने बोलता, और मैंने देखा कि चाहे कुछ कमी भी उसमें रह जाती हो; लेकिन मेरा काम चल जाता था। मेरे व्याख्यान में प्रवाह काफी रहता था। मैं जो-कुछ कहता था शायद उसका बहुत-कुछ हिस्सा उनमें से बहुतेरे समझ नहीं पाते थे। मेरी भाषा और मेरे विचार इतने सरल न थे कि वे समझ सकते। बहुत लोग तो मेरा भाषण सुन ही नहीं पाते थे, क्योंकि भीड़ तो भारी होती थी और मेरी आवाज़ दूर तक नहीं पहुंच पाती थी; लेकिन जब वे किसी एक शख्स पर भरोसा और श्रद्धा कर लेते हैं, तब इन सब बातों की ज़्यादा परवा उन्हें नहीं रहती।

मैं अपनी मां और पत्नी से मिलने मसूरी गया तो, मगर मेरे दिमाग़ में किसानों की ही बातें भरी थीं और मैं फिर उनमें जाने के लिए उत्सुक था। ज्योंही मैं मसूरी से वापस लौटा फिर गांवों में घूमने चला गया, और मैंने देखा कि किसान-आंदोलन बढ़ता जा रहा था। उन पीड़ित किसानों के अन्दर एक नया आत्म-विश्वास पैदा हो रहा था। वे छाती तानकर और सिर ऊंचा करके चलने लगे थे। जमींदारों के कारिन्दों और पुलिस का डर उनके दिल में कम हो चला था। और यदि किसीका खेत बे-दखल होता था तो कोई दूसरा किसान उसे लेने के लिए आगे नहीं बढ़ता था। जमींदारों के नौकर जो उन्हें मारा-पीटा करते थे और कानून के ख़िलाफ़ उनसे बेगार और लाग लिया करते थे, वह कम हो गया था और जब कभी कोई ज़्यादती होती तो फ़ौरन उसकी रिपोर्ट होती और तहक़ीकात की कोशिश

की जाती। इससे जमींदारों के कारिन्दों और पुलिस की ज़्यादतियों की कुछ रोक हुई। ताल्लुकेदार घबराये और अपनी रक्षा का उपाय करते रहे और प्रान्तीय सरकार ने अवध-काश्तकारी क़ानून में सुधार करने का वादा किया।

: ११ :

असहयोग

पंजाब और ख़िलाफ़त-संबंधी अन्यायों की रोज़ चर्चा होती थी और असहयोग, जिसके बल पर उन अन्यायों को दूर करने की कोशिश की जानेवाली थी, लोगों की ज़बान पर यही विषय रहता था। सब लोगों का ध्यान उसीमें लगा हुआ था। अलबत्ता शुरू में राष्ट्रीय स्वतंत्रता के बड़े प्रश्न, यानी स्वराज्य पर ज़्यादा ज़ोर नहीं दिया जाता था। गांधीजी गोल-मोल और लम्बी-चौड़ी बातों को पसंद नहीं करते थे—वह हमेशा किसी खास और निश्चित बात पर सारी ताकत लगाना ज़्यादा पसंद करते थे। फिर भी स्वराज्य की बातें वायुमंडल में और लोगों के दिमाग़ों में बहुत-कुछ घूमती रहती थीं और जगह-जगह जो सभा-सम्मेलन होते थे, उनमें बार-बार उनका ज़िक्र आया करता था।

पंजाब और ख़िलाफ़त के, और खासकर असहयोग के प्रश्न पर अपना निर्णय देने के लिए १९२० के सितम्बर में कलकत्ता में कांग्रेस का विशेष अधिवेशन हुआ। लाला लाजपतराय उसके सभापति थे, जो लम्बे अरसे तक देश से बाहर रहने के बाद हाल ही अमरीका से लौटे थे। उन्हें असहयोग की यह नई योजना नापसंद थी और उन्होंने उसका विरोध किया था। हिन्दुस्तान की राजनीति में वह आमतौर पर गरम-दल के माने जाते थे; लेकिन उनकी साधारण जीवन-दृष्टि निश्चित रूप से वैध और माडरेट थी।

इस विरोध में लाला लाजपत राय अकेले न थे। उनके साथ

बड़े-बड़े प्रभावशाली लोग भी थे। कांग्रेस के क़रीब-क़रीब सभी पुराने महारथियों ने गांधीजी के असहयोग-प्रस्ताव का विरोध किया था। देशबन्धु दास उस विरोध के अगुआ थे, इसलिए नहीं कि वह उसके मूल भाव को नापसंद करते थे—वह तो उस हद तक बल्कि उससे भी आगे जाने को तैयार थे—बल्कि ख़ासकर इसलिए कि नई कौंसिलों के बहिष्कार पर उन्हें आपत्ति थी।

पुरानी पीढ़ी के बड़े-बड़े नेताओं में एक मेरे पिताजी ही ऐसे थे, जिन्होंने उस समय गांधीजी का साथ दिया। उनके लिए ऐसा करना हँसी-खेल न था।

असहयोग के मानी होते थे उनका वकालत छोड़ देना, जिसके मानी होते थे उनका अपने पुराने जीवन से बिलकुल नाता तोड़ लेना और एक बिलकुल नये जीवन में अपनेको ढालना—यह कोई आसान बात नहीं थी, ख़ासकर उस समय जबकि कोई अपनी साठवीं वर्षगांठ मनाने की तैयारी कर रहा हो। पुराने राजनैतिक साथियों से, अपने पेशे से, उस सामाजिक जीवन से, जिसके वह अबतक आदी थे, सबसे ताल्लुक़ तोड़ना था और कितनी ही ख़र्चीली आदतों को छोड़ देना था, जो अबतक पड़ी हुई थीं। फिर रुपये और खर्च-वर्च का सवाल भी कम महत्त्व का न था और यह जाहिर था कि अगर वक़ालत की आमदनी चली गई तो उन्हें अपने रहन-सहन का स्टैंडर्ड बहुत कम करना होगा। लेकिन उनकी बुद्धि, उनका जबरदस्त स्वाभिमान और उनका गर्व—ये सब मिलकर उन्हें एक-एक कदम नये आन्दोलन की तरफ़ ही बढ़ाते गये, यहांतक कि अंत में वह सोलहों आना उसमें कूद पड़े।

कलकत्ता के विशेष अधिवेशन ने कांग्रेस की राजनीति में गांधीयुग शुरू किया, जो तबसे अबतक कायम है—हां, बीच में थोड़ा-सा समय (१९२२ से १९२९ तक) जरूर ऐसा गया, जिसमें गांधीजी ने अपने-आपको पीछे रख लिया था और स्व-

राज्य-पार्टी को, जिसके नेता देशबन्धु दास और मेरे पिताजी थे, अपना काम करने दिया था। तब से कांग्रेस की सारी दृष्टि ही बदल गई। विलायती कपड़े चले गये और देखते-देखते सिर्फ़ खादी-ही-खादी दिखाई देने लगी। कांग्रेस में नये किस्म के प्रतिनिधि दिखाई देने लगे, जो खास करके मध्यम वर्ग की निचली श्रेणी के थे। हिन्दुस्तानी, और कभी-कभी तो उस प्रांत की भाषा जहां अधिवेशन होता था, अधिकाधिक बोली जाने लगी, क्योंकि कितने ही प्रतिनिधि अंग्रेजी नहीं जानते थे। राष्ट्रीय कामों में विदेशी भाषा का व्यवहार करने के ख़िलाफ़ भी लोगों के भाव तेजी से बढ़ रहे थे और कांग्रेस की सभाओं में साफ़ तौर पर एक नई जिन्दगी, नया जोश और सचाई दिखाई देती थी।

अगले तीन मास में देशभर में असहयोग की लहर बढ़ती चली गई। नई कौंसिलों का बहिष्कार करने की जो अपील की गई थी उसमें आश्चर्यजनक सफलता मिली। यह बात नहीं कि सभी लोग वहां जाने से रुक गये या रुक सकते थे और इस तरह तमाम सीटें खाली रखी जा सकती थीं, बल्कि मुट्ठीभर वोटर भी चुनाव कर सकते थे और अविरोध चुनाव भी हो सकता था। लेकिन हां, यह सच है कि अधिकांश वोटर (मतदाता) वोट देने नहीं गये और वे सब उम्मीदवार जिन्हें देश की पुकार का ख़याल था, कौंसिलों के लिए खड़े नहीं हुए।

यद्यपि देशबन्धु दास तथा दूसरे लोगों ने कलकत्ता-अधिवेशन में बहिष्कार की उपयोगिता पर सन्देह प्रकट किया था तो भी आख़ीर को उन्होंने कांग्रेस के फैसले को माना। चुनाव हो जाने के बाद मतभेद भी दूर हो गया और नागपुर-कांग्रेस (१९२०) में फिर बहुत-से पुराने कांग्रेसी नेता असहयोग के मंच पर आकर मिल गये। उस आन्दोलन की कामयाबी ने बहुतेरे डांवाडोल और सन्देह रखनेवालों को कायल कर दिया था।

फिर भी, कलकत्ता के बाद कुछ पुराने नेता कांग्रेस से पीछे हट गए, जिनमें एक मशहूर और लोकप्रिय नेता थे श्री जिन्ना।

सरोजिनी नायडू ने उन्हें 'हिन्दू-मुस्लिम एकता का राजदूत' कहा था और पिछले दिनों में उन्हींकी बदौलत मुस्लिम लीग का कांग्रेस के नजदीक आना बहुत-कुछ मुमकिन हुआ था, मगर कांग्रेस न बाद में जो रूप धारण किया—असहयोग को तथा अपने नये विधान को अपनाया, जिससे वह ज़्यादातर जनता का संगठन बन गई, वह उन्हें कतई नापसंद था। उनके मतभेद का कारण यों तो राजनैतिक बताया गया था, परन्तु वह मुख्यतः राजनैतिक न था। उस समय की कांग्रेस में ऐसे बहुत-से लोग थे, जो राजनैतिक विचारों में जिन्नासाहब से पीछे ही थे, पर बात यह है कि कांग्रेस के इस नये रंग-रूप से उनके स्वभाव का मेल नहीं खाता था। उस खादीधारी भब्भड़ में, जो हिन्दुस्तानी में व्याख्यान देने की मांग करता था, वह अपनेको बिलकुल बेमेल पाते थे। इस तरह वह कांग्रेस से दूर चले गये और हिन्दुस्तान की राजनीति में अकेले-से पड़ गये। दुःख की बात है कि आगे जाकर एकता का यह पुराना दूत उन प्रतिगामी लोगों में मिल गया, जो मुसलमानों में बहुत ही सम्प्रदायवादी थे।

हममें बहुत-से लोग जो कांग्रेस-कार्यक्रम को पूरा करने में लगे हुए थे, १९२१ में मानो एक क़िस्म के नशे में मतवाले हो रहे थे। हमारे जोश, आशावाद और उछलते हुए उत्साह का ठिकाना न था। हमें ऐसा आनन्द और सुख का स्वाद आता था जैसा किसी शुभ काम के लिए धर्म-युद्ध करनेवाले को होता है। हमारे मन में न शंकाओं क लिए जगह थी, न हिचक के लिए। हमें अपना रास्ता अपने सामने बिलकुल साफ दिखाई देता था और हम आगे बढ़ते चले जाते थे, दूसरों के उत्साह से उत्साहित होते तथा औरों को आगे बढ़ाते थे। हमने जी-जान लगाकर काम करने में कोई बात उठा न रखी। इतनी बड़ी मेहनत हमने कभी न की थी, क्योंकि हम जानते थे कि सरकार से मुक़ाबला शीघ्र ही होनवाला है और सरकार हमें उठाकर अलग कर दे, इससे पहले हम ज़्यादा-से-ज़्यादा काम कर डालना

चाहते थे।

इनसब बातों से बढ़कर हमारे अन्दर आजादी का और आजादी के गर्व का भाव आगया था। यह पुराना भाव कि हम दबे हुए हैं और हमें कामयाबी नहीं हो सकती, बिलकुल चला गया था। अब न तो डर से काना-फूसी होती थी और न गोल-माल कानूनी भाषा इस्तेमाल की जाती थी कि जिससे अधिकारियों के साथ झगड़ा मोल लेने से अपनेको बचाया जा सके। हम वही करते थे जो हम मानते थे और महसूस करते थे और उसे खुल्लम-खुल्ला डंके की चोट कहते थे। हमें उसके नतीजे की क्या परवा थी? जेल? उसकी हम राह ही देख रहे थे। उससे तो हमारे उद्देश्य-सिद्धि में मदद ही पहुंचनेवाली थी। बेशुमार भेदिया और खुफ़िया पुलिस के लोग हमें घेरे रहते थे और हम जहां जाते वहां साथ रहते थे। उनकी हालत दयाजनक हो गई थी, क्योंकि हमारे पास उनके पता लगाने के लिए कोई छिपी बात ही न थी। हमारी सारी बाजी खुली थी।

हमको इस बात का ही सिर्फ़ सन्तोष न था कि हम एक सफल राजनैतिक काम कर रहे हैं, जिससे हमारी आँखों के सामने भारत की तसवीर बदलती जा रही है और जैसा कि हमारा विश्वास था, हिन्दुस्तान की आजादी बहुत नजदीक आ रही है, बल्कि हमारे अन्दर एक नैतिक उच्चता का भाव भी पैदा हो गया था कि हमारे साध्य और साधन दोनों हमारे विरोधियों के मुकाबले में अच्छे और ऊँचे हैं। हमें अपने नेता पर और उसके बताये अप्रतिम उपाय पर गर्व था और कभी-कभी हम अपनेको सत्पुरुष मानने का दावा करने लगते थे। लड़ाई के बीच और स्वयं उसमें लिप्त होते हुए और उसे बढ़ावा देते हुए एक आन्तरिक शान्ति का अनुभव होता था।

ज्यों-ज्यों हमारा नैतिक तेज, हमारा सत्य बढ़ता गया, त्यों-त्यों सरकार का तेज घटता गया। उसकी समझ में नहीं आता

कि यह हो क्या रहा था। ऐसा जान पड़ता था कि हिन्दुस्तान में उसकी परिचित पुरानी दुनिया एकाएक ढही जा रही है। दूर-दूर तक एक नया आक्रामक भाव, आत्मावलम्बन और निर्भयता के भाव फैल रहे हैं और भारत में ब्रिटिश हुकूमत का बहुत बड़ा सहारा——रौब——स्पष्टतया दूर होता जा रहा है। थोड़ा-थोड़ा दमन करने से आन्दोलन उलटा बढ़ता जाता था और सरकार बहुत देर तक बड़े-बड़े नेताओं पर हाथ डालने से हिचकती ही रही। वह नहीं जानती थी कि इसका नतीजा आख़िर क्या होगा। हिन्दुस्तानी फ़ौज पर भरोसा रखा जा सकता है या नहीं? पुलिस हमारे हुक्मों पर अमल करेगी या नहीं? दिसम्बर १९२१ में लार्ड रीडिंग ने तो कही दिया था कि हम 'हैरान और परेशान' हो रहे हैं।

: १२ :

मेरी पहली जेल-यात्रा

असहयोग-आन्दोलन ने मुझे वह चीज दी, जो मैं चाहता था——क़ौमी आजादी का ध्येय और (जैसा मैंने समझा) निचले दर्जे के लोगों के शोषण का अन्त कर देना, और ऐसे साधन जो मेरे नैतिक भावों के अनुकूल थे और जिन्होंने मुझे व्यक्तिगत स्वतंत्रता का भान कराया। यह व्यक्तिगत सन्तोष मुझे इतना ज़्यादा मिला कि नाकामयाबी के अन्देशे की भी मैं ज़्यादा परवा न करता था, क्योंकि ऐसी असफलता तो थोड़े समय के लिए ही हो सकती थी। भगवद्गीता के आध्यात्मिक भाग को मैंने न तो समझा था और न उसकी तरफ़ मेरा खिचाव ही हुआ था, लेकिन हां, उन श्लोकों को पढ़ना पसंद करता था, जो शाम को गांधी-जी के आश्रम में प्रार्थना के समय पढ़े जाते थे, और जिनमें यह बतलाया गया है कि मनुष्य को कैसा होना चाहिए, शांत, स्थिर, गम्भीर, अचल, निष्काम भाव से कर्म करनेवाला

और फल के विषय में अनासक्त। मैं खुद बहुत शांत-स्वभाव का या अनासक्त नहीं हूं, इसीलिए शायद यह आदर्श मुझे अच्छा लगा होगा।

मैं आन्दोलन में दिलोजान से जुट पड़ा और दूसरे बहुत-से लोगों ने भी ऐसा किया। मैंने अपने दूसरे कामकाज और संबंध, पुराने मित्र, पुस्तकें और अखबार तक, सिवा उस हद तक कि जितना उनका चालू काम से ताल्लुक था, सब छोड़ दिये। उस समय तक मेरा सामयिक किताबों का कुछ-कुछ पढ़ना जारी था और संसार में क्या-क्या घटनाएं घटती जाती हैं इसको जानने की कोशिश करता था। मगर अब तो इसके लिए वक़्त ही नहीं था। हालांकि पारिवारिक मोह जबरदस्त था, मगर मैं अपने परिवार, अपनी पत्नी, अपनी बेटी, सबको क़रीब-क़रीब भूल ही गया था। बहुत अरसे के बाद मुझे मालूम हुआ कि उन दिनों मैं उनकी कितनी कठिनाई और कितने कष्टों का कारण बन गया था और मेरी पत्नी ने मेरे प्रति कितने विलक्षण धीरज और सहनशीलता का परिचय दिया था। दफ्तर और कमेटी की बैठकें और लोगों की भीड़ ही मानो मेरा घर बन गया था। 'गांवों में जाओ' यही सबकी आवाज थी, और हम कोसों खेतों में चलकर जाते थे, दूर-दूर के गांवों में पहुँचते थे और किसानों की सभाओं में भाषण देते थे। मैं रोम-रोम में जनता की सामूहिक भावना का और जनता को प्रभावित करने की शक्ति का अनुभव करता था। मैं कुछ-कुछ भीड़ की मनोभावना व शहर की जनता और किसानों के फ़र्क को समझने लगा और मुझे धूल और तकलीफों और बड़े-बड़े मजमों के धक्कम-धक्कों में मजा आने लगा, हालांकि उनमें अनुशासन न होने से मैं अक्सर चिढ़ जाता था। उसके बाद कभी-कभी मुझे ऐसे विरोधी और क्रुद्ध जन-समूहों के सामने भी जाना पड़ा है, जिनकी उग्रता इतनी बढ़ी हुई थी कि एक चिनगारी भी उन्हें भड़का सकती थी; पर शुरू के तजुर्बे से और उससे उत्पन्न आत्म-

विश्वास से मुझे बड़ी मदद मिली। मैं हमेशा विश्वास के साथ सीधा भीड़ में घुस जाता। अभी तक तो उसने मेरे प्रति सद्व्यवहार और गुण-ग्राहकता का ही परिचय दिया है,चाहे मेरी बात उसके गले उतरी न हो।

१९२१ भर कांग्रेस-कार्यकर्त्ताओं की व्यक्तिगत गिरफ़्तारियां और सज़ाएं होती रहीं, मगर सामूहिक गिरफ़्तारियां नहीं हुईं। अली-बन्धुओं को हिन्दुस्तानी फ़ौज में असंतोष पैदा करने के लिए लम्बी-लम्बी सजाएं दी गईं थीं। जिन शब्दों के लिए उन्हें सजा मिली थी, उनको सैकड़ों मंचों से हज़ारों आदमियों ने दोहराया। अपने कुछ भाषणों के कारण राजद्रोह का मुकदमा चलाये जाने की धमकी मुझे गर्मियों में दी गई थी। मगर उस वक़्त ऐसी कोई कार्रवाई नहीं की गई। साल के अख़ीर में मामला बहुत अधिक बढ़ गया। युवराज हिंदुस्तान आने वाले थे और उनके आगमन के संबंध में की जानेवाली तमाम कार्रवाइयों का बहिष्कार करने की घोषणा कांग्रेस ने कर दी थी। नवम्बर के अख़ीर तक बंगाल में कांग्रेस के स्वयं-सेवक ग़ैरक़ानूनी करार दे दिये गए और फिर युक्तप्रांत के लिए भी ऐसी ही घोषणा निकल गई। देशबन्धुदास ने बंगाल को एक बड़ा जोशीला संदेश दिया—"मैं अनुभव करता हूं कि मेरे हाथों में हथकड़ियां पड़ी हुई हैं और मेरा सारा शरीर लोहे की वजनी जंजीरों से जकड़ा हुआ है। यह है ग़ुलामी की वेदना और यंत्रणा। सारा हिंदुस्तान एक बड़ा जेलखाना हो गया है। कांग्रेस का काम हर हालत में जारी रहना चाहिए—इसकी परवा नहीं कि मैं पकड़ लिया जाऊं या न पकड़ा जाऊं; इसकी परवा नहीं कि मैं मर जाऊं या जिन्दा रहूं।" यू. पी. में भी हमने सरकार की चुनौती स्वीकार कर ली। हमने न सिर्फ़ यही ऐलान किया कि हमारा स्वयं-सेवक संगठन कायम रहेगा, बल्कि दैनिक पत्रों में अपने स्वयं-सेवकों की नामावलियां भी छपवा दीं। पहली

फ़ेहरिस्त में सबसे ऊपर मेरे पिताजी का नाम था। वह स्वयंसेवक तो नहीं थे; मगर सिर्फ़ सरकारी आज्ञा का उल्लंघन करने के लिए ही वह शामिल हो गए थे और उन्होंने अपना नाम दे दिया था। दिसम्बर के शुरू में ही, हमारे प्रांत में युवराज के आने के कुछ ही दिन पहले, सामूहिक गिरफ़्तारियां शुरू हुईं।

हमने जान लिया कि आख़िर अब पासा पड़ चुका है और कांग्रेस और सरकार का अनिवार्य संघर्ष अब होने ही वाला है। अभी तक जेल एक अपरिचित जगह थी और वहां जाना एक नई बात थी। एक दिन मैं इलाहाबाद के कांग्रेस-दफ़्तर में ज़रा देर तक बक़ाया काम निपटा रहा था। इतने ही में एक क्लर्क ज़रा उत्तेजित होता हुआ आया और उसने कहा कि पुलिस तलाशी का वारंट लेकर आई है और दफ़्तर की इमारत को घेर रही है। निःसंदेह मैं भी थोड़ा उत्तेजित तो हो गया, क्योंकि मेरे लिए भी इस तरह की यह पहली ही बात थी, मगर दृढ़, शांत और निश्चिंत प्रतीत होने तथा पुलिस के आने और जाने से प्रभावित न होने की अभिलाषा प्रबल थी। इसलिए मैंने एक क्लर्क से कहा कि जब पुलिस-अफ़सर दफ़्तर के कमरों में तलाशी ले तो तुम उसके साथ-साथ रहो और बाकी कर्मचारियों से अपना-अपना काम सदा की तरह करने और पुलिस की तरफ़ ध्यान न देने के लिए कहा। कुछ देर के बाद एक मित्र व साथी कार्यकर्त्ता, जो दफ़्तर के बाहर ही गिरफ़्तार कर लिये गए थे, एक पुलिस-मैन के साथ मेरे पास मुझसे विदा लेने आए। मुझे इन नई घटनाओं को मामूली घटनाएं समझना चाहिए, यह अभिमान मुझमें इतना भर गया था कि मैं अपने साथी कार्यकर्त्ता के साथ बिलकुल रुखाई से पेश आया। उनसे और पुलिस-मैन से मैंने कहा कि मैं जबतक अपनी चिट्ठी पूरी न कर लूं, तबतक ज़रा ठहरे रहें। जल्दी ही शहर में और भी लोगों के गिरफ़्तार होने की ख़बर आई। आख़िरकार मैंने यह तय किया कि मैं घर जाऊं और

देखूं कि वहां क्या हो रहा है। वहां भी पुलिस के दर्शन हुए। वह हमारे उस लम्बे-चौड़े घर के एक हिस्से की तलाशी ले रही थी और मालूम हुआ कि पिताजी और मुझे दोनों को गिरफ़्तार करने आई है।

युवराज के आगमन के बहिष्कार-संबंधी कार्यक्रम के लिए हमारा और कोई कार्य इतना उपयुक्त न होता। युवराज जहां-जहां गए, वहां-वहां उन्हें हड़तालें और सूनी सड़क ही मिली। जब वह इलाहाबाद आये तो वह एक सुनसान शहर मालूम पड़ा। कुछ दिनों बाद कलकत्ता ने भी कुछ समय के लिए अचानक अपना सारा कारोबार बन्द कर दिया। युवराज के लिए यह सब एक मुसीबत थी, मगर उनका कोई कसूर न था और न उनके ख़िलाफ़ कोई दुर्भावना थी। हां, हिन्दुस्तान की सरकार ने अलबत्ता उनके व्यक्तित्व का बेजा फ़ायदा उठाने की कोशिश की थी, इसलिए कि अपनी गिरती हुई प्रतिष्ठा को बनाये रख सके।

मुझे और पिताजी को अलग-अलग जुर्मों में अलग-अलग अदालतों ने ६-६ महीने की सज़ाएँ दी थीं। मुक़दमे महज़ तमाशे थे और अपनी रीति के अनुसार हम लोगों ने उनमें कोई हिस्सा नहीं लिया था। इसमें कोई शक नहीं कि हमारे सब व्याख्यानों में और दूसरी हलचलों में सज़ा दिलाने के लिए काफ़ी मसाला ढूंढ निकालना बहुत आसान था; लेकिन सजा दिलाने के लिए जो मसाला दरअसल पसंद किया गया वह बड़ा मजेदार था। पिताजी पर एक गैर-क़ानूनी जमात का मेम्बर—कांग्रेस-स्वयंसेवक—होने के जुर्म में मुकदमा चलाया गया था और इस जुर्म को साबित करने के लिए एक फ़ार्म पेश किया गया, जिसमें हिन्दी में उनके दस्तख़त दिखाए गए थे। बेशक दस्तख़त उन्हींके थे, लेकिन असल में हुआ यह कि इससे पहले उन्होंने प्रायः कभी हिन्दी में दस्तख़त किये ही नहीं थे। इसलिए बहुत ही कम लोग उनके हिन्दी के दस्तख़त पहचान सकते थे। लेकिन अदालत में एक फटे-हाल महाशय पेश

किये गए, जिन्होंने हलफ़िया बयान दिया कि वे दस्तख़त मोतीलालजी के ही हैं। वह महाशय बिलकुल अपढ़ थे और जब उन्होंने दस्तख़तों को देखा, तब वह फार्म को उलटा पकड़े हुए थे।

मेरा जुर्म यह था कि मैंने हड़ताल कराने के लिए नोटिसें बांटी थीं। उन दिनों यह कोई जुर्म न था—यद्यपि मेरा ख़याल है कि इस वक़्त ऐसा करना जुर्म है, क्योंकि हम बड़ी तेजी के साथ औपनिवेशिक स्वराज्य (डोमीनियन स्टेटस) की तरफ़ बढ़ते जा रहे थे—फिर भी मुझे सज़ा दे दी गई! तीन महीने बाद जब मैं पिताजी तथा दूसरे लोगों के साथ जेल में था तब मुझे इत्तला मिली कि मुकदमों पर पुनर्विचार करनेवाले कोई अफसर इस नतीजे पर पहुंचे हैं कि मुझे जो सजा दी गई है वह ग़लत है और इसलिए मुझे छोड़ा जायगा। मुझे इस बात से बड़ा अचरज हुआ, क्योंकि मेरे मुक़दमे पर पुनर्विचार कराने के लिए मेरी तरफ़ से किसीने कोई कार्रवाई नहीं की थी। ऐसा मालूम पड़ता है कि सत्याग्रह[1] स्थगित हो जाने पर जजों में मुकदमों पर पुनर्विचार

---

१ फरवरी १९२२ में चौरीचौरा-कांड के बाद ही गांधीजी ने सत्याग्रह-संग्राम स्थगित कर दिया। पंडितजी ने इस घटना पर अपनी प्रतिक्रिया इन शब्दों में व्यक्त की है—

"अचानक १९२२ की फरवरी के शुरू में ही सारा दृश्य बदल गया और जेल में ही हमने बड़े आश्चर्य और भय के साथ सुना कि गांधीजी ने सविनय-भंग की लड़ाई रोक दी और सत्याग्रह स्थगित कर दिया ह। हमने पढ़ा कि यह इसलिए किया गया कि चौरी-चौरा नामक गांव के पास लोगों की एक भीड़ ने बदले में पुलिस-स्टेशन में आग लगा दी थी और उसमें करीब आधे दर्जन पुलिसवालों को जला डाला था।

"जब हमें मालूम हुआ कि ऐसे वक्त में, जबकि हम अपनी स्थिति मज़बूत करते जा रहे थे और सभी मोर्चों पर आगे बढ़ रहे थे, हमारी लड़ाई बन्द कर दी गई है तो हम बहुत बिगड़े। मगर हम जेलवालों की मायूसी और नाराज़गी से क्या हो सकता था? सत्याग्रह बन्द हो गया और उसके साथ ही असहयोग भी जाता रहा। कई महीनों की दिक्कत और परेशानी के बाद सरकार को आराम की सांस मिली, और पहली बार उसे

करने का जोश एकाएक उमड़ आया हो। मुझे पिताजी को जेल में छोड़कर बाहर जाने में बहुत दुःख हुआ।

मैंने तय कर लिया था कि अब फ़ौरन ही अहमदाबाद जाकर गांधीजी से मिलूंगा लेकिन मेरे वहां पहुंचने से पहले वह गिरफ़्तार हो चुके थे। इसलिए उनसे मैं साबरमती-जेल में ही जाकर मिल सका। उनके मुक़दमे के वक़्त मैं अदालत में मौजूद था। वह एक हमेशा याद रखने लायक प्रसंग था और हममें से जो लोग उस वक़्त वहां मौजूद थे, वे शायद उसे कभी भूल नहीं सकते। जज एक अंग्रेज था। उसने अपने व्यवहार में काफी शराफत और सद्-भावना दिखाई। अदालत में गांधीजी ने जो बयान दिया वह दिलों पर बहुत असर डालनेवाला था। हम लोग वहां से जब लौटे तब हमारे दिल हिलोरें ले रहे थे और उनके ज्वलंत वाक्यों और उनके चमत्कारी भावों और विचारों की गहरी छाप हमारे मन पर पड़ी हुई थी।

मैं इलाहाबाद लौट आया। मुझे एक ऐसे वक़्त पर जेल से बाहर रहना बहुत सुनसान और दुःखप्रद मालूम हुआ, जबकि मेरे इतने दोस्त और साथी जेल के सीख़चों के अन्दर बन्द थे। बाहर आकर मैंने देखा कि कांग्रेस का संगठन ठीक-ठीक काम नहीं कर रहा है और मैंने उसे ठीक करने की कोशिश की। ख़ास-तौर पर मैंने विलायती कपड़े के बहिष्कार में दिलचस्पी ली। सत्याग्रह के वापस ले लिये जाने पर भी हमारे कार्यक्रम का वह हिस्सा अब भी चालू था। इलाहाबाद के कपड़े के क़रीब-क़रीब तमाम व्यापारियों ने यह वायदा किया था कि वे न तो विलायती कपड़ा हिन्दुस्तानमें ही किसीसे खरीदेंगे न विलायतसे ही मंगवायेंगे

अपनी तरफ़ से हमला शुरू करने का मौक़ा मिला। कुछ हफ़्तों बाद उसने गांधीजी को गिरफ़्तार कर लिया और उन्हें लम्बी क़ैद की सजा दे दी।—" —संपादक

इस मतलब के लिए उन्होंने एक मंडल भी क़ायम कर लिया था। मंडल के क़ायदों में यह लिखा हुआ था कि जो अपना वादा तोड़ेगा उसे जुर्माने की सज़ा दी जायगी। मैंने देखा कि कपड़े के कई बड़े-बड़े व्यापारियों ने अपना वादा तोड़ दिया है और वे विदेशों से विलायती कपड़ा मँगा रहे हैं। यह उन लोगों के साथ बहुत बड़ी बेइंसाफी थी, जो अपने वादे पर डटे हुए थे। हम लोगों ने कहा-सुनी की, लेकिन कुछ नतीजा न निकला और कपड़े के दूकानदारों का मंडल किसी कारगर काम के लिए बिलकुल बेकार साबित हुआ। इसलिए हम लोगों ने तय किया कि वादा तोड़ने-वाले दूकानदारों की दुकानों पर धरना दिया जाय। हमारे काम के लिए धरने का इशारा भर काफी था। बस जुर्माने दे दिए गए और नये सिरे से फिर वादे कर लिये गए। जुर्मानों से जो रुपया आया वह दूकानदारों के मंडल के पास गया।

दो-तीन दिन बाद अपने कई साथियों के साथ मुझे गिरफ्तार कर लिया गया। ये साथी वे लोग थे, जिन्होंने दूकानदारों के साथ बातचीत करने में हिस्सा लिया था। हमारे ऊपर जबरदस्ती रुपया ऐंठने और लोगों को डराने का जुर्म लगाया गया। मेरे ऊपर राजद्रोह सहित कुछ और भी जुर्म लगाए गए। मैंने अपनी कोई सफाई नहीं दी, अदालत में सिर्फ एक लंबा बयान दिया। मुझे कम-से-कम तीन जुर्मों में सजा दी गई, जिनमें जबरदस्ती रुपया ऐंठने, लोगों को दबाने के जुर्म भी शामिल थे। लेकिन राजद्रोहवाला मामला नहीं चलाया गया, क्योंकि सम्भवतः यह सोचा गया कि मुझे जितनी सजा मिलनी चाहिए थी वह पहले ही मिल चुकी है। जहाँतक मुझे याद है, मुझे तीन सजाएं दी गईं, जिनमें दो अठारह-अठारह महीने की थीं और वे एक-साथ चलने को थीं। मेरा खयाल है कि कुल मिलाकर मुझे एक साल नौ महीने की सजा दी गई थी। यह मेरी दूसरी सजा थी। मैं हफ़्ते के करीब जेल से बाहर रहकर फिर वहीं चला गया।

: १३ :

लखनऊ-जेल

१९२१ में हिन्दुस्तान में राजनैतिक अपराधों के लिए जेल जाना कोई नई बात नहीं थी। खासकर बंग-भंग आन्दोलन के वक़्त से बराबर ऐसे लोगों का तांता लगा रहा, जो जेल जाते थे और उनको अक्सर लम्बी-लम्बी सजाएं होती थीं। बग़ैर मुक़दमा चलाये नजरबन्दियां भी होती थीं। लोकमान्य तिलक को, जो अपने समय के हिन्दुस्तान के सबसे बड़े नेता थे, उनकी ढलती हुई उम्र में छह साल क़ैद की सजा दी गई थी।

मगर फिर भी १९२१ में जेलख़ाना क़रीब-क़रीब एक अज्ञात जगह थी और बहुत कम लोग जानते थे कि नये सजायाफ़्ता आदमियों को अपने अन्दर निगल जानेवाले डरावने फाटक के भीतर क्या होता है? अन्दाज से हम कुछ-कुछ ऐसा समझते थे कि जेल के अन्दर बड़े-बड़े खतरनाक जीव होंगे, जिनके लिए कुछ भी कर गुजरना बायें हाथ का खेल होगा। हमारे ख़याल से जेल एकांत, बेइज़्जती और कष्टों की जगह थी और सबसे बड़ी बात यह थी कि उसके साथ अनजानी जगह होने का खौफ़ लगा हुआ था।

हमारे साथ के ज़्यादातर क़ैदी जेल के भीतरी चक्कर की बड़ी-बड़ी बैरकों में रक्खे जाते थे। उनमें से अठारह को, जिन्हें मेरे अनुमान से अच्छे बर्ताव के लिए चुना गया था, एक पुराने वीविंग-शेड में रक्खा गया था, जिसके साथ एक बड़ी खुली हुई जगह थी। मेरे पिताजी, मेरे दो चचेरे भाई और मेरे लिए एक अलग सायबान था, जो क़रीब-क़रीब २० × १६ फुट का था। हमें एक बैरक से दूसरी बैरक में आने-जाने की काफी आजादी थी। बाहर के रिश्तेदारों से काफी मुलाकातें करने की इजाजत थी। अख़बार आते थे और नई गिरफ़्तारियों और हमारी लड़ाई की बढ़ती की ताज़ी घटनाओं

की रोजाना ख़बरों से जोश का वातारवण रहता था। आपसी बात-चीत और बहस में बहुत वक़्त जाता था और मैं पढ़ना या दूसरा ठोस काम कुछ नहीं कर पाता था। मैं सुबह का वक़्त अपने सायबान को अच्छी तरह साफ करने और धोने में, पिताजी के और अपने कपड़े धोने में और चर्ख़ा कातने में गुजारा करता था। वे जाड़े के दिन थे,जो कि उत्तर हिंदुस्तान का सबसे अच्छा मौसम है। शुरू के कुछ हफ़्तों में हमें अपने स्वयंसेवकों के लिए, या उनमें जो अपढ़ थे उनके लिए, हिन्दी, उर्दू और दूसरे प्रारम्भिक विषय पढ़ाने के लिए क्लास खोलने की इजाजत मिल गई थी। तीसरे पहर हम वाली-बॉल खेला करते थे।

धीरे-धीरे बंधन बढ़ने लगे। हमें अपने अहाते से बाहर जाने और जेल के उस हिस्से में,जहां हमारे ज़्यादातर स्वयंसेवक रक्खे गये थे, पहुँचने से रोक दिया गया। तब पढ़ाई के क्लास अपने-आप बन्द हो गये। क़रीब-क़रीब उसी वक़्त मैं जेल से छोड़ दिया गया।

मैं शुरू मार्च में बाहर निकला और छः या सात हफ़्ते बाद, अप्रैल में फिर जेल लौट आया। तब क्या देखता हूँ कि हालत बदल गई है। पिताजी को बदलकर नैनीताल-जेल में भेज दिया गया था, और उनके जाने के बाद फौरन ही नये कायदे लागू कर दिये गए थे। बड़े वीविंग-शेड के, जहां पहले मैं रखा गया था सारे कैदी भीतरी जेल में बदल दिये गए थे और वहां बैरकों में रख दिये गए थे। हरएक बैरक करीब-करीब जेल के अन्दर दूसरी जेल ही थी। दूसरी बैरकों से मिलने-जुलने या बात-चीत करने की इजाजत नहीं थी। मुलाकात और खत अब कम किये जाकर महीने भर में एक कर दिए गए। खाना बहुत मामली कर दिया गया, हालांकि हमें बाहर से खाने की चीजें मंगाने की इजाजत थी।

जिस बैरक में मैं रखा गया था, उसमें करीब पचास

आदमी रहते होंगे। हम सबको एक साथ ठूंस दिया गया, हमारे बिस्तरे एक दूसरे से तीन-चार फुट के फासले पर थे। खुशकिस्मती से उस बैरक का क़रीब-क़रीब हरएक आदमी मेरा जाना हुआ था और कई मेरे दोस्त भी थे। मगर दिन-रात एकांत का बिलकुल न मिलना नागवार होता गया। हमेशा उसी झुंड को देखना, वही छोटे-छोटे झगड़े-टंटे चलते रहना और इन सबसे बचकर शांति का कोई कोना भी बिलकुल न मिलना! हम सबके सामने नहाते, सबके सामने कपड़े धोते, कसरत के लिए बैरकों के चारों तरफ चक्कर लगाकर दौड़ते और बात-चीत इस हद तक करते कि दिमाग़ थक जाता और सोच-समझकर बात भी करने की ताकत न रह जाती थी। यह कौटुम्बिक जीवन का एक नीरस––सौगुना नीरस दृश्य था, जिसमें उसका आनन्द, उसकी शोभा और सुख-सुविधा का अंश बहुत कम था और फिर ऐसे लोगों का साथ, जो भिन्न-भिन्न तरह के स्वभाव और रुचियों के थे। हम सबके मन में इस बात का बड़ा उद्वेग रहता था और मैं तो अक्सर अकेला रहने के लिए तरसता रहता था। कुछ सालों के बाद तो जेल में मुझे खूब एकान्त और अकेलापन मिल गया। ––ऐसा कि महीनों तक लगातार मझे किसी जेल-अधिकारी के सिवा और किसीकी सूरत भी दिखाई न देती। तब फिर मेरे मन में उद्वेग रहने लगा––और इस बार अच्छे साथियों की जरूरत महसूस करता था। अब मैं कभी-कभी १९२२ में लखनऊ जिला-जेल में इकट्ठा रहने के दिनों की रश्क के साथ याद करता था। फिर भी मैं खूब अच्छी तरह जानता था कि दोनों हालतों में से मुझे अकेलापन ही ज्यादा पसन्द आया है, बशर्ते कि मुझे पढ़ने और लिखने की सुविधा हो।

फिर भी मुझे कहना होगा कि उस वक़्त के साथी निहायत अच्छे और खुश-मिजाज थे और हम सबकी अच्छी बनी। मगर मेरा खयाल है कि हम कभी-कभी एक-दूसरे-से तंग-से आ जाते थे और अलहदा होकर कुछ एकान्त में रहना चाहते थे।

ज़्यादा-से-ज़्यादा एकान्त जो मैं पा सकता था वह यही था कि बैरक छोड़कर अहाते के खुले हिस्से में आ बैठता था। उन दिनों बारिश का मौसम था और बादल होने के कारण बाहर बैठा जा सकता था। मैं गरमी और कभी-कभी बूंदा-बांदी सहन कर लेता था और ज़्यादा-से-ज़्यादा वक़्त बैरक के बाहर बिताया करता था।

खुले हिस्से में लेटकर मैं आकाश तथा बादलों को निहारा करता था और अनुभव करता था कि बादलों के नित-नये रंग कितने सुन्दर होते हैं ! यह सौंदर्य मैंने पहले नहीं देखा था।

"अहो ! मेघमालाओं का यह
पल-पल रूप पलटना;
कितना मधुर स्वप्न है लेटे-
लेटे इन्हें निरखना !"[1]

लेकिन वह समय मेरे लिए सुख और आनन्द का न था, वह तो मेरे लिए भार-स्वरूप था। मगर जो वक्त मैं इन सतत नये रूप धारण करनेवाले बरसाती बादलों को देखने में बिताता था वह आनन्द से भरा रहता था और मुझे राहत मालूम होती थी। मुझे ऐसा आनन्द होता मानो मैंने कोई आविष्कार किया हो और ऐसी भावना पैदा होती मानो मैं कैद से छुटकारा पा गया हूँ। मैं नहीं जानता कि खास उसी वर्षा-ऋतु ने मुझपर इतना असर क्यों डाला; इससे पहले या बाद के किसी साल की भी वर्षा-ऋतु ने इस तरह प्रभावित क्यों नहीं किया ! मैंने कई बार पहाड़ों पर और समुद्र पर सूर्योदय और सूर्यास्त के मनोरम दृश्य देखे थे, उनकी शोभा की सराहना की थी, उस समय का आनन्द लूटा था तथा उनकी महान् भव्यता और सुन्दरता से अभिभूत हो उठा था। मगर मैं उनको देखकर यही ख़याल कर लेता कि ये तो रोज की बातें हैं और दूसरी बातों की तरफ ध्यान देने लगता। मगर जेल में तो सूर्योदय और सूर्यास्त दिखाई नहीं

---

१. अंग्रेज़ी कविता का भावानुवाद।

देते थे। क्षितिज हमसे छिपा हुआ था और प्रातःकाल तप्त सूर्य हमारी रक्षक दीवारों के ऊपर देर से निकलता था। कहीं चित्र-विचित्र रंग का नामो-निशान नहीं था और हमारी आंखें सदा उन्हीं मटमैली दीवारों और बैरकों का दृश्य देखते-देखते पथरा गई थीं। वे तरह-तरह के प्रकाश, छाया और रंगों को देखने के लिए भूखी हो रही थीं और जब बरसाती बादल अठखेलियां करते हुए, तरह-तरह की शकलें बनाते हुए, भिन्न-भिन्न प्रकार के रंग धारण करते हुए हवा में थिरकने लगते तो मैं पागलों की तरह आश्चर्य और आह्लाद से उन्हें निहारा करता। कभी-कभी बादलों का तांता टूट जाता और इस प्रकार जो छिद्र हो जाता उसके भीतर से वर्षा-ऋतु का एक अद्भुत दृश्य दिखाई देता था। उस छिद्र में से अत्यन्त गहरा नीला आसमान नजर आता था, जो अनन्त का ही एक हिस्सा मालूम होता था।

हमारे ऊपर सख़्तियां धीरे-धीरे बढ़ने लगीं और ज़्यादा-से-ज़्यादा सख़्त कायदे लागू किये जाने लगे। सरकार ने हमारे आन्दोलन की नाप-जोख कर ली थी, और वह हमें यह महसूस करा देना चाहती थी कि हमारे मुकाबला करने की हिम्मत करने के सबब से वह हमपर किस कदर नाराज है। नये कायदों के चालू करने या उनके अमल में लाने के तरीकों से जेल-अधिकारियों और राजनैतिक कैदियों के बीच झगड़े होने लग। कई महीनों तक करीब-करीब हम सबने——हम लोगों की संख्या उसी जेल में कई सौ थी——विरोध के तौर पर मुलाकातें करना छोड़ दिया था। जाहिर है कि यह खयाल किया गया कि हममें से कुछ झगड़ा करानेवाले हैं, इसलिए सात आदमियों को जेल के एक दूसरे हिस्से में बदल दिया गया, जो खास बैरकों से बिलकुल अलहदा था। इस तरह जिन लोगों को अलग किया गया, उनमें मैं, पुरुषोत्तमदास टण्डन, महादेव देसाई, जार्ज जोसफ, बालकृष्ण शर्मा और देवदास गांधी थे।

हमें एक छोटे-से अहाते में भेजा गया और वहां रहने में कुछ तकलीफें भी थीं। मगर कुल मिलाकर मुझे तो इस तबदीली से खुशी ही हुई। यहां भीड़-भाड़ नहीं थी, हम ज्यादा शांति और ज़्यादा एकांत से रह सकते थे। पढ़ने या दूसरे काम के लिए वक़्त ज़्यादा मिलता था। हम जेल के दूसरे हिस्सों के अपने साथी कैदियों से अलहदा कर दिये गए और बाहरी दुनिया से भी अलहदा कर दिये गए, क्योंकि अब सब राजनैतिक कैदियों के लिए अखबार भी बन्द कर दिये गए थे।

हमारे पास अखबार नहीं आते थे, मगर बाहर से कोई-कोई खबर अन्दर टपक आती थी, जैसे कि जेलों में अक्सर टपका करती हैं। हमारी माहवारी मुलाकातों और खतों से भी हमें बाज़-बाज़ ऐसी-वैसी खबरें मिल जाती थीं। हमको पता लगा कि हमारा आन्दोलन बाहर कमज़ोर हो रहा है। वह चमत्कारिक युग गुज़र गया था और कामयाबी धुंधले भविष्य में दूर जाती हुई मालूम हुई। बाहर, कांग्रेस में दो दल हो गये थे—परिवर्तनवादी और अपरिवर्तनवादी। पहला दल, जिसके नेता देशबन्धुदास और मेरे पिताजी थे, चाहता था कि कांग्रेस अगले केन्द्रीय और प्रान्तीय कौंसिलों के चुनावों में हिस्सा ले और हो सके तो इन कौंसिलों पर कब्ज़ा कर ले। दूसरा दल, जिसके नेता राजगोपालाचार्य थे, असहयोग के पुराने कार्यक्रम में कोई परिवर्तन किये जाने के विरुद्ध था। उस समय गांधीजी तो जेल में ही थे।

हम रोजाना कुछ काम और कसरत करने में जुट पड़ते। कसरत के लिए हम उस छोटे-से अहात के चारों तरफ़ दौड़कर चक्कर लगाया करते थे, या दो बैलों की तरह से दो-दो आदमी मिलकर अपने सहन के कुएं से एक बड़ा चमड़े का डोल खींचा करते थे। इस तरह हम अपने अहाते के एक छोटे-से साग-सब्ज़ी के खेत में पानी देते थे। हममें से ज़्यादातर लोग रोज़ाना थोड़ा-थोड़ा सूत भी कातते थे। मगर उन जाड़े के दिनों और

लम्बी रातों में पढ़ना ही मेरा खास काम था। करीब-करीब हमेशा जब-जब सुपरिण्टेण्डेण्ट आता तो वह मुझे पढ़ता हुआ देखता था। यह पढ़ते रहने की आदत शायद उसे खटकी और उसने इसपर एक बार कुछ कहा भी। उसने यह भी कहा कि मैंने तो अपना साधारण पढ़ना बारह साल की उम्र में ही ख़त्म कर दिया था! बेशक, पढ़ना छोड़ देने से उस बहादुर अंग्रेज कर्नल को यह फ़ायदा ही हुआ कि उसे बेचैनी पैदा करनेवाले विचार आये ही नहीं।

जाड़े की लम्बी रातों और हिन्दुस्तान के साफ़ आसमान ने हमारा ध्यान तारों की तरफ खींचा और कुछ नक़्शों की मदद से हमने कई तारे पहचान लिये। हर रात हम उनके उगने का इन्तजार करते थे और मानो अपने पुराने परिचितों के दर्शन करते हों, इस आनन्द से उनका स्वागत करते थे।

इस तरह हम अपना वक़्त गुज़ारते थे। दिन गुज़रते-गुजरते हफ़्ते हो जाते और हफ़्ते महीने हो जाते। हम अपनी रोज़मर्रा की रहन-सहन के आदी हो गये। मगर बाहर की दुनिया में असली बोझ तो हमारे महिला-वर्ग पर—हमारी माताओं, पत्नियों और बहनों पर पड़ा। वे इन्तजार करते-करते थक गईं और जब उनके प्रियजन जेल की सीखचों में बन्द थे, उन्हें अपनेको आजाद रखना बहुत खटकता था।

दिसम्बर १९२१ में हमारी पहली गिरफ़्तारी के बाद ही इलाहाबाद के हमारे मकान, आनन्द-भवन, में पुलिसवालों ने अक्सर आना-जाना शुरू किया। वे उन जुर्मानों को वसूल करने आते थे, जो पिताजी पर और मुझपर किये गये थे। कांग्रेस की नीति यह थी कि जुर्माना न दिया जाय। इसलिए पुलिस रोज-रोज आती और कुछ-न-कुछ फर्नीचर कुर्क करके उठा ले जाती। मेरी चार साल की छोटी लड़की इन्दिरा इस बार-बार की लगातार लूट से बहुत नाराज होती थी। उसने पुलिस का विरोध किया और अपनी सख़्त नाराजगी जाहिर की। मुझे आशंका है

कि पुलिस दल के बारे में उसके ये बचपन के भाव उसके भावी विचारों पर असर डाले बिना न रहेंगे।

जेल में पूरी कोशिश की जाती थी कि हमें मामूली ग़ैर-राजनैतिक क़ैदियों से अलग रक्खा जाय। आम तौर पर राजनैतिक क़ैदियों के लिए अलग जेलें मुकर्रर कर दी जाती थीं। मगर पूरी तरह अलहदा किया जाना तो नामुमकिन था और हम उन क़ैदियों से अक्सर मिल लेते थे, और उनसे तथा ख़ुद तजुर्बे से हमने जान लिया कि उन दिनों वास्तव में जेल की ज़िन्दगी कैसी होती थी। उसे मार-पीट और जोर की रिश्वतखोरी और भ्रष्टता की एक कहानी ही समझना चाहिए। खाना अजीब तौर पर खराब था। मैंने कई मर्तबा उसे खाने की कोशिश की, मगर बिलकुल न खाये जाने लायक पाया। कर्मचारी आम तौर पर बिलकुल अयोग्य थे और उन्हें बहुत कम तनख़्वाहें मिलती थीं। मगर उनके लिए क़ैदियों या क़ैदियों के रिश्तेदारों से हर मुमकिन मौक़े पर रुपया ऐंठकर अपनी आमदनी बढ़ाने का रास्ता पूरी तरह खुला था।

ज़्यादातर राजनैतिक क़ैदियों के साथ मामूली क़ैदियों के समान ही व्यवहार किया गया। उन्हें कोई विशेष अधिकार या व्यवहार नहीं मिला, मगर दूसरों से ज़्यादा तेज-तर्रार और समझदार होने के कारण उनसे आसानी से कोई बेजा फायदा नहीं उठा सकता था, न उनसे रुपया ऐंठा जा सकता था। इस सबब से आप ही कर्मचारी उन्हें पसन्द नहीं करते थे और जब मौक़ा आता तो उनमें से किसीको भी जेल के क़ायदे टूटने पर सख़्त सजा दी जाती।

ऐसे ही क़ायदे तोड़ने के लिए एक छोटे लड़के को, जिसकी उम्र १५ या १६ साल की थी और जो अपनेको 'आजाद' कहता था, बेंत की सजा दी गई। वह नंगा किया गया और बेंत की टिकटी से बांध दिया गया, और जैसे-जैसे बेंत उसपर पड़ते थे और उसकी चमड़ी उधेड़ डालते थे, वह 'महात्मा गांधी की जय'

चिल्लाता था। हर बेंत के साथ वह लड़का तबतक यही नारा लगाता रहा, जबतक बेहोश न हो गया। बाद में वही लड़का उत्तर-भारत के आतंककारी कार्यों के दल का एक नेता बना।

: १४ :

फिर बाहर

जनवरी १९२३ के आखरी दिन लखनऊ-जेल के हम सब राजनैतिक क़ैदी छोड़ दिये गए। उस समय लखनऊ में एक सौ और दो सौ के बीच, स्पेशल क्लास के क़ैदी होंगे। दिसंबर १९२१ या १९२२ के शुरू में जिन लोगों को एक साल या कम की सजा मिली थी, वे सब तो अपनी सजा पूरी करके चले गये थे सिर्फ वे जिनकी लम्बी सजाएं थीं, या जो दोबारा आ गये थे, रह गये थे।

जेल के फाटक से बाहर निकलने में हमेशा एक संतोष का भाव और आनंदोल्लास रहता है। ताजी हवा और खुले मैदान, सड़कों पर के चलते हुए दृश्य और पुराने मित्रों से मिलना-जुलना ये सब दिमाग में एक ख़ुमारी लाते हैं और कुछ-कुछ दीवाना-सा बना देते हैं। बाहर की दुनिया को देखने से पहले-पहल जो असर होता है उसमें कुछ पागलों का-सा एक आनन्द छाया रहता है। हमारा दिल उछलने लगा, मगर यह भाव थोड़ी देर के लिए ही रहा, क्योंकि कांग्रेसी-राजनीति की दशा काफी निराशाजनक थी। ऊंचे आदर्शों की जगह षड्यन्त्र होने लगे थे और कई गुट उन सामान्य तरीकों से कांग्रेस-तन्त्र पर कब्जा करने की कोशिश करने लगे थे।

मेरे मन का झुकाव तो कौंसिल-प्रवेश के बिलकुल खिलाफ था, क्योंकि इसका जरूरी नतीजा यह मालूम होता था कि सम-झौता करने की चालें करनी पड़ेंगी और अपना लक्ष्य हमेशा नीचा करना पड़ेगा। मगर सच पूछो तो देश के सामने कोई दूसरा राज-

नैतिक प्रोग्राम भी नहीं था। अपरिवर्तनवादी, रचनात्मक कार्यक्रम पर जोर देते थे, जो कि दरअसल सामाजिक सुधार का कार्यक्रम था और जिसका मुख्य गुण यह था कि उससे हमारे कार्यकर्ताओं का जनता से सम्पर्क पैदा हो जाय। मगर इससे उन लोगों को तसल्ली नहीं हो सकती थी जो राजनैतिक कार्य में विश्वास करते थे। और यह कुछ अनिवार्य ही था कि सीधे संघर्ष की लहर के बाद, जो कामयाब न हुई हो, कौंसिल-संबंधी कार्यक्रम आगे आवे। यह कार्यक्रम भी देशबन्धुदास और मेरे पिताजी ने, जो कि इस नये आन्दोलन के नेता थे, सहयोग और रचना के लिए नहीं, बल्कि बाधा डालने और मुक़ाबला करने की दृष्टि से सोचा था।

देशबन्धुदास कौंसिल में भी राष्ट्रीय संग्राम को जारी रखने के उद्देश्य से वहां जाने के पक्ष में हमेशा रहे थे। मेरे पिताजी का भी लगभग यही दृष्टिकोण था। १९२० में जो उन्होंने कौंसिल का बहिष्कार मंजूर किया था, वह कुछ अंशों में अपने दृष्टिकोण को गांधीजी के दृष्टिकोण के अधीन कर देने के रूप में था। वह लड़ाई में पूरी तरह शामिल हो जाना चाहते थे और उस समय ऐसा करने का एक ही रास्ता था कि गांधीजी के नुस्खे को सोलहों आना आजमाया जाय।

जेल से छूटने पर कुछ दूसरे लोगों के साथ मैंने भी कोशिश की कि परिवर्तनवादी और अपरिवर्तनवादी दलों में कुछ समझौता हो जाय; किंतु हमें कुछ भी सफलता न मिली और मैं इन झगड़ों से ऊब उठा। तब मैं तो संयुक्तप्रान्तीय कांग्रेस-कमेटी के मन्त्री की हैसियत से कांग्रेस को संगठित करने के काम में लग गया। पिछले साल के धक्कों से बहुत छिन्न-भिन्नता आगई थी और उसे दूर करने के लिए काम बहुत था। मैंने बहुत मेहनत की, मगर उसका कोई नतीजा न निकला। असल में मुझे कुछ सूझ नहीं पड़ रहा था। मगर जल्दी ही मेरे सामने एक नए तरह का काम आ

खड़ा हुआ। मेरी रिहाई के कुछ हफ्तों के अन्दर ही मैं इलाहाबाद म्युनिसिपैलिटी के प्रधान पद पर बैठा दिया गया। यह चुनाव इतना अचानक हुआ कि घटना के पैंतालीस मिनट पहले तक इस बाबत किसीने भी मेरे नाम का जिक्र नहीं किया था बल्कि मेरा खयाल तक नहीं किया था। मगर अन्तिम घड़ी में कांग्रेस-पक्ष ने यह अनुभव किया कि मैं ही उनके दल में एक ऐसा आदमी हूं जिसका कामयाब होना निश्चित था।

उस साल ऐसा हुआ कि देशभर में बड़े-बड़े कांग्रेस वाले ही म्युनिसिपैलिटियों के प्रेसिडेंट बन गये। देशबन्धु दास कलकत्ता के पहले मेयर बने, विट्ठलभाई पटेल बम्बई-कार्पोरेशन के प्रेसिडेंट बने, सरदार वल्लभभाई अहमदाबाद के बने। युक्तप्रान्त में ज्यादातर बड़ी म्युनिसिपैलिटियों में कांग्रेसी ही चेयरमैन थे।

अब तो मुझे म्युनिसिपैलिटी के विविध कामों में दिलचस्पी पैदा होने लगी और मैं उसमें ज्यादा-से-ज्यादा वक्त देने लगा। उसके कई सवालों ने तो मुझे लुभा ही लिया। मैंने इस विषय का खूब अध्ययन किया और म्युनिसिपैलिटी का सुधार करने के मैंने बहुत बड़े-बड़े मनसूबे बांधे। बाद में मुझे मालूम हुआ कि आजकल हिन्दुस्तानी म्युनिसिपैलिटियों की रचना जिस तरह की गई है उसके रहते हुए उनमें बड़े सुधारों या उन्नति के लिए बहुत कम गुंजाइश है। फिर भी काम करने के लिए और म्युनिसिपल-तन्त्र को साफ-सूफ करने और सुगम बनाने की गुंजाइश तो थी ही और मैंने इस बात के लिए काफी मेहनत की।

उन्हीं दिनों मेरे पास कांग्रेस का काम भी बढ़ रहा था और प्रान्तीय सेक्रेटरी के अलावा मैं अखिल भारतीय सेक्रेटरी भी बना दिया गया था। इन विविध कामों की वजह से अक्सर मुझे रोजाना पन्द्रह-पन्द्रह घंटे तक काम करना पड़ता था, और दिन खत्म होने पर मैं अपनेको बिल्कुल थका हुआ पाता था।

आखिर दो साल के अंत में मैंने म्युनिसिपल कमेटी की अध्यक्षता से इस्तीफा दे दिया।

: १५ :

सन्देह और संघर्ष

मैं बहुत-से कामों में लग गया और इस तरह मैंने उन प्रश्नों से बचने की कोशिश की,जो मुझे परेशानी में डाले हुए थे; लेकिन उनसे बचना संभव न था। जो प्रश्न बार-बार मेरे मन में उठते थे और जिनका कोई संतोषजनक उत्तर मुझे नहीं मिलता था उनसे मैं कहाँ भाग सकता था? इन दिनों जो काम मैं करता था वह सिर्फ़ इसलिए कि मैं अपने अन्तर्द्वन्द्व से बचना चाहता था। बात यह है कि वह १९२०-२१ की तरह मेरी आत्मा का सोलहों आने प्रतिबिम्ब नहीं था। उस वक़्त जो आवरण मुझपर पड़ा हुआ था अब उससे मैं निकल पाया था और अपने चारों तरफ़ हिंदुस्तान में और हिंदुस्तान से बाहर जो-कुछ हो रहा था, उसपर निगाह डाल रहा था। मैंने बहुत-से ऐसे परिवर्तन देखे जिनकी तरफ़ अभी तक मेरा ख़याल ही नहीं गया था। मैंने नये-नये विचार देखे और नये-नये संघर्ष, और मुझे प्रकाश की जगह उलटे बढ़ती हुई अस्पष्टता दिखाई दी। गांधीजी के नेतृत्व में मेरा विश्वास बना रहा, लेकिन उनके प्रोग्राम के कुछ हिस्सों की मैं बारीकी से छानबीन करने लगा। लेकिन वह जेल में थे। और हम लोग जब चाहते तब उनसे मिल नहीं सकते थे और न उनकी सलाह ही ले सकते थे। उन दिनों जो दो पार्टियाँ—कौंसिल-पार्टी और अपरिवर्तनवादी—काम कर रही थीं उनमें से कोई भी मुझे आकर्षित नहीं कर रही थी। कौंसिल-पार्टी ज़ाहिरा तौर पर सुधारवाद और विधानवाद की तरफ़ झुक रही थी और मुझे लगा कि यह मार्ग तो हमें एक अंधी गली में ले जाकर डाल देगा। अपरिवर्तनवादी महात्माजी के कट्टर अनुयायी माने जाते थे। लेकिन महान् पुरुषों के दूसरे सब अनुयायियों की तरह वे भी उपदेशों के सार को ग्रहण न कर उनके अक्षरों के अनुसार चलते थे। उनमें सजीवता और संचालन-शक्ति नहीं थी, और व्यवहार

में उनमें से ज्यादातर लोग लडाकू नहीं थे बल्कि सीधे-सादे समाज-सुधारक थे। लेकिन उनमें एक गुण था, आम जनता से उन्होंने अपना संबंध बनाये रखा था, जबकि कौंसिलों में जानेवाले स्वराजी सोलहों आने कौंसिलों की पैंतरेबाजियों में ही लगे रहे।

मेरे जेल से छूटते ही देशबन्धुदास ने मुझे स्वराजियों के मत का बनाने की कोशिश की। यद्यपि मुझे दिखाई नहीं देता था कि मुझे क्या करना चाहिए, और उन्होंने अपनी सारी वकालत ख़र्च कर दी तो भी मेरा दिल उनके अनुकूल न हुआ। यह बात विचित्र किंतु ध्यान देने योग्य थी और इससे मेरे पिताजी के स्वभाव का पता भी लगता था कि उन्होंने मुझपर कभी इस बात के लिए ज़ोर या असर डालने की कोशिश नहीं की कि मैं स्वराज-पार्टी में शामिल हो जाऊँ। साफ़ ज़ाहिर है कि अगर मैं उनके आन्दोलन में उनके साथ हो जाता तो उन्हें बड़ी ख़ुशी होती; लेकिन मेरे भावों के लिए उनके दिल में इतना ज़्यादा ख़याल था कि जहाँतक इस मामले का ताल्लुक़ था उन्होंने सब-कुछ मेरी मर्जी पर ही छोड़ दिया, मुझसे कभी कुछ नहीं कहा।

मेरे पिताजी और देशबन्धु यद्यपि कई बातों में एक-दूसरे से भिन्न थे, फिर भी एक-दूसरे के साथ अच्छा मेल खा गए। पार्टी के नेतृत्व के लिए इन दोनों का मेल बहुत ही उम्दा और कारगर साबित हुआ। इनमें हरेक कुछ हद तक दूसरे की कमी को पूरा करता था। स्वराज-पार्टी को मज़बूती के साथ क़ायम करने और देश में उसकी ताक़त और धाक जमाने में इस व्यक्तिगत मित्रता का बहुत-कुछ हाथ था। शुरू से ही इस पार्टी में फूट फैलानेवाली प्रवृत्तियां थीं, क्योंकि कौंसिलों के जरिये अपनी ज़ाती तरक्की की गुंजाइश होने की वजह से बहुत-से अवसरवादी और ओहदों के भूखे लोग उसमें आ घुसे थे। उनमें कुछ असली माडरेट भी थे, जिनका झुकाव सरकार के साथ सहयोग करने की तरफ़ ज्यादा था। चुनाव के बाद ज्योंही ये प्रवृत्तियां

सामने आने लगीं, त्योंही पार्टी के नेताओं ने उनकी निन्दा की। मेरे पिताजी ने ऐलान किया कि मैं पार्टी के शरीर से सड़े हुए अंग को काटने में न हिचकूँगा और उन्होंने अपने इसी ऐलान के अनुसार काम भी किया।

१९२३ से आगे अपने पारिवारिक जीवन में मुझे बहुत सुख व संतोष मिलने लगा, हालाँकि मैं पारिवारिक जीवन के लिए बिलकुल वक़्त न दे सकता था। अपने पारिवारिक सम्बन्धों में मैं बड़ा भाग्यशाली रहा हूँ। ज़बरदस्त कशमकश और मुसीबतों के वक़्त मुझे अपने परिवार में शांति और सांत्वना मिली है। मैंने महसूस किया कि इस दिशा में मैं स्वयं कितना अपात्र निकला। यह सोचकर मुझे कुछ शर्म भी मालूम होती है। मैंने महसूस किया कि १९२० से लेकर मेरी पत्नी ने जो उत्तम व्यवहार किया उसका मैं कितना ऋणी हूँ। स्वाभिमानी और मृदुल स्वभाव की होते हुए भी उसने न सिर्फ़ मेरी सनकों ही को बरदाश्त किया, बल्कि जब-जब मुझे शान्ति और संतोष की सबसे ज़्यादा ज़रूरत थी तब-तब वह उसने मुझे दी।

१९२० से हमारे रहन-सहन के ढंग में कुछ फ़र्क पड़ गया था। वह बहुत सादा हो गया था और नौकरों की संख्या भी बहुत कम कर दी गई थी। फिर भी उससे किसी आवश्यक आराम में कोई कमी नहीं हुई थी। किसी हद तक तो आवश्यक चीज़ों को अलग करने के लिए, और कुछ हद तक चालू ख़र्च के लिए रुपया इकट्ठा करने के वास्ते बहुत-सी चीज़ें, घोड़े-गाड़ियाँ और घर-गृहस्थी की वे सब चीजें जो हमारे रहन-सहन के नये ढंग के लिए उपयुक्त नहीं थीं, बेच दी गईं थीं। हमारे फर्नीचर का कुछ हिस्सा तो पुलिस ने ही ज़ब्त करके बेच दिया था। इस फर्नीचर की और मालियों की कमी से घर की सफ़ाई और ख़ूबसूरती कम हो गई और बाग़ जंगल-सा हो गया। कोई तीन साल तक घर व बाग़ की तरफ़ नहीं के बराबर ध्यान दिया गया था। बहुत

हाथ खोलकर ख़र्च करने के आदी होने की वजह से पिताजी कई बातों की किफ़ायतशारी पसन्द नहीं करते थे। इसलिए उन्होंने तय किया कि वह घर बैठे-बैठे लोगों को क़ानूनी सलाह देकर कुछ पैसा पैदा किया करें।

जो वक़्त सार्वजनिक कामों से बचा रहता उसमें, वह यह काम करते थे। वैसे तो उनके पास वक़्त ही बहुत कम बचता था फिर भी वह इस हालत में भी काफ़ी कमा लेते थे।

ख़र्च के लिए पिताजी पर अवलम्बित रहने की वजह से मैं बहुत ही दुःख और ग्लानि अनुभव करता था। जबसे मैंने वकालत छोड़ी थी, तबसे असल में मेरी कोई निजी आमदनी नहीं रही—सिर्फ उस नगण्य आमदनी को छोड़कर जो शेअरों के मुनाफ़े (डिवीडेंड) के रूप में मिलती थी। मेरा और मेरी पत्नी का ख़र्च ज़्यादा न था। सच बात तो यह है कि मुझे यह देखकर काफ़ी अचरज हुआ कि हम लोग इतने कम ख़र्च में अपना काम चला लेते हैं। इसका पता मुझे १९२१ में लगा और उससे मुझे बड़ा सन्तोष हुआ। खादी के कपड़ों और रेल के तीसरे दर्जे के सफर में ज़्यादा खर्च नहीं पड़ता। उन दिनों पिताजी के साथ रहने की वजह से मैं पूरी तरह यह अनुभव नहीं कर सका कि इनके अलावा भी घर-गृहस्थी के ऐसे बहुत बेशुमार खर्च हैं जिनका जोड़ बहुत ज्यादा बैठता है। कुछ भी हो, रुपया न रहने के डर ने मुझे कभी नहीं सताया। मेरा ख़याल है कि ज़रूरत पड़ने पर मैं काफ़ी कमा सकता हूं और हम लोग अपना काम बहुत-कम खर्च में चला सकते हैं।

पिताजी के ऊपर हमारा कोई बहुत बड़ा बोझ नहीं था। इतना ही नहीं, अगर उनको इस बात का इशारा भी मिल जाता कि हम अपने को उनपर एक बोझ समझते हैं तो उन्हें बड़ा दुःख होता। फिर भी मैं जिस हालत में था, उसको पसन्द नहीं करता था और तीन साल तक मैं इस मामले पर सोचता रहा; लेकिन मुझे कोई हल नहीं मिला। मुझे ऐसा काम ढूंढ लेने में

कोई मुश्किल न थी जिससे मैं कमाई कर लेता; लेकिन ऐसा काम कर लेने के मानी थे कि जो सार्वजनिक काम मैं कर रहा था उसे या तो बन्द कर दूं या कम कर दूं। इस वक़्त तक मैं जितना समय दे सकता था वह सब मैंने कांग्रेस और म्युनिसिपैलिटी के काम में लगाया। मुझे यह बात पसन्द नहीं आई कि मैं रुपया कमाने के लिए उस काम को छोड़ दूं। बड़े-बड़े औद्योगिक फर्मों ने मुझे रुपये की दृष्टि से बड़े-बड़े लाभदायक काम सुझाए, मगर उनको मैंने नामंजूर कर दिया। शायद वे इतना ज़्यादा रुपया महज़ मेरी योग्यता के ख़याल से नहीं देना चाहते थे, बल्कि मेरे नाम का फ़ायदा उठाने की दृष्टि से। मुझे बड़े-बड़े उद्योग-धन्धेवालों के साथ इस तरह का सम्बन्ध करने की बात अच्छी नहीं लगी। मेरे लिए यह बात बिलकुल असम्भव थी कि मैं फिर से वकालत का पेशा अख़्तियार करता, क्योंकि वकालत के लिए मेरी अरुचि बढ़ गई थी और वह बढ़ती ही चली गई।

१९२४ की कांग्रेस में एक बात उठी थी कि प्रधान-मन्त्रियों को वेतन दिया जाना चाहिए। मैं उस समय भी कांग्रेस का प्रधान-मन्त्री था और मैंने इस विचार का स्वागत किया था। मुझे यह बात बिलकुल ग़लत मालूम होती थी कि किसीसे एक तरफ़ तो यह उम्मीद की जाय कि वह अपना पूरा वक़्त देकर काम करे और दूसरी तरफ़ उसे कम-से-कम पेट भरने भर को भी कुछ न दिया जाय। नहीं तो हमें ऐसे ही आदमियों के भरोसे सार्वजनिक काम छोड़ना पड़ेगा, जिनके पास ख़र्च का निजी इन्तजाम हो। लेकिन इस तरह के फुरसतवाले लोग राजनैतिक दृष्टि से हमेशा वांछनीय नहीं होते और न आप उनको उनके काम के लिए जिम्मेदार ही ठहरा सकते हैं। कांग्रेस ज़्यादा नहीं दे सकती थी, क्योंकि हमारी वेतन की दर बहुत कम थी; लेकिन हिन्दुस्तान में सार्वजनिक फण्डों से वेतन लेने के ख़िलाफ एक अजीब और बिलकुल अनुचित धारणा फैली हुई है, हालाँकि सरकारी नौकरी की बाबत यह बात

नहीं है। पिताजी ने इस बात पर बहुत एतराज किया कि मैं कांग्रेस से वेतन लूं। मेरे सहकारी मंत्री को भी रुपयों की सख़्त जरूरत थी, लेकिन वह भी कांग्रेस से वेतन लेना शान के ख़िलाफ समझते थे। इसलिए मुझे भी उसके बिना ही रहना पड़ा, हालाँकि मैं उसमें कोई बेइज़्जती नहीं समझता था और वेतन लेने को तैयार था।

सिर्फ़ एक मर्त्तबा मैंने इस मामले में पिताजी से बातें छेड़ीं और उनसे कहा कि रुपये के लिए परावलम्बी रहना मुझे कितना नापसन्द है। मैंने यह बात जहाँतक हो सकता था, बड़े संकोच से और घुमा-फिराकर कही, जिससे उन्हें बुरा न लगे। उन्होंने मुझसे कहा कि "तुम्हारे लिए अपना सारा या अधिकतर समय पब्लिक के कामके बजाय थोड़ा-सा रुपया कमाने में लगाना बड़ी बेवकूफी होगी, जबकि मैं (पिताजी) थोड़े दिनों की मेहनत से आसानी से उतना रुपया कमा सकता हूँ जितना तुम्हारे और तुम्हारी पत्नी के लिए सालभर काफी होगा।" दलील जोरदार थी, लेकिन उससे मुझे सन्तोष नहीं हुआ। फिर भी मैं पहले की तरह ही काम करता रहा।

: १६ :

नाभा का नाटक

इसके बाद ही मेरे साथ एक ऐसी घटना हुई, जो बड़ी अजीब थी और जिसकी मुझे कोई उम्मीद नहीं थी।

सिक्ख, और उनमें से खासकर अकाली, पंजाब में बार-बार सरकार के संघर्ष में आ रहे थे। उनमें एक सुधार-आन्दोलन उठ खड़ा हुआ था और यह काम हाथ में लिया गया था कि बदचलन महन्तों को निकालकर उपासना के स्थानों पर और उनकी सम्पत्ति पर कब्जा करके गुरुद्वारों को इस ख़राबी से

छुड़ाया जाय। सरकार ने इसमें दख़ल दिया और संघर्ष हो गया। गुरुद्वारा-आन्दोलन कुछ-कुछ असहयोग से उत्पन्न हुई जागृति के सबब से पैदा हुआ था और अकालियों के तरीक़े अहिंसात्मक सत्याग्रह जैसे थे। यों संघर्ष कई जगहों पर हुए, मगर सबसे बड़ी लड़ाई गुरु-का-बाग़ की थी, जहाँ बीसियों सिक्खों ने, जिनमें कई पहले फौज में काम किये हुए सिपाही भी थे, जरा भी हाथ उठाये बिना या अपने कर्त्तव्य से पीठ फेरे बिना, पुलिस की बर्बरता-पूर्ण मार का सामना किया। इस दृढ़ता और साहस के अद्‌भुत दृश्य से सारा हिन्दुस्तान चकित हो उठा। सरकार ने गुरुद्वारा-कमेटी को ग़ैरकानूनी करार दे दिया। यह लड़ाई कुछ बरस तक जारी रही और अन्त में सिक्ख सफल हुए। सम्भवतः कांग्रेस की इसमें हमदर्दी थी।

जिस घटना का मैं जिक्र करने वाला हूँ उसका इस आम सिक्ख-आन्दोलन से कोई सम्बन्ध नहीं था। मगर इसमें शक नहीं कि वह घटना इस सिक्ख हलचल के सबब से ही हुई। पंजाब की दो सिक्ख रियासतों—पटियाला और नाभा के नरेशों में बड़ा गहरा ज़ाती झगड़ा था। जिसका नतीजा यह हुआ कि भारत सरकार ने महाराजा नाभा को गद्दी से उतार दिया। नाभा रियासत की हुकूमत चलाने को एक अंग्रेज प्रशासक नियुक्त कर दिया गया। सिक्खों ने महाराजा नाभा के गद्दी से उतारे जाने का विरोध किया और उसके विरुद्ध नाभा में और बाहर दोनों जगह आन्दोलन उठाया। इस आन्दोलन के बीच में, जैतो नामक स्थान पर, नये प्रशासक द्वारा अखण्ड पाठ रोक दिया गया। इसका विरोध करने के लिए और रोके हुए पाठ को जारी रखने के स्पष्ट उद्देश्य से, सिक्खों ने जैतो को जत्थे भेजने शुरू किये। पुलिस इन जत्थों को रोकती, मारती, गिरफ़्तार करती और आमतौर पर जंगल में एक बीहड़ जगह में ले जाकर छोड़ देती थी। मैं समय-समय पर इस मार-पीट का हाल पढ़ा करता था। जब मुझे दिल्ली में विशेष कांग्रेस के बाद

ही मालूम हुआ कि दूसरा जत्था जा रहा है और मुझे वहाँ चलने और वहाँ क्या होता है यह देखने का निमन्त्रण मिला तो मैंने खुशी से उसको मंजूर कर लिया। कांग्रेस के दो मेरे साथी भी—आचार्य गिडवानी और मद्रास के के० सन्तानम्—मेरे साथ गए। ठीक वक़्त पर पहुँचे और जत्थे के पीछे-पीछे उससे अलग रहते हुए चले। जैतो पहुँचने पर जत्थे को पुलिस ने रोक दिया और उसी वक़्त मुझे भी एक हुक्म मिला, जिसपर अंग्रेज एडमिनिस्ट्रेटर के दस्तख़त थे कि मैं नाभा-इलाक़े में दाखिल न होऊँ और अगर मैं दाख़िल हो गया होऊँ तो फौरन वापस चला जाऊँ। गिडवानी और सन्तानम् को भी ऐसे ही हुक्म दिये गए। मेरे साथियों ने और मैंने पुलिस-अफसर से कहा कि हम जत्थे में शामिल नहीं हैं, सिर्फ दर्शक की तरह हैं और नाभा के किसी भी क़ानून को तोड़ने का हमारा इरादा नहीं है। इसके सिवा जब हम नाभा के इलाके में ही थे तो उसमें दाखिल न होने का सवाल ही नहीं हो सकता था और स्पष्टतः हम एकदम अदृश्य होकर तो कहीं चले नहीं जा सकते थे। जैतो से दूसरी गाड़ी शायद कई घंटे बाद जाती थी। इसलिए हमने उससे कहा कि अभी तो हम यहीं रहना चाहते हैं। बस, हम फ़ौरन ही गिरफ़्तार कर लिये गए और हवालात में ले जाकर बन्द कर दिये गए।

सारे दिन हम हवालात में बन्द रखे गए और शाम को हमें क़ायदे से स्टेशन ले जाया गया। सन्तानम् को और मुझको एक ही हथकड़ी डाली गई—उनकी बाईं कलाई मेरी दाहिनी कलाई से बांध दी गई थी और हथकड़ी की जंजीर हमें ले चलनेवाले पुलिसवाले ने पकड़ ली। गिडवानी के भी हथकड़ी डाली गई और वह हमारे पीछे-पीछे चले। जैतो के बाजारों से इस प्रकार जाते हुए मुझे बार-बार कुत्तों के जंजीर पकड़कर ले जाने की याद आती थी। आरम्भ में तो हम झल्ला उठे, मगर फिर हमने सोचा कि यह घटना बड़ी मजेदार है और हम इसका मजा लेने लगे। उसके बाद की हमारी रात अच्छी नहीं गुजरी। रात को हमारा कुछ

वक्त तो धीमी चालवाली रेल के तीसरे दर्जे के डिब्बे में बीता जो ठसाठस भरा हुआ था––आधी रात को रास्ते में शायद गाड़ी भी बदलनी पड़ी थी और रात का बाकी हिस्सा नाभा की एक हवालात में गुज़रा। इस सारे समय और अगले दिन तीसरे पहर तक, जबकि हम अन्त में नाभा-जेल में रख दिये गए, वह हथकड़ी और भारी जंजीर हमारे साथ ही रही। हम दोनों में से कोई भी एक-दूसरे के सहयोग के बिना हिल-डुल नहीं सकता था।

नाभा-जेल में हम तीनों एक बहुत ही रद्दी और गन्दी कोठरी में रखे गये। वह छोटी-सी और सीलवाली कोठरी थी, जिसकी छत इतनी नीची थी कि उस तक हमारा हाथ करीब-करीब पहुंच जाता था। हम जमीन पर ही सोये और मैं बीच-बीच में एकाएक जाग उठता था और तब मालूम होता कि मेरे मुँह पर से कोई चूहा या चुहिया निकल गई है।

दो-तीन दिन बाद पेशी के लिए हमें अदालत ले गये और बहुत ही ऊटपटांग जाब्ते से वहां रोज-रोज कार्रवाई चलने लगी। मजिस्ट्रेट या जज बिलकुल अपढ़ मालूम पड़ता था। निःसन्देह अंग्रेजी तो वह जानता ही न था, मगर मुझे शक है कि वह अपनी अदालत की जबान उर्दू लिखना भी शायद ही जानता हो। हम उसे एक हफ्ते से ज्यादा देखते रहे और इस अर्से में उसने एक भी लाइन नहीं लिखी। अगर उसे कुछ लिखना होता था तो वह सरिश्तेदार से लिखवाता था। हमने बाकायदा अपनी सफाई नहीं दी। असहयोग-आन्दोलन में हमें अपनी पैरवी न करने की इतनी आदत हो गई थी कि जहां पैरवी करने की छुट्टी थी वहाँ भी हमें सफाई देने का ख़याल तक प्रायः बुरा लगता था।

हमारा मुकदमा दिन-ब-दिन बढ़ता ही गया, हालांकि वह एक काफी सीधा-सा मामला था। अब अचानक एक नई बात और हुई। एक दिन शाम को, उस रोज की अदालत उठ जाने के बाद भी, हमें उसी इमारत में बिठा रक्खा और बहुत देर में, करीब सात

बजे, हमें एक दूसरे कमर में ले गए, जहां एक शख्स मेज के सामने बैठा था। वहां और भी कई लोग थे। एक आदमी—वह वही पुलिस-अफसर था जिसने हमें जैतो में गिरफ्तार किया था—खड़ा हुआ और एक बयान देने लगा। मैंने पूछा कि यह कौन-सी जगह है और यहां क्या हो रहा है? मुझे इत्तला दी गई कि यह अदालत है और हमपर षड्यंत्र करने का मुकदमा चलाया जा रहा है। यह कार्रवाई उससे बिलकुल भिन्न थी, जिसको अभी तक हम देखते थे और जो नाभा में न दाखिल होने के हुक्म की उदूली के सिलसिले में चल रही थी। जाहिरा यह सोचा गया कि इस हुक्म-उदूली की ज्यादा-से-ज्यादा सजा तो सिर्फ छः माह ही है इसलिए यह हमारे लिए काफी न होगा; लिहाजा और कुछ ज्यादा संगीन इलजाम लगाना जरूरी है। साफ है कि सिर्फ तीन आदमी षड्यन्त्र के लिए काफी नहीं थे, इसलिए एक चौथे शख्स को, जिसका हमसे कोई ताल्लुक न था, गिरफ्तार किया गया और उसपर भी हमारे साथ ही मुकदमा चलाया गया। इस अभागे आदमी को, जो एक सिक्ख था, हम नहीं जानते थे। हां, हमने उसे जैतो जाते वक्त सिर्फ खेत में देखा भर था।

मेरे बैरिस्टरपन को यह देखकर बड़ा धक्का लगा कि किस अचानक ढंग से एक षड्यन्त्र का मुकदमा चलाया जा रहा है। मामला तो बिलकुल झूठा था ही, मगर शिष्टता के खातिर भी तो कुछ जाब्ते की पाबन्दी होनी चाहिए। मैंने जज से कहा कि हमें इसकी पहले से कुछ भी इत्तिला नहीं दी गई और हम अपनी सफाई का इन्तजाम भी करना चाहेंगे। मगर इसकी उसने कुछ भी चिन्ता न की। यह नाभा का निराला तरीका था। अगर हमें सफाई के लिए कोई वकील करना हो तो वह नाभा का ही होना चाहिए। जब मैंने कहा कि मैं बाहर का कोई वकील करना चाहूंगा तो मुझे जवाब मिला कि नाभा के कायदों में इसकी इज़ाजत नहीं है। इससे नाभा के जाब्ते की विचित्रताओं का हमें और भी ज्ञान हुआ। हमें

एक तरह की नफरत हो गई और हमने जज से कह दिया कि जो उसके जी में आवे करे, हम लोग इस कार्रवाई में कोई हिस्सा न लेंगे; किन्तु मैं इस निर्णय पर पूरी तरह कायम न रह सका। अपने बारे में अत्यन्त आश्चर्यजनक झूठी बातें सुनकर चुप रहना मुश्किल था और इसलिए कभी-कभी हम गवाहों के बारे में मुख्तसर तौर पर मौके-मौके से अपनी राय जाहिर करते जाते थे। हमने अदालत को असली वाक़यात के बारे में एक तहरीरी बयान दिया। यह दूसरा जज, जो षड्यन्त्र का मुकदमा चला रहा था, पहले से ज्यादा शिक्षित और समझदार था।

ये दोनों मुकदमे चलते रहे और हम दोनों अदालतों में जाने का रोज इन्तजार किया करते थे, क्योंकि इससे थोड़ी देर के लिए ही सही जेल की गन्दी कोठरी से छुटकारा तो मिल जाता था। इसी बीच प्रशासक की तरफ से जेल का सुपरिण्टेण्डेण्ट हमारे पास आया और उसने हमसे कहा कि अगर हम अफसोस जाहिर कर दें और नाभा से चले जाने का वचन दे दें तो हमपर से मुकदमा उठा लिया जा सकता है। हमने कहा कि हम किस बात का अफसोस जाहिर करें? हमने कोई ऐसी बात नहीं की है, बल्कि उल्टे रियासत को हमसे माफी मांगनी चाहिए। हम किसी किस्म का वचन देने को भी तैयार नहीं हैं।

गिरफ़्तारी के करीब दो हफ़्ते बाद आखिर हमारे मुक़दमे ख़तम हुए। यह सारा वक़्त इस्तग़ासे में ही लगा, क्योंकि हम तो अपनी पैरवी कर ही नहीं रहे थे। ज़्यादा वक़्त तो देर-देर तक इन्तज़ार करने में गया, क्योंकि जहां-कहीं जरा-सी भी कठिनाई पैदा होती थी, वहीं कार्रवाई मुल्तवी कर दी जाती थी या उसकी बाबत किसी अन्दरूनी अफसर से, जो शायद अंग्रेज एडमिनिस्ट्रेटर ही था, पूछने की जरूरत होती थी। आख़िरी दिन, जबकि इस्तग़ासे की तरफ से मामला ख़तम किया गया, हमने भी अपने तहरीरी बयान दे दिये। पहले जज ने कार्रवाई ख़तम कर दी

और यह जानकर हमें बड़ा ताज्जुब हुआ कि वह थोड़ी ही देर में फिर वापस आ गया और उसके साथ उर्दू में लिखा हुआ एक बड़ा भारी फ़ैसला था। यह जाहिर है कि यह भारी फ़ैसला इतने थोड़े अर्से में नहीं लिखा जा सकता था। यह फ़ैसला हमारे बयान देने के पहले ही तैयार हो गया था। फ़ैसला पढ़कर सुनाया नहीं गया। हमें सिर्फ़ इतना कह दिया गया कि हमें नाभा इलाके में से चले जाने के हुक्म की उदूली करने के जुर्म में छः माह की सजा, जो इस जुर्म की ज़्यादा-से-ज़्यादा सजा थी, दी गई है।

उसी रोज षड्यन्त्र के मुक़दमे में भी हमें, ठीक-ठीक मैं भूल गया हूं, या तो अठारह महीने की या दो साल की सजा मिली। यह सजा छः माह की सजा के अलावा हुई। इस तरह हमें कुल दो या ढाई साल की सजा दे दी गई।

मेरे पिताजी को देशी रियासतों का हाल कुछ-कुछ मालूम था, इसलिए वह नाभा में मेरी एकाएक गिरफ्तारी से बहुत परेशान हुए। उन्हें सिर्फ़ गिरफ़्तारी का वाक़या मालूम हुआ, मगर इसके अलावा और कोई ख़बर बाहर न जा पाई। अपनी परेशानी में उन्होंने मेरे समाचार जानने के लिए वाइसराय को भी तार दे डाला। नाभा में मुझसे मिलने के बारे में उनके रास्ते में बहुत मुश्किलें खड़ी कर दी गईं। मगर आख़िर उन्हें जेल में मुझसे मुलाकात करने की इजाजत मिल गई; परन्तु वह मेरी कोई मदद नहीं कर सकते थे, क्योंकि मैं अपनी सफ़ाई भी पेश नहीं कर रहा था। मैंने उनसे प्रार्थना की कि वह इलाहाबाद वापस चले जायं और कोई चिन्ता न करें। वह लौट गये; लेकिन कपिलदेव मालवीयको, जो हमारे एक युवक साथी-वकील हैं, नाभा में मुक़दमे की कार्रवाई पर ध्यान रखने को छोड़ गए। नाभा की अदालतों को थोड़े दिन देखकर कपिलदेव की क़ानून और जाब्ते-सम्बन्धी जानकारी में काफी वृद्धि हुई होगी। पुलिस ने खुली अदालत में उनके कुछ क़ागजात जबर्दस्ती छीन लेने की भी कोशिश की थी।

इस तरह हमारा मुक़दमा ख़त्म हुआ और हमें सजा हो गई। फैसलों में क्या लिखा था यह हमें मालूम नहीं, मगर इस असल बात से कि हमें लम्बी सजा मिली है, हमारी झुंझलाहट कुछ कम हुई। हमने फैसलों की नक़लें माँगी, मगर हमें जवाब मिला कि इसके लिए बाक़ायदा अर्जी दो।

उसी शाम को जेल में सुपरिण्टेण्डेण्ट ने हमें बुलाया, और उसने हमें जाब्ता-फ़ौजदारी की रू से एडमिनिस्ट्रेटर का एक आदेश दिखाया, जिसमें हमारी सजाएं स्थगित कर दी गई थीं। उसमें कोई शर्त नहीं रखी गई थी। इसका क़ानूनी नतीजा यह था कि जहाँतक हमारा ताल्लुक़ था हमारी सजाएं ख़त्म हो गईं। फिर सुपरिण्टेण्डेण्ट ने एक दूसरा हुक्म, जिसका नाम एक्जीक्यूटिव आर्डर था, दिखाया। यह भी प्रशासक का जारी किया हुआ था। उसमें यह आदेश था कि हम नाभा छोड़कर चले जायँ और ख़ास इजाजत लिये बिना रियासत में न लौटें। मैंने दोनों हुक्मों की नक़लें माँगी, मगर वे हमें नहीं दी गईं। तब हमें रेलवे स्टेशन भेज दिया गया और हम वहाँ रिहा कर दिये गए। नाभा में हम किसीको भी नहीं जानते थे और रात को शहर के दरवाजे भी बन्द हो गये थे। हमें पता लगा कि अभी अम्बाला को एक गाड़ी जानेवाली है और हम उसीमें बैठ गए। अम्बाला से मैं दिल्ली और वहां से इलाहाबाद चला आया।

हम तीनों——गिडवानी, सन्तानम् और मैं——नाभा-जेल की कोठरी से एक दुःखदायी साथी अपने साथ ले आये। वह था विषम ज्वर का कीटाणु, क्योंकि हम तीनों पर ही विषम ज्वर का हमला हुआ। मेरी बीमारी जोर की थी और शायद ख़तरनाक भी थी, मगर उसकी मियाद दोनों से कम थी और मैं सिर्फ तीन या चार हफ़्ते ही बिस्तर पर रहा। मगर बाक़ी दोनों तो लम्बे अर्से तक बहुत बुरी हालत में बीमार पड़े रहे।

: १७ :

एक नया अनुभव

जनवरी १९२४ में इलाहाबाद में एक नये ढंग का तजरबा हुआ। मैं अपनी याददाश्त से यह लिख रहा हूं। मुमकिन है कि तारीख़ों के सम्बन्ध में कुछ भूल और गड़बड़ हो। मैं समझता हूं वह कुम्भ या अर्द्धकुम्भ के मेले का साल था। लाखों यात्री संगम यानी त्रिवेणी नहाने आते हैं। गंगा-घाट यों कोई एक मील चौड़ा है, मगर जाड़े में धारा सिकुड़ जाती है और दोनों तरफ़ बालू का बड़ा मैदान छोड़ देती है जो कि यात्रियों के ठहरने के लिए बड़ा उपयोगी हो जाता है। अपने इस पाट में गंगा अक्सर अपना बहाव बदलती रहती है। १९२४ में गंगा की धारा इस तरह हो गई थी कि यात्रियों के लिए नहाना अवश्य ही ख़तरनाक था। कुछ पाबन्दियां और अहतियात लगाकर और एक वक़्त में नहाने वालों की तादाद मुकर्रर करके यह ख़तरा कम किया जा सकता था।

मुझे इस मामले में किसी किस्म की दिलचस्पी न थी; क्योंकि ऐसे पर्वों के अवसर पर गंगा नहाकर पुण्य कमाने की मुझे तो चाह न थी; लेकिन मैंने अख़बारों में पढ़ा कि इस मामले में पं० मदनमोहन मालवीय और प्रान्तीय सरकार के बीच एक चर्चा छिड़ गई है, क्योंकि प्रान्तीय सरकार ने एक ऐसा फ़रमान निकाल दिया था कि कोई संगम पर न नहाने पाए। मालवीयजी ने इसपर ऐतराज किया; क्योंकि धार्मिक दृष्टि से तो संगम पर नहाने का ही महत्त्व था।

इधर सरकार का अहतियात रखना भी ठीक ही था कि जिससे जान का ख़तरा न रहे, लेकिन सदा की तरह उसने निहायत ही बेवकूफी और चिढ़ा देने वाले ढंग से इस सम्बन्ध में कार्रवाई की थी।

कुम्भ के दिन सुबह ही मैं मेला देखने गया। मेरा कोई इरादा नहाने का न था। गंगा-किनारे पहुंचने पर मैंने सुना कि मालवीय-

जी ने ज़िला मजिस्ट्रेट को अपने पत्र में एक हल्की-सी चेतावनी दे दी है, जिसमें त्रिवेणी में नहाने की इजाजत मांगी गई है। मालवीयजी गरम हो रहे थे और वातावरण में क्षोभ फैला हुआ था। जिला-मजिस्ट्रेट ने इजाजत नहीं दी तब मालवीयजी ने सत्याग्रह करने का निश्चय किया और कोई दो सौ लोगों को साथ लेकर वह संगम की तरफ़ बढ़े। इन घटनाओं से मेरी दिलचस्पी थी और मैं उसी वक़्त जोश में आकर सत्याग्रही-दल में शामिल हो गया। मैदान के उस पार लकड़ियों का एक जबर्दस्त घेरा बना दिया गया था कि लोग संगम तक पहुंचने से बचें। जब हम इस घेरे तक पहुंचे तो पुलिस ने हमें रोका और एक सीढ़ी, जो हम साथ लिये हुए थे, छीन ली। हम तो थे अहिंसात्मक सत्याग्रही, इसलिए उस घेरे के पास बालू में शान्ति के साथ बैठ गए। सुबह भर और दोपहर के भी कुछ घंटे हम उसी तरह बैठे रहे। एक-एक घंटा बीतने लगा। धूप की तेजी बढ़ती जा रही थी। पैदल और घुड़सवार पुलिस हमारे दोनों तरफ़ खड़ी थी। मैं समझता हूं कि सरकारी घुड़-सेना भी वहां मौजूद थी। हम बहुतेरों का धीरज छूटने लगा और हमने कहा कि अब तो कुछ-न-कुछ फ़ैसला करना ही चाहिए। मैं मानता हूं कि अधिकारी भी उकता उठे थे और उन्होंने क़दम आगे बढ़ाने का निश्चय किया। घुड़-सेना को कुछ आर्डर दिया। इस समय मुझे लगा (मैं नहीं कह सकता कि वह सही था) कि वे हमपर घोड़े फेंकेंगे और यों हमको बुरी तरह खदेड़ेंगे। घुड़सवारों से इस तरह रौंदे जाने का ख़याल मुझे अच्छा न लगा और वहां बैठे-बैठे मेरा जी भी उकता उठा था। मैंने झट से अपने नजदीकवाले को सुझाया कि हम इस घेरे को ही क्यों न फांद जायं? और मैं उसपर चढ़ गया। तुरन्त ही बीसों आदमी उसपर चढ़ गये और कुछ लोगों ने तो उसकी बल्लियां भी निकाल डालीं, जिससे एक ख़ासा रास्ता बन गया। किसीने मुझे एक राष्ट्रीय झंडा दे दिया, जिसे मैंने उस घेरे के सिरे पर खोंस दिया, जहां कि मैं बैठा हुआ था। मैं अपने पूरे

रंग में था और खूब मगन हो रहा था और लोगों को उसपर चढ़ते, उसके बीच में घुसते हुए और घुड़सवारों को उन्हें हटाने की कोशिश करते देख रहा था। यहां मुझे यह जरूर कहना चाहिए कि घुड़सवारों ने जितना हो सका इस तरह अपना काम किया कि किसीको चोट न पहुंचे। वे अपने लकड़ी के डंडों को हिलाते थे और लोगों को उनसे धक्का देते थे। मगर किसीको चोट नहीं पहुंचाते थे। उस समय मुझे बलवे के समय के घेरे के दृश्य का कुछ-कुछ स्मरण हो आया।

आख़िर में दूसरी तरफ़ उतर पड़ा। इतनी मेहनत के कारण गर्मी बढ़ गई थी, सो मैंने गंगा में गोता लगा लिया। जब वापस आया तो मुझे यह देखकर अचरज हुआ कि मालवीयजी और दूसरे लोग अबतक जहां-के-तहां बैठे हुए हैं। घुड़सवार और पैदल पुलिस सत्याग्रहियों और घेरे के बीच कन्धे-से-कन्धा भिड़ाकर खड़ी हुई थी। सो मैं (जरा टेढ़े-मेढ़े रास्ते से निकलकर) फिर मालवीयजी के पास जा बैठा। हम कुछ देर तक बैठे रहे। मैंने देखा कि मालवीयजी मन-ही-मन भिन्नाये हुए थे और ऐसा मालूम होता था कि वह अपने मन का आवेश बहुत रोक रहे थे। एकाएक बिना किसीको कुछ पता दिये उन पुलिसवालों और घोड़ों के बीच अद्भुत रीति से निकलकर उन्होंने गोता लगा लिया। यों तो किसी भी शख़्स के लिए इस तरह गोता लगाना आश्चर्य की बात होती; लेकिन मालवीयजी जैसे बूढ़े और दुर्बल शरीर व्यक्ति के लिए तो ऐसा करना बहुत ही चकित कर देने वाला था। ख़ैर, हम सबने उनका अनुकरण किया। हम सब पानी में कूद पड़े। पुलिस और घुड़सेना ने हमें पीछे हटाने की थोड़ी-बहुत कोशिश की, मगर बाद को रुक गई। थोड़ी देर बाद वह वहां से हटा ली गई।

हमने सोचा था कि सरकार हमारे खिलाफ़ कोई कार्रवाई करेगी। मगर ऐसा कुछ नहीं हुआ। शायद सरकार मालवीयजी के खिलाफ़ कुछ करना नहीं चाहती थी और इसलिए बड़े के पीछे हम छुटभैये भी अपने-आप बच गए।

: १८ :

पिताजी और गांधीजी

१९२४ के शुरू में यकायक ख़बर आई कि गांधीजी जेल में बहुत ज़्यादा बीमार हो गए हैं, जिसकी वजह से वह अस्पताल पहुंचा दिये गए हैं और वहां उनका आपरेशन हुआ है। इस ख़बर को सुनकर चिन्ता के मारे हिन्दुस्तान सन्न हो गया। हम लोग डर से परेशान थे और दम साधकर ख़बरों का इन्तजार करते थे। अख़ीर में संकट गुजर गया और देश के तमाम हिस्सों से लोगों की टोलियां उन्हें देखने के लिए पूना पहुंचने लगीं। इस वक़्त तक वह अस्पताल में ही थे। क़ैदी होने की वजह से उनके ऊपर गारद रहती थीं; लेकिन कुछ दोस्तों को उनसे मिलने की इजाजत थी। मैं और पिताजी उनसे अस्पताल में ही मिले।

अस्पताल से वह वापस जेल नहीं ले जाये गए। जब उनकी कमजोरी दूर हो रही थी तभी सरकार ने उनकी बाकी सजा रद्द करके उन्हें छोड़ दिया। उस वक़्त जो छः साल की सजा उन्हें मिली थी उसमें से करीब-करीब दो साल की वह काट चुके थे। अपनी तन्दुरुस्ती ठीक करने के लिए वह बम्बई के नजदीक समुद्र के किनारे जुहू चले गए।

हमारा परिवार भी जुहू जा पहुंचा और वहीं समुद्र के किनारे एक छोटे-से बंगले में रहने लगा। हम लोगों ने कुछ हफ़्ते वहीं गुजारे। अर्से के बाद अपने मन के मुताबिक छुट्टी मिली थी, क्योंकि मैं वहां मजे से तैर सकता था, दौड़ सकता था और समुद्र-तट की बालू पर घुड़दौड़ कर सकता था। लेकिन हमारे वहां रहने का असली मतलब छुट्टियां मनाना नहीं था, बल्कि गांधीजी के साथ देश की समस्याओं पर चर्चा करना था। पिताजी चाहते थे कि गांधीजी को यह बता दें कि स्वराजी क्या चाहते हैं और इस

तरह वह गांधीजी की सक्रिय सहानुभूति नहीं तो कम-से-कम उनका निष्क्रिय सहयोग जरूर हासिल कर लें। मैं भी इस बात से चिन्तित था कि जो मसले मुझे परेशान कर रहे हैं, उनपर कुछ रोशनी पड़ जाय। मैं यह जानना चाहता था कि उनका आगे का कार्यक्रम क्या होगा ?

जहांतक स्वराजियों से ताल्लुक़ है वहांतक उनको जुहू की बातचीत से गांधीजी को अपनी तरफ़ कर लेने में या किसी हद तक भी उनपर असर डालने में कोई कामयाबी नहीं मिली। यद्यपि बातचीत बड़े दोस्ताना ढंग से और बहुत ही शराफ़त के साथ होती थी; लेकिन यह बात तो रही ही कि आपस में कोई समझौता नहीं हो सका। यह तय रहा कि उनकी राय एक-दूसरे से नहीं मिलती और इसी मतलब के बयान अख़बारों में छपा दिये गए।

मैं भी जुहू से कुछ हद तक निराश होकर लौटा। क्योंकि गांधीजी से मेरी एक भी शंका का समाधान नहीं हुआ। अपने मामूली तरीक़े से उन्होंने आगे की बात सोचने या लम्बे अर्से के लिए कोई कार्यक्रम बनाने से इन्कार कर दिया। उनका कहना था कि हमें धीरज के साथ लोगों की सेवा का काम करते रहना चाहिए। कांग्रेस के रचनात्मक और समाज-सुधारक कार्यक्रम को पूरा करना चाहिए और लड़ाकू काम के समय का इंतजार करना चाहिए।

लेकिन अख़ीर में गांधीजी ने स्वराजियों से अपनी पटरी बैठा ली। उन्होंने कौंसिलों में स्वराजियों के काम को लगभग अपना आशीर्वाद दे दिया; लेकिन खुद उससे अलग रहे। यह कहा जाता था कि गांधीजी राजनीति से अलग हो गये हैं और ब्रिटिश सरकार और उसके अफसर यह समझते थे कि उनकी लोकप्रियता कम हो रही है। और उनमें कुछ दम नहीं रहा। इस तरह की बातें समय के अनुसार उचित हेर-फेर के साथ बार-

बार दुहराई गई हैं। लेकिन जबसे गांधीजी हिन्दुस्तान के राजनैतिक मैदान में आये तब से उनकी लोकप्रियता बराबर बढ़ती चली गई है। और यह सिलसिला अभी तक ज्यों-का-त्यों जारी है। लोग गांधीजी की इच्छाएँ पूरी भले ही न कर सकें, लेकिन उनके दिलों में गांधीजी के लिए बराबर आदर बना हुआ है। लेकिन यह बात सच है कि पढ़े-लिखे लोगों में गांधीजी की लोकप्रियता घटती-बढ़ती रहती है। जब आगे बढ़ने का जोश आता है तब वे उनके पीछे-पीछे चलते हैं और जब उसकी लाजिमी प्रतिक्रिया होती है तब वे गांधीजी की नुक्ताचीनी करने लगते हैं। लेकिन इस हालत में भी पढ़े-लिखों की बहुत बड़ी तादाद गांधीजी के आगे सिर झुकाती है। बहुत कुछ हद तक तो इसलिए कि गांधीजी के प्रोग्राम के सिवा देश के सामने और कोई कारगर-प्रोग्राम ही नहीं है।

मेरे पिताजी और गांधीजी में पुरानी दोस्ती फिर क़ायम हो गई और वह और भी ज़्यादा बढ़ गई। एक-दूसरे से उनके मत चाहे कितने ही न मिलते हों लेकिन दोनों के दिलों में एक दूसरे के लिए सद्भाव और आदर था।

पिताजी गांधीजी का आदर इसलिए नहीं करते कि वह कोई साधु या महात्मा हैं, बल्कि इसलिए कि वह मर्द हैं। वह खुद मज़बूत तथा कभी न झुकनेवाले थे, इसलिए गांधीजी की आत्म-शक्ति की तारीफ़ करते थे। क्योंकि यह साफ़ मालूम होता था कि इस दुबले-पतले शरीरवाले छोटे-से आदमी में इस्पात की-सी मजबूती है, कुछ चट्टान-जैसी दृढ़ता है जो शारीरिक ताक़तों के सामने नहीं झुकती, फिर चाहे ये ताक़तें कितनी ही बड़ी क्यों हों। यद्यपि उनकी शक्ल-सूरत, उनका नंगा शरीर, उनकी छोटी धोती ऐसी न थी कि किसीपर बहुत धाक जमे, लेकिन उनमें कुछ पुरुषसिंहता और ऐसी बादशाहियत जरूर है जो दूसरों को ख़ुशी-ख़ुशी उनका हुक्म बजा लाने को मजबूर कर

देती है। यद्यपि उन्होंने जानबूझकर नम्रता और निरभिमानता ग्रहण की थी, फिर भी शक्ति व अधिकार उनमें लबालब भरे हुए थे और वह इस बात को जानते भी थे और कभी-कभी तो वह बादशाह की तरह हुक्म देते थे जिसे पूरा करना ही पड़ता। उनकी शान्त लेकिन गहरी आँखें आदमी को जकड़ लेतीं और उसके दिल के भीतर तक की बातें खोज लेतीं। उनकी साफ़-सुथरी आवाज मीठी गूंज के साथ दिल के अन्दर घुसकर हमारे भावों को जगाकर अपनी तरफ़ खींच लेती। उनकी बात सुननेवाला चाहे एक शख़्स हो या हजार हों, उनका चुम्बक का-सा आकर्षण उन्हें अपनी तरफ़ खींचे बिना नहीं रहता और हरेक सुननेवाला मन्त्र-मुग्ध हो जाता था। इस भावना का दिमाग़ से बहुत कम ताल्लुक़ होता था। गांधीजी दिमाग़ को अपील करने की बिलकुल उपेक्षा करते हों सो बात नहीं। फिर भी इतना निश्चित है कि दिमाग़ व तर्क को दूसरा नम्बर मिलता था। मन्त्र-मुग्ध करने का यह जादू न तो बोलने की शक्ति से होता था और न मधुर शब्दरचना के मोहक प्रभाव से। उनकी भाषा हमेशा सरल और अर्थवती होती थी, अनावश्यक शब्दों का व्यवहार शायद ही कभी होता हो। एकमात्र उनकी पारदर्शक सच्चाई और उनका व्यक्तित्व ही दूसरों को जकड़ लेता है। उनसे मिलने पर यह ख़याल जम जाता है कि उनके भीतर प्रचण्ड आत्मशक्ति का भंडार भरा हुआ है। शायद यह भी हो कि उनके चारों तरफ़ ऐसी परम्परा बन गई है, जो उचित वातावरण पैदा करने में मदद देती है। हो सकता है कि कोई अजनबी आदमी, जिसे उन परम्पराओं का पता न हो और गांधीजी की आसपास की हालतों से जिसका मेल न खाता हो, उनके जादू के असर में न आवे या इस हद तक न आवे; लेकिन फिर भी गांधीजी के बारे में सबसे ज़्यादा कमाल की बात यही थी और यही है कि वे अपने विरोधियों को या तो सोलहों आने जीत लेते हैं या कम-से-कम उनको निःशस्त्र ज़रूर कर देते हैं।

यद्यपि गांधीजी प्राकृतिक सौन्दर्य की बहुत तारीफ़ करते हैं;

लेकिन मनुष्य की बनाई चीजों में वह कला या ख़ूबसूरती नहीं देख सकते। उनके लिए ताजमहल जबरदस्ती ली हुई बेगार की प्रतिमूर्ति के सिवा और कुछ नहीं। उनमें सूंघने की शक्ति की भी बहुत कमी है। फिर भी उन्होंने अपने तरीक़े से जीवन-यापन की कला खोज निकाली है और अपनी जिन्दगी को कलामय बना लिया है। उनका हरेक इशारा सार्थक और ख़ूबी लिये हुए होता है और ख़ूबी यह है कि बनावट का नामोनिशान नहीं। उनमें उस अशिष्टता या हलकेपन का निशान तक नहीं, जिसमें दुर्भाग्य से हमारे मध्यमवर्ग के लोग डूबे रहते हैं। भीतरी शान्ति पाकर वह दूसरों को भी शान्ति देते हैं। और जिन्दगी के कंटीले रास्ते पर मजबूत और निडर क़दम रखते हुए चले जाते हैं।

मगर मेरे पिताजी गांधीजी से कितने भिन्न थे! उनमें भी व्यक्तित्व का बल था और बादशाहियत की मात्रा थी। जिस किसी समाज में वह जा बैठते उसके केन्द्र वही बन जाते। जैसाकि अंग्रेज जज ने बाद में कहा था, वह जहाँ-कहीं भी जाकर बैठते वहीं मुखिया बन जाते। वह न तो नम्र ही थे न मुलायम ही, और गांधीजी के उलटे वह उन लोगों की खबर लिये बिना नहीं रहते थे जिनकी राय उनके ख़िलाफ़ होती थी। उन्हें इस बात का भान रहता था कि उनका मिजाज शाही है। उनके प्रति या तो आकर्षण होता था या तिरस्कार। उनसे कोई शख़्स उदासीन या तटस्थ नहीं रह सकता था। हरेक को या तो उन्हें पसन्द करना पड़ता था या नापसन्द। चौड़ा ललाट, चुस्त होठ और सुनिश्चित ठोड़ी। इटली के अजायबघरों में रोमन सम्राटों की जो अर्द्ध-मूर्त्तियां हैं उनसे उनकी शक्ल बहुत काफ़ी मिलती थी। इटली में बहुत-से मित्रों ने जो उनकी तस्वीर देखी तो उन्होंने भी इस साम्य का ज़िक्र किया था। ख़ास तौर पर उनकी जिन्दगी के पिछले सालों में, जबकि उनका सिर सफ़ेद बालों से भर गया था, उनमें एक ख़ास क़िस्म की शालीनता और भव्यता आ गई थी जो इस दुनिया में आजकल

बहुत कम दिखाइ देती है। मेरे सिर पर तो बाल नहीं रहे, पर उनके सिर के बाल अख़ीर तक बने रहे। मैं समझता हूँ कि शायद मैं उनके साथ पक्षपात कर रहा हूँ; लेकिन इस संकीर्णता और कमजोरी से भरी हुई दुनिया में उनकी शरीफ़ाना हस्ती की रह-रहकर याद आती है। मैं अपने चारों तरफ़ उनकी-सी अजीब ताक़त और उनकी-सी शान-शौक़त को खोजता हूँ, लेकिन बेकार।

असेम्बली का काम पिताजी के स्वभाव के उसी तरह अनुकूल था जिस तरह बतख़ का पानी में तैरना। वह काम उनकी क़ानूनी और विधान-सम्बन्धी तालीम के लिए मौज़ूं था। सत्याग्रह तथा उसकी शाखाओं के खेल के नियम तो वह नहीं जानते थे; लेकिन इस खल क नियम-उपनियमों से पूरी तरह वाकिफ़ थे। उन्होंने अपनी पार्टी में कठोर अनुशासन रक्खा और दूसरे दलों और व्यक्तियों को भी इस बात के लिए राजी कर लिया कि वे स्वराज-पार्टी की मदद करें। लेकिन जल्दी ही उन्हें अपने ही लोगों से मुसीबत का सामना करना पड़ा। स्वराज-पार्टी को अपने शुरू के दिनों में कांग्रेस में ही अपरिवर्तनवादियों से लड़ना पड़ता था और इसलिए कांग्रेस के भीतर पार्टी की ताक़त बढ़ाने के लिए बहुत से ऐसे-वैसे लोग भर्ती कर लिये गए थे। इसके बाद चुनाव हुआ, जिसके लिए रुपये की जरूरत थी। रुपये पैसेवालों से ही आ सकते थे, इसलिए इन पैसेवालों को ख़ुश रखना पड़ता था। उनमें से कुछ को स्वराजी उम्मेदवार होने के लिए भी कहा गया था।

इन सब बातों से पार्टी शुरू से ही कमजोर हो गइ थी। कौंसिल और असेम्बली के काम में इस बात की रोज ही जरूरत पड़ती थी कि दूसरों से, और ज़्यादा माडरेट दलों के साथ समझौते किये जायं और इसके फलस्वरूप कोई भी जिहादी भावना या सिद्धान्त क़ायम नहीं रह सकते थे। धीरे-धीरे पार्टी का अनुशासन

और रवैया बिगड़ने लगा और उसके कमजोर तथा अवसरवादी मेम्बर मुश्किलें पैदा करने लगे। स्वराज-पार्टी खुल्लमखुल्ला यह एलान करके कौंसिलों में गई थी कि "हम भीतर जाकर मुख़ालिफ़त करेंगे।" लेकिन इस खेल को तो दूसरे भी खेल सकते थे और सरकार ने स्वराजी मेम्बरों में फूट व विरोध पैदा करके इस खेल में अपना हाथ डालने की ठान ली। पार्टी के कमजोर मेम्बरों के रास्ते में तरह-तरह के तरीक़ों से ख़ास रिआयतों और ऊँचे ओहदों के लालच दिये जाने लगे। उन्हें सिर्फ़ इन चीजों में से जिसे वे चाहें चुन लेना था। उनकी लियाक़त, उनकी विवेकशीलता तथा उनकी राजनीति-चतुरता आदि गुणों की तारीफ़ होने लगी। उनके चारों तरफ़ एक आनन्दमय तथा सुखप्रद वातावरण पैदा कर दिया गया, जो खेतों व बाजार की धूल और शोरोगुल से बिलकुल जुदा था।

स्वराजियों का स्वर धीमा पड़ गया। कोई किसी सूबे में से तो कोई असेम्बली म से विरोधी पक्ष की तरफ़ खिसकने लगे। पिताजी बहुत चिल्लाये और गरजे। उन्होंने कहा, मैं सड़ हुए अंग को काट फेंकूंगा; लेकिन जब सड़ा हुआ अंग खुद ही शरीर छोड़कर चले जान को उत्सुक हो तब इस धमकी का कोई बड़ा असर नहीं हो सकता था। कुछ स्वराजी मिनिस्टर हो गये और कुछ बाद को सूबों में गवर्नर की कार्यकारिणी के मेम्बर।

दिसम्बर १९२४ में कांग्रेस का जलसा बेलगांव में हुआ और गांधीजी उसके सभापति थे। उनके लिए कांग्रेस का सभापति होना एक भोंड़ी-सी बात थी, क्योंकि वह तो बहुत अर्से से उसके स्थायी सभापति से भी बढ़कर थे। उनका प्रधान की हैसियत से दिया हुआ भाषण मुझे पसन्द नहीं आया। मुझे उसमें जरा भी स्फूर्ति नहीं मिली। जलसा ख़त्म होते ही, गांधीजी के कहने पर मैं फिर अगले साल के लिए अ० भा० कांग्रेस कमेटी का कार्यकारी मंत्री चुन लिया गया। अपनी इच्छाओं के विरुद्ध धीरे-धीरे

मैं कांग्रेस का लगभग स्थायी मंत्री बनता जा रहा था।

१९२५ की गर्मियों में पिताजी बीमार थे। उनका दमा बहुत ज़्यादा तकलीफ़ दे रहा था। वह परिवार के साथ हिमालय में डलहौजी चले गए। बाद को कुछ अर्से के लिए मैं भी उन्हींके पास जा पहुँचा। हम लोगों ने हिमालय के भीतर डलहौजी से चम्बा तक का सफ़र किया। जब हम लोग चम्बा पहुँचे तब जून का कोई दिन था और हम लोग पहाड़ी रास्तों पर सफ़र करके कुछ थक गये थे। इसी समय एक तार आया, उससे मालूम हुआ कि देशबंधु दास गुजर गए। बहुत देर तक पिताजी शोक के भार से झुके बैठे रहे, उनके मुँह से एक शब्द तक नहीं निकला। यह आघात उनके लिए बहुत ही निर्दयतापूर्ण था। मैंने उन्हें इतना दुखी होते हुए कभी नहीं देखा था। वह व्यक्ति जो उनके लिए दूसरे सब लोगों से ज्यादा घनिष्ट और प्यारा साथी हो गया था, यकायक उन्हें छोड़कर चला गया और सारा बोझा उनके कन्धों पर छोड़ गया। वह बोझा वैसे ही बढ़ रहा था, वह तथा देशबन्धु दोनों ही उससे तथा लोगों की कमजोरियों से ऊब रहे थे। फ़रीदपुर-कांफ्रेंस में देशबन्धु ने जो आख़िरी भाषण दिया वह कुछ थके हुए-से व्यक्ति का भाषण था।

हम दूसरे दिन ही सुबह चम्बा से चल दिये और पहाड़ों पर चलते-चलते डलहौजी पहुँचे, वहां से कार द्वारा रेलवे स्टेशन पर, फिर इलाहाबाद और वहां से कलकत्ता।

: १९ :

साम्प्रदायिकता का दौरदौरा

नाभा जेल से लौटने पर १९२३ के जाड़े में मैं बीमार पड़ गया। मियादी बुख़ार से यह कुश्ती मरे लिए एक नया तजरबा था। मुझ शारीरिक कमजोरी से या बुख़ार से चारपाई पर पड़ा

रहने या बीमार पड़ने की आदत न थी। मुझे अपनी तन्दुरुस्ती पर कुछ नाज़ था और हिन्दुस्तान में आम तौर पर जो बीमार बने रहने का रिवाज-सा पड़ा हुआ था उसके मैं ख़िलाफ़ था। अपनी जवानी और अच्छे शरीर की वजह से मैंने बीमारी पर पार पा लिया, लेकिन संकट के टल जाने पर मुझे कमजोरी की हालत में चारपाई पर पड़े रहना पड़ा और अपनी तन्दुरुस्ती भी धीरे-धीरे हासिल करनी पड़ी। इन दिनों मैं अपने आसपास की चीजों और अपने रोज़मर्रा के कामों से अजीब तरह का विराग-सा अनुभव करता था और उन्हें तटस्थता से देखता रहता था। मुझे ऐसा मालूम पड़ता था कि जंगल में मैं पेड़ों की आड़ में से बाहर निकल आया हूं और अब तमाम जंगल को अच्छी तरह देख सकता हूं। मेरा दिमाग़ जितना साफ़ और ताक़तवर इन दिनों था उतना पहले कभी न था। मैं समझता हूं कि यह तजरबा या इस तरह का कोई दूसरा तजरबा उन सब लोगों को हुआ होगा जिन्हें सख़्त बीमारी में से होकर गुज़रना पड़ा है। लेकिन मेरे लिए तो वह एक तरह का आध्यात्मिक अनुभव-सा हुआ। मैं आध्यात्मिक शब्द का इस्तेमाल संकीर्ण धर्म के अर्थ में नहीं करता। इस तजरबे का मुझपर बहुत काफ़ी असर पड़ा। मैंने महसूस किया कि मैं अपनी राजनीति के भावुकता-मय वायुमण्डल से ऊपर उठ गया हूं और जिन ध्येयों तथा शक्तियों ने मुझे कार्य के लिए प्रेरित किया उन्हें ज्यादा तटस्थता के साथ देख सकता हूं। इस स्पष्टता के फलस्वरूप मेरे दिल में तरह-तरह के तर्क-वितर्क उठने लगे, जिनका कोई ठीक जवाब नहीं मिलता था, लेकिन मैं जीवन और राजनीति को धार्मिक दृष्टि से देखने के दिन-पर-दिन अधिक विरुद्ध होता गया। मैं अपने उस तजरबे की बाबत ज़्यादा नहीं लिख सकता। वह एक ऐसा ख़याल था जिसे मैं आसानी से ज़ाहिर नहीं कर सकता। यह बात ग्यारह वर्ष पहले हुई थी और अब तो उसकी मेरे मन पर बहुत हलकी छाप रह गई है, लेकिन इतनी बात मुझे अच्छी तरह याद है कि मेरे ऊपर और मेरे विचार

करने के तरीक़े पर उसका टिकाऊ असर पड़ा और अगले दो या तीन साल मैंने अपना काम कुछ हद तक तटस्थता से किया।

हां, बेशक कुछ हद तक तो यह बात उन घटनाओं की वजह से हुई जो बिलकुल मेरी ताक़त के बाहर थीं और जिनमें मैं फ़िट नहीं होता था। कुछ राजनैतिक परिवर्तनों का जिक्र मैं पहले ही कर चुका हूं। उससे भी ज़्यादा महत्त्वपूर्ण बात थी हिन्दू-मुसलमानों के सम्बन्धों का दिन-पर-दिन ख़राब होना, जो ख़ास तौर पर उत्तरी हिन्दुस्तान में अपना असर दिखा रहा था। बड़े-बड़े शहरों में कई दंगे हुए, जिनमें हद दर्जे की पशुता और क्रूरता दिखाई दी। शक और ग़ुस्से की आबोहवा ने नये-नये झगड़े पैदा कर दिये जिनके नाम भी हममें से ज्यादातर लोगों ने पहले कभी नहीं सुने थे। हिन्दू और मुसलमानों के त्यौहारों के एक साथ आ जाने पर भी तनातनी हो जाती थी। मसलन, अगर मुहर्रम उन्हीं दिनों आ पड़ता जब रामलीला होती थी तो झगड़े का अन्देशा हो जाता था। मुहर्रम पिछली दुःखद घटनाओं की याद दिलाता है जिससे दुःख और आंसू पैदा होते थे। रामलीला खुशी का त्यौहार था जिसमें पाप के ऊपर पुण्य की विजय का उत्सव मनाया जाता था। दोनों एक-दूसरे से चस्पां नहीं हो सकते थे; लेकिन सौभाग्य से यह त्यौहार तीन साल में सिर्फ़ एक दफा साथ-साथ पड़ते थे। रामलीला तो हिन्दू-तिथि के अनुसार नियत आश्विन सुदी दशमी को मनाई जाती है जबकि मुहर्रम मुस्लिम-तारीख के मुताबिक कभी इस महीने में और कभी उस महीने में मनाये जाते हैं।

लेकिन अब तो झगड़े का एक सबब ऐसा पैदा हो गया जो हमेशा मौजूद रहता था और हमेशा खड़ा हो सकता था। यह था मसजिदों के सामने बाजा बजाने का सवाल। नमाज के वक़्त बाजा बजाने या जरा भी आवाज आने पर मुसलमान ऐतराज करने लगे। कहते, इससे नमाज में खलल पड़ता है। हर शहर में बहुत-सी

मसजिदें हैं और उनमें हर रोज पांच मर्तबा नमाज पढ़ी जाती है और शहरों में जलूसों की, जिनमें शादी वग़ैरा के जलूस भी शामिल हैं तथा दूसरे शोरोग़ुल की कमी नहीं। इसलिए झगड़ा होने का अन्देशा हर वक़्त मौजूद रहता था। ख़ासतौर पर जब मस्जिद में शाम को होनेवाली नमाज के वक्त जलूस निकलत और बाजों का शोरोग़ुल होता तब ऐतराज किया जाता था। इत्तिफ़ाक से यही वक़्त है जबकि हिन्दुओं के मन्दिर में शाम की पूजा यानी आरती होती है और शंख बजाये जाते हैं तथा मन्दिरों के घंटे बजते हैं। इसी आरती-नमाज के झगड़े ने बहुत बड़ा रूप धारण कर लिया।

१९२० से लेकर १९२९ तक के बीच के सालों में आपस में बातचीत और बहस मुबाहिसा करके हिन्दू-मुस्लिम मसलों को हल करने की कई कोशिशें की गईं। ये कोशिशें एकता-सम्मेलनों के नाम से प्रसिद्ध हैं। इन सम्मेलनों में सबसे ज़्यादा प्रसिद्ध वह था, जो १९२४ में मौलाना मुहम्मदअली ने कांग्रेस के प्रधान की हैसियत से बुलाया और जो गांधीजी के इक्कीस दिन के अनशन के अवसर पर दिल्ली में हुआ। इन सम्मेलनों में बहुत-से भले और सच्चे आदमी शरीक़ हुए थे और उन्होंन समझौता करने की बहुत सख़्त कोशिश की, कुछ अच्छे व भले प्रस्ताव भी पास किये; लेकिन असली मसला हल हुए बिना ही रह गया। ये सम्मेलन उस मसले को हल कर ही नहीं सकते थे। क्योंकि समझौता बहुमत से नहीं हो सकता था, वह तो एक ही स्वर से तय हो सकता है और किसी-न-किसी दल के ऐसे कट्टर लोग हमेशा मौजूद रहते थे जो समझते थे कि समझौता तभी हो सकता है जब सब लोग सोलहों आने हमारी बात मान लें। सचमुच कभी-कभी तो यह शक होने लगता था कि कुछ नामी-नामी साम्प्रदायिक नेता वाकई निपटारा चाहते भी हैं या नहीं ? उनमें से बहुत-से राजनैतिक मामलों में प्रगति-विरोधी थे और उनमें तथा उन लोगों में जो राजनीति में कायापलट चाहते थे, कोई भी बात सामान्य न थी।

१९२५ की बात है। उस साल वसन्त ऋतु में मेरी पत्नी बहुत बीमार पड़ गई। कई महीनों तक वह लखनऊ के अस्पताल में पड़ी रही। उसी साल कानपुर में कांग्रेस हुई थी। मुद्दत तक दुखी दिल के साथ कभी इलाहाबाद, कभी कानपुर और कभी लखनऊ तथा वहां से वापस चक्कर लगाने पड़े थे। (मैं इन दिनों भी कांग्रेस का प्रधान मंत्री था।)

डाक्टरों ने सिफ़ारिश की कि कमला का इलाज स्विजरलैंड में कराया जाय। मुझे यह बात पसन्द आई; क्योंकि मैं खुद भी हिन्दुस्तान से बाहर चला जाना चाहता था। मेरा दिमाग़ साफ़ नहीं था। कोई साफ़ रास्ता नहीं दिखाई देता था। मैंने सोचा कि अगर मैं हिन्दुस्तान से दूर पहुंच जाऊं तो चीजों को और अच्छी दृष्टि से देख सकूंगा और अपने दिमाग़ के अंधेरे कोनों में रोशनी पहुंचा सकूंगा।

मार्च १९२६ के शुरू में हम लोग जहाज में बम्बई से वेनिस के लिए रवाना हुए। मैं, मेरी पत्नी और लड़की। उसी जहाज में हमारे साथ मेरी बहिन सरूप और बहनोई रणजित पंडित भी गए। उन लोगों ने अपनी यूरोप-यात्रा का इन्तजाम हम लोगों के यूरोप जाने का सवाल पैदा होने से बहुत पहले ही कर रक्खा था।

: २० :

यूरोप में

मुझे यूरोप छोड़े तेरह साल से भी ज़्यादा हो चुके थे और ये साल लड़ाई और क्रांति तथा भारी परिवर्तन के साल थे। जिस पुरानी दुनिया को मैं जानता था वह लड़ाई के खून और उसकी भीषणता में डूब चुकी थी और एक नई दुनिया मेरा रास्ता देख रही थी। मुझे उम्मीद थी कि यूरोपमें छः या सात महीने या ज़्यादा-से-ज़्यादा पूरा साल तक रह जाऊंगा। लेकिन दरअसल हम

लोग वहां ठहरे एक साल और नौ महीने।

यह वक़्त मेरे शरीर और दिमाग़ दोनों के लिए चैन व आराम का वक़्त था। ज़्यादातर हमने यह वक़्त स्विजरलैंड के जिनेवा में और मोंटाना के पहाड़ी सनिटोरियम में बिताया। मेरी छोटी बहिन कृष्णा भी १९२६ की गर्मियों के शुरू में हिन्दुस्तान से हमारे पास आ गई और जबतक हम लोग यूरोप में रहे तबतक हमारे साथ रही। मैं अपनी पत्नी को ज़्यादा अर्से के लिए नहीं छोड़ सकता था, इसलिए दूसरी जगहों में मैं बहुत थोड़े वक़्त के लिए ही जा सका। कुछ दिनों बाद जब मेरी पत्नी की तबीयत कुछ ठीक हो गई तब हम लोगों ने कुछ दिनों तक फ्रांस, इंग्लैंड और जर्मनी की सैर की। जिस पहाड़ी की चोटी पर हम लोग ठहरे थे उसके चारों ओर बर्फ़ थी। वहां मैं यह महसूस करता था कि मैं हिन्दुस्तान तथा यूरोप की दुनिया से बिल्कुल अलहदा हो गया हूं। हिन्दुस्तान में होनेवाली बातें ख़ास तौर पर बहुत दूर मालूम होती थीं। मैं महज दूर से देखनेवाला एक तमाशबीन बन गया था, जो अखबार पढ़ता था, जो बातें होती थीं उन्हें समझ कर उनपर ग़ौर करता था तथा नए यूरोप तथा उसकी राजनीति और उसके अर्थशास्त्र तथा उसके कहीं ज़्यादा स्वतंत्र मानव-संबंधों को देखा करता था। जब मैं जिनेवा में था तब स्वभावतः मुझे राष्ट्र-संघ के कामों में और अन्तर्राष्ट्रीय मजदूर-दफ़्तर में भी दिलचस्पी रही थी।

लेकिन जाड़ा आते ही, जाड़े के खेलों में मेरा मन लग गया। कुछ महीनों तक इन खेलों में ही मेरी ख़ास दिलचस्पी रही और इन्हींमें मैं लगा रहा। बरफ पर एक किस्म के फिसलने वाले जूते पहनकर तो मैं पहले भी चलता था, खिसकता था, लेकिन लकड़ी के आठ फुट लम्बे और चार इंच चौड़े जोड़े को पैरों से बांधकर बरफ पर चलने का तजरबा मेरे लिए बिलकुल नया था और मैं उसपर मुग्ध हो गया। बहुत दिनों तक मुझे इस

खेल में काफी तकलीफ मालूम हुई, लेकिन बार-बार गिरने पर भी मैं हिम्मत के साथ जुटा रहा और अख़ीर में मुझे खूब मजा आने लगा।

सब मिलाकर इन दिनों हमारी जिन्दगी में कोई ख़ास घटना नहीं हुई। दिन बीतते गए और धीरे-धीरे मेरी पत्नी ताकत व तन्दुरुस्ती हासिल करती गई। वहां हम लोगों को बहुत कम हिन्दुस्तानियों से मिलने का मौक़ा मिला। सच बात तो यह है कि उस पहाड़ी बस्ती में रहनेवाले थोड़े-से लोगों को छोड़कर और किसीसे हमें मिलने का मौक़ा ही नहीं मिला। लेकिन हम लोगों ने यूरोप में जो पौने दो साल बिताये उसमें हमें बहुत-से ऐसे पुराने क्रान्तिकारी और हिन्दुस्तान से निर्वासित भाई मिले जिनके नामों से मैं वाकिफ था।

१९२६ के अख़ीर में मैं इत्तिफ़ाक से बर्लिन में था और वहीं मुझे यह मालूम हुआ कि जल्दी ही ब्रसेल्स शहर में पद-दलित कौमों का एक सम्मेलन होने वाला है। यह ख़याल मुझे पसन्द आया और मैंने स्वदेश को लिखा कि राष्ट्रीय कांग्रेस को ब्रसेल्स सम्मेलन में हिस्सा लेना चाहिए। मेरी यह बात पसन्द की गई और मुझे ब्रसेल्स-सम्मेलन के लिए भारत की राष्ट्रीय कांग्रेस का प्रतिनिधि बना दिया गया।

ब्रसेल्स में जावा, हिंद-चीन, फिलस्तीन, सीरिया, मिस्र, उत्तरी अफ्रीका के अरब और अफ्रीका के हब्शी लोगों की राष्ट्रीय संस्थाओं के प्रतिनिधि भी मौजूद थे। इनके अलावा बहुत-से मजदूरों के उग्रदलों ने भी अपने प्रतिनिधि भेजे थे। बहुत-से ऐसे लोग भी, जिन्होंने एक युग से मजदूरों की लड़ाइयों में ख़ास हिस्सा लिया था, वहां मौजूद थे। कम्यूनिस्ट भी वहां थे। उन्होंने कांग्रेस की कार्रवाई में काफी हिस्सा लिया; लेकिन वे वहां कम्यूनिस्टों की हैसियत से न आकर कई मजदूर संघ या वैसी ही संस्थाओं के प्रतिनिधि होकर आये थे।

जाज लेन्सबरी उस कांग्रेस के सभापति चुने गये और उन्होंने बहुत ही जोरदार भाषण दिया। यह इस बात का सबूत था कि कांग्रेस कोइ ऐसी-वैसी सभा न थी और न उसने अपना भाग्य ही कम्यूनिस्टों के साथ जोड़ दिया था। लेकिन इस बात में कोई शक नहीं कि वहां एकत्र लोग कम्यूनिस्टों के प्रति मित्रभाव रखते थे और यद्यपि उनमें और कम्यूनिस्टों में कई बातों में समझौता भले ही न हो सकता हो फिर भी काम करने के लिए कई बातें ऐसी भी थीं जिनमें मिलकर काम किया जा सकता था।

वहां जो स्थायी संस्था, साम्राज्यवाद-विरोधी लीग, क़ायम की गई उसका भी सभापतित्व मि० लेन्सबरी ने स्वीकार कर लिया; लेकिन फ़ौरन ही उन्हें अपनी इस जल्दबाजी पर पछताना पड़ा या शायद ब्रिटिश-मजदूर-दल के उनके साथियों ने उनकी इस बात को पसन्द नहीं किया। उन दिनों यह मजदूर-दल 'सम्राट का विरोधी दल' था और जल्दी ही बढ़कर 'सम्राट-सरकार' बनने को था। तब भला मंत्रिमंडल के भावी सदस्य ख़तरनाक और क्रांतिकारी राजनीति में कैसे पैर फंसा सकत थ ? मि० लेन्सबरी ने पहले तो काम में बहुत व्यस्त रहने का बहाना करके लीग के सभापतित्व से इस्तीफ़ा दे दिया, बाद को उन्होंने उसकी मेम्बरी भी छोड़ दी। मुझे इस बात से बहुत अफ़सोस हुआ कि जिस व्यक्ति के व्याख्यान की दो-तीन महीने पहले मैंने इतनी तारीफ़ की थी उसमें यकायक ऐसी तबदीली हो गई।

कुछ भी हो, काफ़ी प्रतिष्ठित व्यक्ति साम्राज्य-विरोधी लीग के संरक्षक हैं। उनमें एक तो मि० आइंस्टीन[1] हैं और दूसरी श्रीमती सनयातसेन[2] और मेरा ख़याल है कि रोमां रोलां भी। कई महीने बाद आइंस्टीन ने इस्तीफ़ा दे दिया; क्योंकि फिलस्तीन में

---

[1]सुप्रसिद्ध जर्मन वैज्ञानिक, जो यहूदी होने के कारण जर्मनी से निर्वासित कर दिये गये थे। हाल ही में इनका देहान्त हो चुका है।

[2]स्वतन्त्र चीन के प्रमुख सनयात सेन की विधवा पत्नी। —अनु०

अरबों और यहूदियों के जो झगड़े हो रहे थे उनमें लीग ने अरबों का पक्ष लिया था और यह बात उन्हें नापसन्द थी।

ब्रसेल्स-सम्मेलन और उसके बाद साम्राज्यवाद-विरोधी लीग की कमेटियों की जो मीटिंगें समय-समय पर अलग-अलग जगहों में हुई इनसे मुझे अधीनस्थ और औपनिवेशिक प्रदेशों की कुछ समस्याओं को समझने में बड़ी मदद मिली। उनकी वजह से पश्चिमी संसार में मजदूरों के जो भीतरी संघर्ष चल रहे हैं उनकी तह तक पहुंचने में भी मुझे आसानी हुई। उनकी बाबत मैंने बहुत-कुछ पढ़ा था और कुछ तो मैं पहले से ही जानता था, लेकिन मेरे उस ज्ञान के पीछे कोई असलियत नहीं थी, क्योंकि उनसे मेरा कोई जाती ताल्लुक़ नहीं पड़ा था। लेकिन अब मैं उनके सम्पर्क में आया और कभी-कभी मुझे उन मसलों का भी सामना करना पड़ा, जो इन भीतरी संघर्षों से उठते हैं। दूसरी इंटरनेशनल और तीसरी इंटरनेशनल[1] नाम की मजदूरों की जो संस्थाएं हैं उनमें मेरी हमदर्दी तीसरी से थी। लड़ाई से लेकर अबतक दूसरी इंटरनेशनल ने जो कुछ किया उससे मुझे अरुचि हो गई और हमको तो हिन्दुस्तान में इस इंटरनेशनल के सबसे जबरदस्त हिमायती ब्रिटिश मजदूर के तरीकों का खुद तजरबा हो चुका था। इसलिए लाजिमी तौर पर कम्यूनिज्म की बाबत मेरा ख़याल अच्छा हो गया, क्योंकि उसमें कितने भी ऐब क्यों न हों, कम्युनिस्ट कम-से-कम साम्राज्यवादी और पाखंडी तो न थे। कम्यूनिज़्म से मेरा यह संबंध

---

[1]अखिल यूरोप के श्रमजीवियों के संघ के ये नाम हैं। पहला संघ, जिसे मार्क्स ने स्थापित किया था, नाममात्र का था। दूसरा संघ १८८९ में स्थापित हुआ। उसमें जोरदार प्रस्ताव होते, लेकिन उनपर अमल शायद ही होता। उसने इस आशय के प्रस्ताव किये थे कि पूंजीपति राज्य-तंत्र में अथवा युद्ध में कभी भाग न लिया जाय। ये १९१४-१८ के महायुद्ध में यों ही धरे रह गये। तब १९१९ में बोल्शेविकों ने तीसरे संघ की स्थापना की। इसका प्रधान उद्देश्य था संसार से पूंजीवाद का नाश और श्रमजीवियों की डिक्टेटरशिप स्थापित करना। ——संपादक

उसक सिद्धान्तों की वजह से नहीं था; क्योंकि मैं कम्यूनिज़्म की कई सूक्ष्म बातों की बाबत ज़्यादा नहीं जानता था। उस वक़्त उससे मेरी जान-पहचान सिर्फ़ उसकी मोटी-मोटी बातों तक ही सीमित थी। ये बातें और वे भारी-भारी परिवर्तन जो रूस में हो रहे थे मुझे आकर्षित कर रहे थे। लेकिन अक्सर कम्युनिस्टों से मैं, उनके डिक्टेटराना ढंग तथा उनके नये लड़ाकू और कुछ हद तक अशिष्ट तरीके से और जो लोग उनसे सहमत न हों उन सबकी बुराई करने की उनकी आदतों की वजह से चिढ़ जाता था। उनके कहने के मुताबिक तो मेरा यह मनोभाव मेरी अमीराना तालीम और लालन-पालन की वजह से था।

१९२७ की गर्मियों में मेरे पिताजी यूरोप आये। मैं उनसे वेनिस में मिला। और उसके बाद कुछ महीनों तक हम लोग अक्सर साथ-साथ रहे। हम सब लोगों ने—मेरे पिताजी, पत्नी, छोटी बहन और मैंने—नवम्बर में थोड़े दिनों के लिए मास्को की यात्रा की। हम लोग मास्को में बहुत थोड़े ही दिनों के लिए, सिर्फ तीन-चार दिन के लिए ही गये थे, क्योंकि हमने यकायक वहां जाना तय किया था। लेकिन हमें इस बात की ख़ुशी है कि हम वहां गये, क्योंकि उसकी इतनी-सी झांकी भी काफी थी। इतनी जल्दी में किया गया वह दौरा हमें नये रूस की बाबत न तो ज्यादा बता ही सकता था न उसने बताया ही; लेकिन उसने हमें अपने अध्ययन के लिए एक बुनियाद दे दी। पिताजी के लिए ये सब सोवियत और समष्टिवादी विचार बिलकुल नये थे। उनकी तमाम तालीम क़ानूनी और विधान-संबंधी थी और वे उस ढांचे में से आसानी से नहीं निकल सकते थे। लेकिन मास्को में उन्होंने जो कुछ देखा उसका उनके ऊपर निश्चित रूप से असर पड़ा था।

जब पहले-पहल साइमन-कमीशन की बाबत एलान हुआ तब हम लोग मास्को में ही थे। हमने उसकी बाबत पहले-पहल मास्को के एक अख़बार में पढ़ा। इसके कुछ दिनों बाद पिताजी लन्दन

में—प्रिवी कौंसिल में—हिन्दुस्तान के एक मामले की अपील में सर जान साइमन के साथ-साथ वकील थे। यह एक पुरानी जमींदारी का मुक़दमा था जिसमें शुरू-शुरू में बहुत साल पहले मैंने भी पैरवी की थी। उस मुक़दमे में मुझे कुछ दिलचस्पी नहीं थी। लेकिन एक मर्तबा मैं सर जान साइमन के कहने पर पिताजी के साथ-साथ कुछ सलाह-मशविरे में शामिल होने के लिए मि० साइमन के दफ़्तर में गया था।

१९२७ का साल भी ख़त्म हो रहा था और यूरोप में हम बहुत ज़्यादा ठहर चुके थे। अगर पिताजी यूरोप न आते तो शायद हम पहले ही घर लौट गये होते। हमारा एक इरादा यह भी था कि घर लौटते वक़्त कुछ समय दक्षिण-पूर्वी यूरोप, टर्की और मिस्र में भी बितावें। लेकिन उस वक़्त उसके लिए समय नहीं रहा था। और मैं इस बात के लिए उत्सुक था कि कांग्रेस का जो अगला जलसा मदरास में बड़े दिन की छुट्टियों में होने को था उसमें शामिल हो सकूं। इसलिए मैं, मेरी पत्नी, मेरी बहन कृष्णा व मेरी पुत्री दिसम्बर के शुरू में मारसेल्स से कोलम्बो के लिए रवाना हो गये। पिताजी तीन महीने और यूरोप में ही रहे।

यूरोप से मैं बहुत अच्छी शारीरिक और मानसिक अवस्था लेकर लौट रहा था। मेरी पत्नी अभी पूरी तरह चंगी तो नहीं हुई थी, लेकिन वह पहले से बहुत बेहतर थी। इसलिए मुझे उसकी तरफ से किसी किस्म की फ़िक्र नहीं रही थी। मैं ऐसा महसूस करता था कि मुझमें शक्ति और जीवन लबालब भर गया है, और इससे पहले भीतरी द्वंद्व और विफलता का जो ख़याल मुझे अकसर परेशान करता रहता था वह इस वक़्त न रहा। मेरा दृष्टि-बिन्दु व्यापक हो गया था और केवल राष्ट्रीयता का लक्ष्य मुझे निश्चित रूप से तंग और नाकाफी मालूम होता था। इसमें कोई शक नहीं कि राजनैतिक स्वतन्त्रता लाजिमी थी, लेकिन वह तो सही दिशा में क़दम भर है। जबतक सामाजिक आजादी न होगी और समाज

का तथा राज्य का ढांचा समाजवादी न होगा तबतक न तो देश ही अधिक उन्नति कर सकता है, न उसमें रहने वाले लोग ही। मैं यह महसूस करने लगा कि मुझे दुनिया के मामले ज़्यादा साफ़ दिखाई दे रहे हैं। आजकल की दुनिया को, जो कि हर वक़्त बदलती रहती है, मैंने अच्छी तरह समझ लिया है। चालू मामलों और राजनीति के बारे में ही नहीं, लेकिन सांस्कृतिक और वैज्ञानिक तथा और भी ऐसे विषयों को जिनमें मेरी दिलचस्पी थी, मैंने खूब पढ़ा। यूरोप और अमेरिका में जो बड़े-बड़े राजनैतिक, आर्थिक और सांस्कृतिक परिवर्तन हो रहे थे, उनके अध्ययन में मुझे बड़ा लुत्फ़ आता था। यद्यपि सोवियत रूस के कई पहलू अच्छे नहीं मालूम होते थे, फिर भी वह मुझे जोरों से अपनी ओर खींचता था और ऐसा मालूम होता था कि वह दुनिया को आशा का संदेश दे रहा है। यूरोप ऊपर से एक जगह जमकर बैठने की कोशिश कर रहा था। महान् आर्थिक संकट अभी आने को था। लेकिन मैं वहां से यह विश्वास लेकर लौटा कि यूरोप की जमकर बैठने की यह कोशिश ऊपरी है और निकट-भविष्य में यूरोप म और दुनिया में भारी उथल-पुथल तथा बड़े-बड़े विस्फोट होनेवाले हैं।

: २१ :

हिन्दुस्तान आने पर फिर राजनीति में

हम लोगों के मदरास पहुंचने के बाद फौरन ही मैं कांग्रेस के भंवर में फंस गया। कार्य-समिति के सामने मैंने कई प्रस्ताव पेश किये। आजादी के बारे में, लड़ाई के खतरे के बारे में, साम्राज्य-विरोधी संघ के बारे में और ऐसे ही कुछ और प्रस्ताव थे। करीब-करीब ये सब प्रस्ताव मंजूर हुए और कार्य-समिति ने उन्हें अपना लिया। कांग्रेस के खुले अधिवेशन में ये प्रस्ताव मुझे ही पेश करने

पड़े और मुझे यह देखकर आश्चर्य हुआ कि वे सब क़रीब-क़रीब एक स्वर से मंजूर हो गये। आजादी के प्रस्ताव का तो मिसेज एनी बेसेंट ने भी समर्थन किया। इस प्रकार चारों ओर के समर्थन से मुझे बड़ी खुशी हुई। लेकिन मेरे दिल में यह खयाल बेचैनी पैदा करता था कि या तो लोगों ने इन प्रस्तावों के मेरे आशय को समझा नहीं है या लोगों ने उनका मनमाना अर्थ लगा लिया है। मेरे ये प्रस्ताव कांग्रेस के सामान्य प्रस्तावों से कुछ नया दृष्टिकोण जाहिर करते थे। कुछ कांग्रेसियों ने उन्हें पसन्द किया, तो कुछने नापसंद, किन्तु खुला विरोध नहीं किया। शायद उन्होंने समझा कि ये प्रस्ताव निरे तात्त्विक हैं और इसलिए उनसे पिण्ड छुड़ाने का सबसे अच्छा तरीका यही होगा कि उन्हें मंजूर कर लिया जाय। इस प्रकार उन दिनों आजादी का प्रस्ताव कांग्रेस में उठनेवाली एक सजीव और अदम्य प्रेरणा को व्यक्त न करता था, जैसा कि उसने एक या दो साल बाद किया।

मुझे फिर कांग्रेस का मंत्री बनना पड़ा। इसके कुछ व्यक्तिगत कारण थे। उस साल कांग्रेस के अध्यक्ष डाक्टर अंसारी मेरे पुराने और प्रिय दोस्त थे। उन्होंने चाहा कि मैं मंत्री बनूं। दूसरे मेरे द्वारा पेश किये अनेक प्रस्ताव मंजूर हुए थे, इसलिए मेरा यह कर्त्तव्य था कि मैं उनपर अमल करने की जिम्मेदारी उठाता।

राजनैतिक दृष्टि से भारत में १९२८ का साल एक भरा-पूरा साल था। देशभर में तरह-तरह की हलचलों की भरमार थी। ऐसा मालूम पड़ता था कि एक नई प्रेरणा, एक नई जिन्दगी जो तरह-तरह के सभी समूहों में एक-सी मौजूद थी, लोगों को आगे की तरफ बढ़ा रही है। जिन दिनों मैं देश से बाहर था शायद उन दिनों धीरे-धीरे यह तबदीली हो रही थी और मेरे लौटने पर मुझे वह बहुत बड़ी तबदीली मालूम हुई। १९२६ के शुरू में हिन्दुस्तान पहले-जैसा सुप्त और निष्क्रिय बना हुआ था। शायद उस वक़्त तक उसकी १९२१-२२ की मेहनत की थकान दूर नहीं हुई थी। १९२८ में वह तरोताजा, क्रियाशील और नई शक्ति से पूर्ण हो

गया है, इस बात का सबूत हर जगह मिलता था——कारखानों के मजदूरों में भी और किसानों में भी, मध्यम वर्ग के नौजवानों में भी और आम तौर पर पढ़े-लिखे लोगों में भी।

मजदूर-संघों की हलचल बहुत ज्यादा बढ़ गई थी। सात-आठ साल पहले जो आल-इंडिया ट्रेड-यूनियन कांग्रेस कायम हुई थी वह एक मजबूत और प्रातिनिधिक जमात थी। न सिर्फ उसकी तादाद और उसके संगठन में ही काफी तरक्की हुई थी, बल्कि उसके विचार भी ज्यादा लड़ाकू और ज्यादा गरम हो गए थे। अक्सर हड़तालें होती थीं और मजदूरों में वर्ग-चेतना जोर पकड़ रही थी। कपड़े की मिलों और रेलों में काम करनेवाले मजदूर सबसे ज्यादा संगठित थे और इनमें से भी सबसे ज्यादा मजबूत और सबसे ज्यादा संगठित संघ थे बम्बई की गिरनी-कामगार यूनियन और जी० आई० पी० रेलवे-यूनियन। मजदूरों के संगठन के बढ़ने के साथ-साथ लाजिमी तौर पर पश्चिम से घरेलू लड़ाई-झगड़ों के बीज भी आये। हिन्दुस्तान के मजदूर-संघों को कायम होते देर न हुई कि वे आपस में होड़ करने और दुश्मनी रखनेवाले दलों में बंट गये। कुछ लोग दूसरी इंटरनेशनल के हामी थे, कुछ तीसरी इंटरनेशनल के कायल। यानी एक दल का दृष्टिकोण नरमी की तरफ यानी सुधार-वादी था और दूसरा दल वह था जो खुल्लम-खुल्ला क्रान्तिकारी था और आमूल परिवर्तन चाहता था। इन दोनों के बीच में कई किस्म की रायें थीं, जिनमें मात्रा का भेद था और जैसा कि आम जनता के संगठन में होता है इसमें अवसरवादी लोग भी आ घुसे थे।

किसान भी करवट बदल रहे थे। उनकी यह जागृति संयुक्त-प्रान्त में और खासतौर पर अवध में दिखाई देती थी, जहां अपने ऊपर होनेवाले अन्यायों का विरोध करने के लिए किसानों की बड़ी-बड़ी सभाएं आये दिन होने लगी थीं। लोग यह महसूस करने लगे थे कि अवध के जोत-सम्बन्धी जिस कानून ने किसानों को हीन

हयाती हक़ दिये थे, और जिससे बहुत ज़्यादा उम्मीद की जाती थी उससे किसानों की दुखी जिन्दगी में कोई फर्क नहीं पड़ा था। गुजरात के किसानों ने तो एक बड़े पैमाने पर संघर्ष शुरू कर दिया; क्योंकि गवर्नमेंट ने यह चाहा कि मालगुजारी बढ़ा दी जाय। गुजरात में किसान खुद अपनी जमीन के मालिक हैं, जहां सरकार सीधे किसानों से ताल्लुक़ रखती है। यह संघर्ष सरदार वल्लभभाई पटेल के नेतृत्व में हुआ बारडोली का सत्याग्रह था। इस लड़ाई में किसानों की बहादुरी के साथ विजय हुई, जिसे देखकर तमाम हिन्दुस्तान वाह-वाह करने लगा। बारडोली के किसानों को बहुत काफी कामयाबी मिली। लेकिन उनकी लड़ाई की असली कामयाबी तो इस बात में थी कि उसने हिन्दुस्तान भर के किसानों पर बड़ा अच्छा असर डाला। हिन्दुस्तान के किसानों के लिए बारडोली आशा, शक्ति और विजय का प्रतीक हो गई।

१९२८ के हिन्दुस्तान की एक और बहुत ख़ास बात थी नौजवानों के आन्दोलन की बढ़ती। हर जगह युवक-संघ कायम हो रहे थे और युवक कांफ्रेंस की जा रही थीं। ये संघ और कांफ्रेंस तरह-तरह के थे। कोई अर्द्ध-धार्मिक थे तो कोई क्रान्तिकारी विचारों और उनके शास्त्रों पर विचार करनेवाले। लेकिन उनकी उत्पत्ति कुछ भी हो और उनका नियंत्रण किसीके हाथ में हो, युवकों की ऐसी सभाएं हमेशा अपने-आप आजकल की सजीव सामाजिक और आर्थिक समस्याओं पर विचार करने लगती थीं और आम तौर पर उनका झुकाव यही था कि एकदम कायापलट कर दी जाय।

महज राजनैतिक विचार से देखा जाय तो यह साल साइमन कमीशन के बहिष्कार के लिए तथा बहिष्कार के रचनात्मक पहलू के नाम से पुकारे जाने वाले सर्वदल-सम्मेलन के लिए मशहूर है। इस बहिष्कार में नरमदलवालों ने कांग्रेस का साथ दिया और उसमें गजब की कामयाबी हुई। जहां-जहां कमीशन गया

वहां-वहां जन-समूह ने 'साइमन गो बैक' (साइमन लौट जाओ) के नारे लगाकर उसका 'स्वागत' किया। इस तरह हिन्दुस्तान के तमाम लोगों की बहुत बड़ी तादाद न सिर्फ सर जान साइमन का नाम ही जान गई, बल्कि अंग्रेजी के 'गो बैक' ये दो शब्द भी उसे मालूम हो गये।

साइमन-कमीशन हिन्दुस्तान में दौरा कर रहा था और काले झंडे लिये हुए 'गो बैक' के नारे लगानेवाली विरोधी भीड़ हर जगह उसका स्वागत कर रही थी। कभी-कभी भीड़ और पुलिस में मामूली झगड़ा भी हो जाता था। लाहौर में बात बहुत बढ़ गई और यकायक देशभर में गुस्से की लहर दौड़ गई। लाहौर में साइमन-विरोधी जो प्रदर्शन हुआ, वह लाला लाजपतराय के नेतृत्व में हुआ। जब वह सड़क के किनारे हजारों प्रदर्शनकारियों के आगे खड़े हुए थे तब एक नौजवान अंग्रेज पुलिस अफसर ने उन पर हमला किया और उनकी छाती पर डंडे लगाये। लालाजी का तो कहना ही क्या, भीड़ की तरफ़ से किसी किस्म का झगड़ा खड़ा करने की कोशिश नहीं हुई थी। फिर भी जब वह एक तरफ़ शान्ति से खड़े हुए थे तब पुलिस ने उनको और उनके कई साथियों को बहुत बुरी तरह मारा। गलियों में अथवा सड़कों पर होनेवाले आम प्रदर्शनों में हिस्सा लेनेवाले हर शख्स को यह खतरा रहता था कि पुलिस से मुठभेड़ हो जायगी और यद्यपि हमारे प्रदर्शन करीब-करीब हमेशा ही सोलहों आने शान्त होते थे फिर भी लालाजी इस खतरे को जरूर जानते होंगे और उन्होंने जान-बूझकर वह खतरा उठाया होगा। लेकिन फिर भी जिस वहशियाने ढंग से उनपर हमला किया गया उससे हिंदुस्तान के करोड़ों लोगों को धक्का लगा। उन दिनों हम पुलिस द्वारा लाठियों की मार खाने के आदी न थे। उस वक्त तक इस प्रकार बार-बार होनेवाली पाशविकता के आदी न होने के कारण हम उसे बहुत बुरा मानते थे। हमारे सबसे बड़े नेता, पंजाब के सबसे बड़े और सबसे ज्यादा लोकप्रिय व्यक्ति के साथ

ऐसे बुरे व्यवहार का होना बिलकुल हैवानियत मालूम पड़ी और उस व्यवहार को देखकर हिन्दुस्तान-भर में, खासकर उत्तरी हिन्दुस्तान में, एक जबर्दस्त गुस्सा फैल गया। हम लोग कितने असहाय और कितने कमजोर हैं कि हम अपने नेताओं के मान की भी रक्षा नहीं कर सकते !

लालाजी को शारीरिक चोट भी कम भीषण नहीं लगी, क्योंकि उनकी छाती पर लाठियां मारी गई थीं और वह बहुत दिनों से दिल की बीमारी से पीड़ित थे। अगर ये चोटें किसी तन्दुरुस्त नौजवान के लगी होतीं तो इतनी घातक न साबित होतीं। लेकिन लालाजी न तो नौजवान थे, न तन्दुरुस्त ही। कुछ हफ्ते बाद लालाजी की जो मौत हुई उसपर इन शारीरिक चोटों का क्या असर पड़ा, निश्चित रूप से यह बताना तो मुमकिन नहीं है, हालांकि उनके डाक्टरों की यह राय थी कि इन चोटों के कारण उनकी मृत्यु जल्दी हो गई। लेकिन मैं समझता हूं कि इस बात में कोई शक नहीं है कि शारीरिक चोटों से लालाजी को जो मानसिक आघात पहुंचा, उसका उनके ऊपर बहुत ज्यादा असर पड़ा। वह बहुत ही नाराज और संतप्त हो गये—इसलिए नहीं कि उनका जाती अपमान हुआ था, बल्कि इसलिए कि उनपर किये गये हमले में राष्ट्रीय अपमान सम्मिलित था।

: २२ :

लाठी-प्रहारों का अनुभव

लाला लाजपतराय पर हमला होने और बाद में उनकी मृत्यु हो जाने से साइमन-कमीशन के खिलाफ प्रदर्शनों का जोर और भी बढ़ गया। वह लखनऊ में आनेवाला था और वहां भी कांग्रेस-कमेटी ने उसके 'स्वागत' की भारी तैयारियां की थीं। कई दिन पहले से ही बड़े-बड़े जुलूस, सभाएं और प्रदर्शन किए

गए, जो प्रचार के लिए और असली प्रदर्शन से पहले रिहसल के तौर पर थे। मैं भी लखनऊ गया और इनमें से कई कार्यों में मौजूद भी रहा। इन प्रारम्भिक प्रदर्शनों की, जो पूरी तरह से व्यवस्थित और शान्त थे, कामयाबी ने अधिकारियों को झुंझला दिया और उन्होंने खास-खास जगहों में जुलूसों को रोकने और उनके निकाले जाने के खिलाफ हुक्म देना शुरू किया। इसी सिल-सिले में मुझे नया अनुभव हुआ और मेरे शरीर पर भी पुलिस के डंडों और लाठियों की मार पड़ी।

जुलूस, आमद-रफ्त में रुकावट पड़ने का सबब जाहिर करके, बन्द किये गये थे। हमने फैसला किया कि इस मामले में शिकायत का कोई मौका न दिया जाय और जहांतक मुझे याद है, सोलह-सोलह आदमियों की छोटी-छोटी टुकड़ियां बनाकर उन्हें अलग-अलग रास्तों से सभा की जगह पर भेजने का इन्त-जाम किया। कानून की बारीकी से देखा जाय तो बेशक यह हुक्म का तोड़ना ही था, क्योंकि झंडा लेकर सोलह आदमियों का निक-लना एक जुलूस ही था। सोलह आदमियों के एक झुंड के आगे-आगे मैं भी था,और एक बड़े फासले के बाद ऐसा ही एक और दल आया, जिसके नेता मेरे साथी गोविन्दवल्लभ पन्त थे। वह सड़क सुनसान-सी थी। मेरा दल शायद दो सौ गज ही गया होगा कि हमने अपने पीछे घोड़ों की टापों की आहट सुनी। जब हमने पीछे मुंह किया तो देखा कि घुड़सवारों का एक दल, जिसमें शायद दो या तीन दर्जन सिपाही थे, हमारे ऊपर तेजी से चढ़ा चला आ रहा है। वे फौरन ही हमारे पास आ पहुंचे और घोड़ों की जुड़ी हुई कतार ने सोलह आदमियों के हमारे छोटे-से झुंड को तितर-बितर कर दिया। फिर घुड़सवारों ने हमारे स्वयंसेवकों को बड़े डंडों से मारना शुरू किया, इससे स्वयंसेवक सहसा सड़क की बाजू की तरफ हटे और कुछ तो छोटी दुकानों में भी घुस गये। सवारों ने उनका पीछा किया और उन्हें पीट-पीटकर गिरा दिया। जब मैंने घोड़ों को ऊपर चढ़ते हुए देखा, तब मेरी भी स्वाभाविक वृत्तिने

मुझे प्रेरित किया कि मैं बच जाऊं। वह हिम्मत तोड़नेवाला दृश्य था। मगर फिर, मेरा खयाल है कि,किसी दूसरी स्वाभाविक वृत्ति ने मुझे अपनी जगह पर ही खड़ा रक्खा और मैं पहले हमले को बरदाश्त कर गया, जिसे मेरे पीछे के स्वयंसेवकों ने रोक लिया था। अचानक मैंने देखा कि मैं सड़क के बीच में अकेला हूं, मुझसे कुछ ही गज की दूरी पर सब तरफ पुलिसवाले थे, जो हमारे स्वयंसेवकों को पीट गिराते थे। अपने आप ही मैं, जरा आड़ में हो जाने की खातिर सड़क की बाजू की तरफ धीरे-धीरे चलने लगा। मगर मैं फिर रुक गया और मैंने अपने दिल में विचार किया और यह फैसला किया कि हट जाना मेरे लिए अच्छा न होगा। यह सब सिर्फ कुछ ही पलों में हो गया, मगर मुझे उस समय के विचार-संघर्ष और निर्णय का अच्छी तरह स्मरण है। यह निर्णय मेरी राय में मेरे उस स्वाभिमान का परिणाम था जो मुझे कायर की तरह काम करते नहीं देख सकता था। फिर भी कायरता और हिम्मत के बीच की रेखा बहुत बारीक थी और मैं कायरता की तरफ भी जा सकता था। मैंने ऐसा निर्णय किया ही था कि मैंने मुड़कर देखा कि एक घुड़सवार मेरे ऊपर घोड़ा छोड़ता चला आ रहा है और अपना लम्बा डंडा घुमा रहा है। मैंने उससे कहा—"लगाओ" और अपना सिर जरा हटा लिया। यह भी सिर और मुंह को बचाने की एक स्वाभाविक प्रवृत्ति ही थी। उसने मेरी पीठ पर धमाधम दो वार किये। मुझे चक्कर आने लगा और मेरा सारा शरीर थरथराने लगा, मगर मुझे यह जानकर आश्चर्य और संतोष हुआ कि मैं फिर भी खड़ा ही रहा। फौरन ही पुलिस दल पीछे हटा लिया गया और उसे हमारे सामने सड़क रोकने को कहा गया। हमारे स्वयंसेवक फिर इकट्ठे हो गये, जिनमें से कई के खून निकल रहा था और कई की खोपड़ियां फूट गई थीं। हमसे पन्त और उनका दल भी आ मिला। वह भी पीटा गया था। अब हम सब पुलिस के सामने बैठ गये। इस तरह लगभग एक घंटे तक बैठे रहे और अंधेरा हो गया। एक तरफ तो कई

बड़े-बड़े अफसर इकट्ठे हो गये और दूसरी तरफ जैसे-जैसे खबर फैली वैसे-वैसे लोगों की बड़ी भीड़ इकट्ठी होने लगी। आखिर-कार अधिकारी हमें अपने रास्ते से जाने देने पर राजी हो गये और उसी रास्ते से हम गये। हमारे आगे-आगे हमराह की तरह पुलिस के घुड़सवार भी चले, जिन्होंने हमपर हमला किया था और हमें मारा था।

इस छोटी-सी घटना का हाल मैंने कुछ विस्तार से लिखा है; क्योंकि इसका मुझपर खास असर हुआ। मुझे जो शारीरिक कष्ट हुआ वह मेरी इस खुशी के खयाल के आगे याद ही नहीं रहा कि मैं भी लाठी की मार को बरदाश्त करने और उनके सामने टिके रहने के लायक मजबूत हूं। और जिस बात से मुझे ताज्जुब हुआ वह यह कि इस सारी घटना में, और जबकि मैं पीटा जा रहा था तब भी, मेरा दिमाग ठीक-ठीक काम करता रहा और मैं अपने अन्दर की भावनाओं का ज्ञानपूर्वक विश्लेषण करता रहा। इस रिहर्सल ने मुझे दूसरे दिन सवेरे बड़ी मदद दी, जबकि हमारा और भी सख्त इम्तिहान होनेवाला था। क्योंकि दूसरे दिन सवेरे ही साइमन-कमीशन आनेवाला था और उसी वक्त हम विरोधी प्रदर्शन करनेवाले थे।

उस समय मेरे पिताजी इलाहाबाद में थे और मुझे डर था कि जब वह दूसरे दिन सवेरे अखबारों में मुझपर होने वाले हमले का हाल पढ़ेंगे तो वह और परिवार के दूसरे लोग भी चिन्तित हो जावेंगे। इसलिए मैंने रात को उन्हें टेलीफोन कर दिया कि सब खैरियत है और आप लोग किसी किस्म की फिक्र न करें। मगर उन्हें फिक्र तो हुई। और जब वह शान्ति से न रह सके तो, आधी रात के करीब उन्होंने लखनऊ आना तय किया। आखिरी ट्रेन छूट चुकी थी, इसलिए वह मोटर से रवाना हुए। रास्ते में मोटर में कुछ गड़बड़ हो गई थी और वह १४६ मील का सफर पूरा करके सवेरे करीब ९ बजे बिलकुल थके-मांदे लखनऊ पहुंचे।

यह करीब-करीब वह वक्त था जबकि हम जुलूस में स्टेशन जाने की तैयारी कर रहे थे। हमारे कुछ भी करने से लखनऊ जितना उभड़ न सकता था, उतना कल की घटनाओं से उभड़ गया और सूरज उगने से भी पहले बड़ी तादाद में लोग स्टेशन पर पहुंच गए। शहर के मुख्तलिफ हिस्सों से बेशुमार छोटे-छोटे जुलूस आये और कांग्रेस-आफिस से बड़ा जुलूस चार-चार की कतार में रवाना हुआ, जिसमें कई हजार आदमी थे। हम बड़े जुलूस में थे। ज्योंही हम स्टेशन के पास पहुंचे, हमें पुलिस ने रोक दिया। वहां स्टेशन के सामने करीब आध मील लम्बा और इतना ही चौड़ा बड़ा भारी खुला मैदान था। (यहां अब नया स्टेशन बन गया है।) उस मैदान की एक बाजू पर हमें कतार में खड़ा कर दिया गया। हमारा जुलूस वहीं खड़ा रहा, हमने आगे बढ़ने की बिलकुल कोशिश नहीं की। उस जगह सब तरफ पैदल और घुड़सवार पुलिस और फौज आकर भर गई थी। हमदर्दी रखनेवाले तमाश-बीनों की भीड़ भी बढ़ गई थी और कई जगह दो-दो तीन-तीन आदमी विशाल मैदान में जा खड़े हुए थे। अचानक दूर पर हमें एक दल आता हुआ दिखाई दिया। वह घुड़सवारों की दो या तीन लम्बी कतारें थीं, जो सारे मैदान को घेरे हुए थीं और हमारी तरफ दौड़ रही थीं और मैदान में जो कुछ लोग जा खड़े हुए उन्हें मारती-कुचलती चली आ रही थीं। घोड़े को दौड़ाते हुए सवारों का हमला करना एक बड़ा अच्छा दृश्य था, बशर्ते कि रास्ते में खड़े हुए बेचारे बेखबर तमाशबीनों के साथ, जो घोड़ों के पैरों तले रौंदे गये थे, दर्दनाक वाकया न हो जाता। इन हमला करनेवाली लाइनों के पीछे वे लोग जमीन पर पड़े हुए थे, जिनमें कुछ तो उठ भी नहीं सकते थे और कुछ दर्द से कराह रहे थे। उस मैदान का सारा नजारा लड़ाई के मैदान का-सा हो गया था। मगर उस दृश्य को देखने या कुछ सोच-विचार करने का हमें ज्यादा वक्त नहीं मिला, घुड़सवार फौरन हमारे ऊपर आ गये और उनकी आगे की कतार हमारे जुलूस के आगे खड़े हुए लोगों से एक

ही छलांग में टकरा गईं। हम वहीं डटे रहे और चूंकि हम हटते हुए नहीं दिखाई दिये, इसलिए उन्हें उसी दम घोड़ों को रोक देना पड़ा। घोड़े पिछले पैरों पर खड़े रह गये, उनके अगले पैर हमारे सिरों पर लटकते हुए हिल रहे थे। और फिर हमपर पैदल और घुड़सवार पुलिस दोनों की लाठियां पड़ने लगीं। वह बहुत भयंकर मार थी और पिछले दिनों जो मेरे दिमाग की विचार-शक्ति कायम रही थी वह जाती रही। मुझे सिर्फ इतना ही औसान रहा कि मुझे अपनी जगह पर ही खड़ा रहना चाहिए और गिरना या पीछे हटना नहीं चाहिए। मार से मुझे अंधेरी आ गई और कभी-कभी मन-ही-मन गुस्सा और उलटकर मारने का खयाल भी आया। मैंने सोचा कि अपने सामने के पुलिस अफसर को गिराकर घोड़े पर खुद चढ़ जाऊं। यह कितना आसान है। मगर लम्बे अर्से की तालीम और अनुशासन ने काम दिया और मैंने अपने सिर को मार से बचाने के सिवा हाथ तक नहीं उठाया। इसके अलावा मैं अच्छी तरह जानता था कि अगर हमारी तरफ कुछ भी मुकाबला हुआ तो यह भीषण दुर्घटना हो जायगी, जिसमें हमारे आदमी बड़ी तादाद में गोलियों से भून दिये जायंगे।

हमें यह समय भयंकर रूप से लम्बा मालूम पड़ा, मगर शायद वह सिर्फ कुछ ही मिनटों का खेल था। उसके बाद धीरे-धीरे एक-एक कदम हमारी लाइन, टूटे बगैर पीछे हटने लगी। इससे मैं कुछ-कुछ अलग और दोनों तरफ से ज्यादा खुला हुआ रह गया। मुझपर और मार पड़ी और फिर में अचानक पीछे से उठा लिया गया और वहां से दूर ले जाया गया। इससे मुझे बड़ी झुंझलाहट हुई। मेरे कुछ नौजवान साथियों ने, यह कयास करके कि मुझ-पर घातक हमला किया जा रहा है, मुझे इस तरह एकाएक बचा लेना तय कर लिया था।

हमारे जुलूस के लोग अपनी असलीला इन से करीब सौ फुट पीछे फिर एक कतार बनाकर खड़े हो गए। पुलिस भी पीछे हट

गई और हमसे पचास फुट के फासले पर एक लाईन में खड़ी हो गई। इस तरह हम खड़े रहे और साइमन-कमीशन, जो इस सारे झगड़े की जड़ था, हमसे दूर करीब आध मील की दूरी पर स्टेशन से चुपचाप निकल गया। इतना करने पर भी वह काले झंडों या प्रदर्शन करनेवालों से बचकर न निकल सका। इसके बाद ही हम पूरा जुलूस बनाकर कांग्रेस-दफ्तर आये और वहां से बिखरकर चले गये। मैं अपने पिताजी के पास गया, जो बड़ी चिन्ता से मेरा इन्तजार कर रहे थे।

अब वह सामयिक उत्तेजना चली गई थी तो मुझे सारे शरीर में दर्द और भारी थकान मालूम होने लगी। शरीर का करीब-करीब हर हिस्सा दर्द करता था और सब जगह अंधी चोटों और मार के निशान हो गये थे। मगर खैर थी कि मुझे किसी नाजुक जगह पर चोट नहीं आई थी। परन्तु हमारे कई साथी इतने खुशकिस्मत न थे। उन्हें बुरी तरह चोट आई थी। गोविन्दवल्लभ पन्त पर, जो मेरे पास खड़े थे, ज्यादा मार पड़ी; क्योंकि वह छः फुट से भी ज्यादा ऊंचे-पूरे थे। उस वक्त जो चोटें उनके आईं उनके सबब से बहुत अर्से तक उन्हें इतना दर्द और तकलीफ रही कि वह कमर भी सीधी नहीं कर सकते थे और न कुछ ज्यादा काम-काज ही कर सकते थे। उसके बाद मुझे अपनी शारीरिक हालत और बरदाश्त करने की ताकत का कुछ ज्यादा घमण्ड हो गया। मगर मार पड़ने की याद से ज्यादा तो मुझे कई मारने-वाले पुलिसवालों, खासकर अफसरों के चेहरों की याद बनी हुई है। ज्यादातर असली मार-पीट तो यूरोपियन सारजेंटों ने की, हिन्दुस्तानी सिपाही तो हल्के-हल्के ही काम चला रहे थे। उन सारजेण्टों के चेहरों में हिकारत और खून की प्यास करीब पागलपन की हद तक भरी हुई थी और हमदर्दी या इन्सा-नियत का नामोनिशान भी न था। ठीक उसी वक्त, शायद, हमारी तरफ के चेहरे भी देखने में उतने ही नफरतभरे होंगे, और हमारे ज्यादातर अहिंसात्मक होने से, हमारे विरोधियों

के लिए हमारे दिल और दिमाग में कोई प्रेम-भाव नहीं रह गया होगा और न हमारे चेहरों पर सद्भाव झलका होगा। लेकिन फिर भी एक-दूसरे के खिलाफ हमें कोई शिकायत न थी। हमारा कोई जाती झगड़ा न था, न कोई दुर्भाव था। उस वक्त हम अजीब और जबरदस्त ताकतों के प्रतिनिधि थे, जो हमें अपने अधीन बनाए हुए थीं और हमें इधर और उधर फेंकती जाती थीं और जिन्होंने हमारे दिलों और दिमागों पर बड़ी खूबी से कब्जा करके हमारी अभिलाषाओं और रागद्वेषों को उभाड़ दिया था और हमें अपना अंधा हथियार बना लिया था। हम अंधे की तरह दौड़-धूप करते थे और यह नहीं जानते थे कि यह किसलिए करते हैं या कहां चले जा रहे हैं? काम की उत्तेजना ने हमें टिकाए रखा था, मगर जब वह चली गई तो फौरन यह सवाल पैदा हुआ कि आखिर यह सब किसलिए किया जा रहा है? किस लक्ष्य के लिए?

: २३ :

कलकत्ता-कांग्रेस और उसके बाद

उस साल देश की राजनीति में ज्यादातर साइमन-कमीशन के बायकाट और सर्वदल-सम्मेलन का ही बोलबाला रहा। लेकिन मेरी अपनी दिलचस्पी ज्यादातर दूसरी तरफ रही और मैंने काम भी ज्यादातर उन्हीं दिशाओं में किया। कांग्रेस के कार्य-वाहक प्रधान-मंत्री की हैसियत से मैं उसके संगठन की देखभाल करने और उसे मजबूत बनाने में लगा रहा। खास तौर पर मेरी दिलचस्पी इस बात में थी कि मैं लोगों का ध्यान सामाजिक और आर्थिक परिवर्तनों की तरफ खींचूं। पूर्ण स्वाधीनता के सिल-सिले में मदरास में हम जिस हद तक पहुंच गये थे उस स्थिति को भी मजबूत रखना था। खास तौर पर इसलिए कि सर्व-दल-सम्मेलन का तमाम झुकाव हम लोगों को पीछे खींचने की तरफ

था। इस उद्देश्य को सामने रखकर मैंने देश में बहुत सफर किया और कई बड़ी-बड़ी आम सभाओं में व्याख्यान दिये।

ज्यों-ज्यों १९२८ का अखीर आता गया त्यों-त्यों कलकत्ता-कांग्रेस नजदीक आती गई। उसके सभापति मेरे पिताजी चुने गये थे। उनका दिल और दिमाग उस वक्त सर्व-दल-सम्मेलन तथा उसके लिए उन्होंने जो रिपोर्ट तैयार की थी उससे सराबोर था। वह चाहते थे कि उसे कांग्रेस से पास करा लिया जाय। वह यह जानते थे कि मैं उनकी इस बात से सहमत न था, क्योंकि मैं आजादी के प्रश्न पर कोई समझौता करने को राजी न था। इस बात पर वह नाराज भी थे। इसलिए इसपर हम लोगों ने बहुत बहस नहीं की। लेकिन हम दोनों के मन में मानसिक संघर्ष का भाव निश्चित रूप से काम कर रहा था और हम लोग यह जानते थे कि हम एक-दूसरे के खिलाफ जा रहे हैं। मतभेद तो हम लोगों में इससे भी पहले अक्सर हुआ करता था, ऐसा भारी मतभेद कि जिसके फल-स्वरूप हम अलग-अलग पक्षों में रहते थे, लेकिन मेरा खयाल है कि इससे पहले या इसके बाद भी और किसी भी मौके पर हम लोगों में इतनी तनातनी नहीं हुई जितनी कि इस वक्त थी।

हम दोनों ही इस बात से कुछ हद तक दुःखी थे। कलकत्ते में तो मामला इस हद तक बढ़ गया था कि पिताजी ने यह बात साफ-साफ कह दी कि अगर कांग्रेस में उनकी बात नहीं चली, यानी अगर कांग्रेस ने, सर्व-दल-सम्मेलन की रिपोर्ट के पक्ष में जो प्रस्ताव पेश किया जायगा उसे बहुमत से मंजूर नहीं किया, तो वह कांग्रेस का सभापति रहने से इन्कार कर देंगे। यह बात बिलकुल वाजिब थी और विधान की दृष्टि से उन्हें यह तरीका अख्तियार करने का पूरा हक था। फिर भी उनके बहुत-से उन विरोधियों के लिए, जो यह नहीं चाहते थे कि इस बात के लिए मामला इस हद तक बढ़ जाय, वह बहुत-ही परेशानी की बात थी।

दोनों दलों में समझौते की बातचीत चली और यह जाहिर किया गया कि समझौते का एक रास्ता निकल आया है; लेकिन अखीर म वह गिर गया । ये सब बातें बड़े गोलमाल में डालनेवाली थीं और इनमें शोभा भी नहीं थी । कांग्रेस के खास प्रस्ताव में, जैसाकि वह अखीर में पास हुआ, सर्व-दल-सम्मेलन की रिपोर्ट को मंजूर कर लिया गया; लेकिन उसमें ब्रिटिश सरकार से यह भी कह दिया गया कि अगर उसने एक साल के अन्दर इस विधान को मंजूर नहीं किया तो कांग्रेस फिर अपने आजादी के ध्येय को ग्रहण कर लगी। असल में इस प्रस्ताव ने सरकार को एक नम्र चुनौती देकर उसे साल-भर की मियाद दी थी । इसमें कोई शक नहीं कि यह प्रस्ताव हमें आजादी के ध्येय से नीचे घसीट लाया था, क्योंकि सर्व-दल-सम्मेलन की रिपोर्ट ने तो पूरे डोमिनियन स्टेट्स की भी मांग नहीं की थी । फिर भी यह प्रस्ताव इस अर्थ म बुद्धिमत्तापूर्ण था कि उसने एक ऐसे वक्त में कांग्रेस में फूट नहीं होने दी जबकि कोई भी फूट के लिए तैयार न था और उसने, १९३० में जो लड़ाई शुरू हुई उसके लिए, सब कांग्रेसियों को एक साथ रक्खा। यह बात तो बिलकुल साफ थी कि ब्रिटिश सरकार साल भर के अन्दर सब दलों द्वारा बनाये गये विधान को मंजूर नहीं करेगी। सरकार से लड़ाई होना लाजिमी था और उस वक्त देश की जैसी हालत थी उसमें सरकार से किसी किस्म की लड़ाई उस वक्त तक कारगर नहीं हो सकती थी, जबतक उसे गांधीजी का नतृत्व न मिले।

मैंने कांग्रेस के खुले जलसे में इस प्रस्ताव का विरोध किया था। यद्यपि यह मुखालफत मैंने कुछ-कुछ बेमन से की थी, तो भी इस बार मुझे प्रधान-मंत्री चुना गया। कुछ भी हो, मैं मंत्री-पद पर बना रहा और कांग्रेस के क्षेत्र में ऐसा मालूम पड़ता था कि मैं वही काम कर रहा हूं जो प्रसिद्ध 'विकार आफ ब्रे' करता था। कांग्रेस की गद्दी पर कोई भी सभापति बैठे, मैं हमेशा

उस संगठन को सम्हालने के लिए उसका मंत्री बनाया जाता था।

१९२९ की कांग्रेस लाहौर में होने वाली थी । वह दस साल के बाद फिर पंजाब में होने जा रही थी, और लोग दस वर्ष पहले की बातें याद करने लगे—१९१९ की घटनाएं, जलियावाला बाग, फौजी कानून और उसके साथ होने वाली बेइज्जतियां, अमृतसर का कांग्रेस-अधिवेशन और उसके बाद असहयोग की शुरूआत। इन दस वर्षों में बहुत-सी घटनाएं हुईं थीं और हिन्दुस्तान की सूरत ही बदल गई थी, मगर फिर भी उस और इस समय में समानताओं की कमी न थी। राजनैतिक विक्षोभ बढ़ रहा था और संघर्ष का वातावरण तेजी से बनता जा रहा था । आनेवाले संघर्ष की लम्बी छाया पहले से ही देश पर पड़ रही थी।

असेम्बली और प्रांतीय कौंसिलों में बहुत समय से, उन मुट्ठीभर लोगों के सिवा जो उनके चौकों में चक्कर काटा करते थे, लोगों की दिलचस्पी नहीं रही थी। ये असेम्बलियां और कौंसिलें अपनी लकीर पीटा करती थीं, जिनसे सरकार को अपने सत्ताधारी और स्वेच्छाचारी स्वरूप को ढकने के लिए एक टूटा-फूटा सहारा और लोगों को हिन्दुस्तान में पार्लमेण्ट होने और उसके मेम्बरों को भत्ता मिलने की बात करने का एक बहाना मिल जाता था।

धीरे-धीरे गरमी और बरसात की ऋतु बीत कर ज्योंही शरद-ऋतु आई, प्रान्तीय कांग्रेस कमेटियां कांग्रेस के लाहौर-अधिवेशन के लिए अध्यक्ष चुनने के काम में लग गईं। इस चुनाव की एक लम्बी कार्रवाई होती है, जो अगस्त से अक्तूबर तक चलती रहती है। १९२९ में गांधीजी को अध्यक्ष बनाने के पक्ष में करीब-करीब एक मत था। उन्हें दूसरी बार सभापति बनाने से, वास्तव में, कांग्रेस के नेताओं में उनका पद कोई ऊंचा नहीं हो

जाता था; क्योंकि वह तो कई बरसों से एक तरह से सभापतियों के भी दादा बने हुए थे। उस वक्त सबको यही लगा कि चूंकि लड़ाई अत्यन्त निकट है और उसकी सारी बागडोर यों भी उन्हीं के हाथों में रहने वाली है, तो फिर कांग्रेस का 'विधिवत्' नेता भी उस वक्त के लिए उन्हींको क्यों न बनाया जाय? इसके सिवा, इतना बड़ा और कोई आदमी सामने न था, जो उस समय सभापति बनाया जाय।

इसलिए प्रान्तीय कमेटियों ने सभापति-पद के लिए गांधीजी की सिफारिश की। मगर उन्होंने मंजूर न किया। हालांकि उन्होंने जोर के साथ इन्कार किया था, मगर उसमें दलील करने की गुंजाइश मालूम हुई और यह उम्मीद की गई कि वह उसपर दुबारा ग़ौर कर लेंगे। लखनऊ में इसका आख़िरी फ़ैसला करने के लिए अखिल भारतीय कांग्रेस-कमेटी की मीटिंग की गई और आखिरी घड़ी तक करीब-करीब हम सभीका यह खयाल था कि वह राजी हो जायंगे। मगर ऐसा न हुआ और आखिरी घड़ी में उन्होंने मेरा नाम पेश किया और उसपर जोर दिया। उनके आखिरी इनकार से अखिल भारतीय कांग्रेस-कमेटी के लोग तो कुछ-कुछ भौंचक्के रह गये और इस विषम स्थिति में डाले जाने से कुछ-कुछ नाराज भी हुए। किसी दूसरे शख्स के उपलब्ध न होने की दशा में, लाचारी से उन्होंने आखिर मुझको चुन लिया।

मुझे पहले कभी इतनी झुंझलाहट और जिल्लत महसूस नहीं हुई जितनी इस चुनाव पर। यह बात नहीं थी कि मुझे यह सम्मान दिये जाने का——क्योंकि यह एक बड़े भारी सम्मान की बात है——भान न हो और अगर मैं मामूली तरीके से चुना जाता तो मुझे खुशी भी हुई होती। मगर मुझे यह सम्मान तो सीधे रास्ते या बगल के रास्ते से भी नहीं मिला, मैं तो गोया किसी छिपे रास्ते से आ खड़ा हुआ और अचानक लोगों को मुझे मंजूर

कर लेना पड़ा। उन्होंने किसी तरह इसे बरदाश्त किया और दवा की गोली की तरह मुझे निगल लिया। इससे मेरे स्वाभिमान को चोट पहुंची और मुझे करीब-करीब महसूस हुआ कि मैं इस सम्मान को लौटा दूं। मगर खुशकिस्मती से मैंने अपने भावों को प्रकट करने से अपने-आपको रोक लिया और भारी कलेजा लिये हुए वहां से चुपचाप चला आया।

इस फैसले पर जिसको सबसे ज्यादा खुशी हुई वह शायद मेरे पिताजी थे। वह मेरी राजनीति को पसन्द नहीं करते थे, मगर वह मुझे तो बहुत ज्यादा चाहते थे और मेरे लिए कुछ भी अच्छी बात होने से उन्हें खुशी होती थी। अक्सर वह मेरी नुक्ता-चीनी करते थे और मुझसे कुछ रुखाई से बोला करते थे, मगर कोई भी आदमी, जो उनकी सदिच्छा बनाये रखने की परवा करता हो, उनके सामने मेरे खिलाफ कुछ कह नहीं सकता था।

मेरा चुनाव मेरे लिए एक बड़े सम्मान और उत्तरदायित्व की बात थी; और यह चुनाव इसलिए महत्त्व रखता था कि अध्यक्ष-पद पर बाप के बाद फौरन ही बेटा आ रहा था।

लाहौर-कांग्रेस नजदीक आती जाती थी। इस बीच घटनाएं एक-एक करके ऐसी घटती जाती थीं, जिनसे मालूम होता था वे खुद अपनी ही किसी ताकत से आगे बढ़ती जा रही हैं। व्यक्ति कितने ही बड़े क्यों न थे, मगर उनका बहुत ही थोड़ा हिस्सा था। व्यक्ति को यही मालूम होता था कि वह किसी बड़ी मशीन के अन्दर, जो बेरोक आगे बढ़ती हुई चली जा रही थी, सिर्फ एक पुर्जे की तरह ही है।

भाग्य की इस प्रगति को, रोकने की आशा से ब्रिटिश सरकार एक कदम आगे बढ़ी और वाइसराय लार्ड अर्विन ने एक गोल-मेज कांफ्रेंस करने की बाबत एलान किया। उस एलान के शब्द बड़ी चालाकी-भरे थे। जिनका मतलब 'बहुत कुछ' भी और 'कुछ नहीं' भी हो सकता था, और हम कई को तो यह

साफ मालूम होता था कि 'कुछ नहीं' ही निकलेगा। अगर उसमें ज्यादा मतलब भी होता तो भी जो कुछ चाहते थे उसके करीब तक भी वह नहीं पहुंच सकता था। वाइसराय के इस ऐलान के निकलते ही फौरन, और बड़ी जल्दी से, दिल्ली में 'लीडरों की कांफ्रेंस' बुलाई गई और कई दलों के लोग उसमें बुलाये गए। उसमें गांधीजी, मेरे पिताजी और विट्ठलभाई पटेल भी (जो उस समय तक असेंबली के प्रेसिडेंट ही थे) मौजूद थे और तेजबहादुर सप्रू वगैरा नरम दल के नेता भी थे। सबकी सहमति से एक संयुक्त प्रस्ताव या वक्तव्य तैयार किया गया, जिसमें वाइसराय का ऐलान कुछ शर्तों के साथ—जिनके बारे में कहा गया था कि ये जरूरी हैं और पूरी की जानी चाहिए—मंजूर किया गया। अगर इन शर्तों को सरकार मंजूर कर लेगी तो सहयोग किया जायगा। ये शर्तें[1] काफी वजनदार थीं और उनसे कुछ तो अन्तर होता ही।

नरम और प्रगतिशील सभी दलों के द्वारा ऐसा प्रस्ताव मंजूर किया जाना एक बड़ी विजय ही थी। मगर कांग्रेस के लिए तो यह नीचे गिरना था। सबके बीच में एक सर्वसम्मत बात के रूप में वह ऊँची चीज थी।

फिर भी वह संयुक्त वक्तव्य हममें से कुछ लोगों के लिए

---

[1] शर्तें ये थीं—

१—प्रस्तावित कान्फ्रेंस में सारी बातचीत हिन्दुस्तान के लिए पूर्ण औपनिवेशिक पद के आधार पर होनी चाहिए।

२—कान्फ्रेंस में कांग्रेस के लोगों का सबसे ज्यादा प्रतिनिधित्व होना चाहिए।

३—राजनैतिक कैदियों की आम रिहाई हो।

४—अभी से आगे हिंदुस्तान का शासन, मौजूदा हालत में जहांतक मुमकिन है, उपनिवेशों के शासन के ढंग पर चलना चाहिए।

एक कड़वी घूंट था। स्वाधीनता की मांग को छोड़ देना, चाहे सिर्फ कल्पना में ही और सिर्फ थोड़ी देर के लिए ही क्यों न हो, एक गलत और खतरनाक बात थी। इसका मतलब यह था कि स्वाधीनता की बात सिर्फ एक चाल थी, जिसकी बिना पर कुछ सौदा किया जा सके; वह कोई सारभूत चीज न थी, जिसके बगैर हमें कभी सांत्वना ही न हो सके। इसलिए मैं दुविधा में पड़ गया और मैंने वक्तव्य पर हस्ताक्षर नहीं किये। (सुभाष बोस ने तो निश्चित रूप से हस्ताक्षर करने से इनकार कर दिया।) मगर, जैसाकि मुझसे अक्सर होता है, बहुत कहने-सुनने पर मैं नरम पड़ गया और मैंने हस्ताक्षर कर दिये। फिर भी मैं बड़ी बेचैनी लेकर आया और दूसरे दिन ही मैंने कांग्रेस के सभापति-पद से अलग हो जाने का विचार किया और अपना यह इरादा गांधीजी को लिख भेजा। मैं नहीं समझता कि मैंने यह गम्भीरता से लिखा था, हालांकि मैं क्षुब्ध तो काफी हो गया था। लेकिन गांधीजी का एक धीरज का पत्र आने और तीन दिन तक सोचते रहने से आखिर में मैं शान्त हो गया।

लाहौर-कांग्रेस से कुछ ही समय पहले, कांग्रेस और सरकार के बीच में समझौते का कोई आधार ढूंढने की एक आखिरी कोशिश की गई। वाइसराय लार्ड अर्विन के साथ एक मुलाकात का इन्तजाम किया गया। इस मुलाकात में गांधीजी और मेरे पिताजी कांग्रेस का दृष्टिकोण प्रकट करने के लिए मौजूद थे और मेरे खयाल से जिन्ना साहब, सर तेज बहादुर सप्रू और प्रेसिडेंट पटल भी थे। इस मुलाकात का कुछ नतीजा न निकला। सहमत होने का कोई सामान्य आधार हाथ न आया और यह पाया गया कि दो खास पार्टियां, सरकार और कांग्रेस, एक दूसरे से बहुत फासले पर थीं। इसलिए अब इसके सिवा कुछ बाकी न रहा कि कांग्रस अपना कदम आगे बढ़ावे। कलकत्ते में दी हुई एक साल की मियाद खतम हो रही थी। अब कांग्रेस का आदर्श हमेशा के लिए स्वाधीनता घोषित होने को था और उसे प्राप्त करने के लिए

जरूरी कार्रवाइयां करने को थीं।

: २४ :

पूर्ण स्वाधीनता और उसके बाद

मेरी स्मृति में लाहौर-कांग्रेस की तस्वीर आज भी साफ खिंची हुई है। यह कुदरती भी है, क्योंकि मैंने उसमें सबसे बड़ा हिस्सा लिया था और थोड़ी देर के लिए तो मैं रंग-मंच के केन्द्र में ही था और भीड़-भब्भड़ के उन दिनों में मेरे दिल में जो-जो भावनाएं पैदा हुईं, उनके खयाल से मुझे आनन्द होता है। लाहौर के लोगों ने भारी तादाद में तथा दिल से मेरा जैसा शानदार स्वागत किया, उसे मैं कभी नहीं भूल सकता। मैं अच्छी तरह जानता था कि यह अपार उत्साह मेरे लिए व्यक्तिगत नहीं था; बल्कि एक प्रतीक के लिए, एक आदर्श के लिए था। मगर किसी आदमी के लिए यह भी कोई कम बात नहीं है कि वह, थोड़े समय के लिए ही सही, बहुत लोगों की आंखों में और दिलों में वैसा प्रतीक बन जाय। मेरे आनन्द का पार न था और मैं मानो अपन व्यक्तित्व की मर्यादा को पार कर रहा था। मगर मुझपर क्या असर हुआ, इसका कोई महत्त्व नहीं है क्योंकि वहां तो बड़े-बड़े सवाल सामने थे। सारा वातावरण जोश से भरा हुआ था और अवसर की गम्भीरता का खयाल सब ओर छाया हुआ था। हमें सिर्फ नुक्ताचीनी या विरोध या राय जाहिर करने के ही प्रस्ताव नहीं करने थे, मगर हमें ऐसी लड़ाई को न्योता देना था, जिससे सारा देश हिल जानेवाला था और जिसका असर लाखों की जिन्दगी पर पड़नेवाला था।

दूर भविष्य में हमारे और हमारे देश के लिए क्या होनेवाला है, यह तो कोई भी नहीं कह सकता था। मगर निकट भविष्य में क्या होगा, यह तो साफ दिखाई देता था। हमारे लिए और हमारे

प्रिय व्यक्तियों के लिए लड़ाई और तकलीफ सामने नजर आती थी। इस खयाल ने हमारे उत्साह में गम्भीरता ला दी थी और हमें अपनी जिम्मेदारी से बहुत आगाह कर दिया था। हमारा दिया हुआ हरेक वोट अपने आराम और सुख और पारिवारिक आनन्द और मित्रों के मिलने-जुलने को बिदाई का पैगाम था, और था एकान्त के दिनों और रातों तथा शारीरिक और मानसिक कष्टों को निमन्त्रण!

स्वाधीनता और स्वाधीनता की लड़ाई को चलाने के लिए की जानेवाली कार्रवाई का खास प्रस्ताव तो करीब-करीब एकमत से पास हो गया। कई हजारों में से मुश्किल से बीस आदमियों ने उसके खिलाफ वोट दिया था। खास प्रस्ताव इत्तफाक से इकत्तीस दिसम्बर की आधी रात के घंटे की चोट के साथ, जबकि पिछला साल गुजरकर उसकी जगह नया साल आ रहा था, मंजूर हुआ। इस तरह ज्योंही कलकत्ता-कांग्रेस की दी हुई एक साल की मोहलत खत्म हुई, त्योंही नया फैसला किया गया और लड़ाई की तैयारी शुरू की गई। काल का चक्र तो चल गया, मगर फिर भी हम यह नहीं जानते थे कि हमें कैसे और कब शुरूआत करनी चाहिए। अ० भा० कांग्रेस कमेटी को हमारी लड़ाई की योजना बनाने और उसको चलाने का अख्तियार दिया गया; मगर सब जानते थे कि असली फैसला तो गांधीजी के ही हाथ है।

लाहौर-कांग्रेस में नजदीक के ही सीमाप्रान्त से बहुत लोग आये थे। इस प्रान्त से व्यक्तिगत प्रतिनिधि तो कांग्रेस की बैठक में हमेशा आया ही करते थे। पिछले कुछ बरसों से खान अब्दुल गफ्फारखां कांग्रस के अधिवेशनों में आकर हिस्सा लिया करते थे। मगर लाहौर में पहली बार सीमाप्रान्त से सच्चे नौजवानों का एक बड़ा दल आकर अखिल भारतीय राजनैतिक लहर के सम्पर्क में आया। उसके ताज़ा दिमागों पर बड़ा असर पड़ा और

वे यह खयाल और जोश लेकर गए कि वे आजादी की लड़ाई में सारे हिन्दुस्तान के साथ हैं। वे सीधे-सादे मगर बड़ा काम करने वाले लोग थे। उन्हें हिन्दुस्तान के दूसरे प्रान्त के लोगों की तरह महज बातचीत करने और बाल की खाल खींचने की आदत कम थी। उन्होंने अपने लोगों को संगठित करना और उनमें नए-नए खयालात फैलाना शुरू किया। उन्हें कामयाबी भी मिली और सीमाप्रान्त के स्त्री-पुरुष, जो कि हिन्दुस्तान की लड़ाई में सबसे पीछे शामिल हुए थे, १९३० से महत्त्वपूर्ण और बड़ा हिस्सा लेने लगे।

लाहौर-कांग्रेस के बाद ही और उसके आदेशानुसार मेरे पिताजी ने असेम्बली के कांग्रेसी-मेम्बरों को अपनी-अपनी जगहों से इस्तीफा दे देने को कहा। करीब-करीब सभी एक साथ बाहर आ गए। कुछ इने-गिने लोगों ने बाहर आने से इनकार किया, हालांकि इससे उनके चुनाव की प्रतिज्ञा भंग होती थी।

फिर भी आगे के बारे में हमें कुछ साफ सूझता न था। कांग्रेस-अधिवेशन में बड़ा जोश दिखाई देता था, मगर किसीको मालूम न था कि देश लड़ाई के कार्यक्रम का कहां तक साथ देगा। हम इतने आगे बढ़ गये थे कि अब पीछे नहीं जा सकते थे। मगर देश का रुख क्या होगा, इसका करीब-करीब बिलकुल पता न था। अपनी लड़ाई को शुरू करने के लिए और देश की नब्ज भी पहचानने की दृष्टि से २६ जनवरी को स्वतन्त्रता-दिवस मनाना तय हुआ। इस दिन देश-भर में आजादी की प्रतिज्ञा ली जानेवाली थी।

इस तरह अपने कार्यक्रम की बाबत शंकाशील मगर कुछ-न-कुछ कारगर काम करने की इच्छा और उत्साह से हम घटनाओं के इन्तजार में रहे। जनवरी के शुरू में मैं इलाहाबाद में था, मेरे पिताजी ज्यादातर बाहर रहते थे। यह एक बड़े भारी सालाना मेले––माघ मेले का वक्त था। शायद वह खास कुम्भ का साल

था और लाखों स्त्री-पुरुष लगातार इलाहाबाद में, या यात्रियों की भाषा में प्रयागराज में, आ रहे थे। वे सब तरह के लोग थे, उनमें खासकर किसान थे और मजदूर, दूकानदार, कारीगर, व्यापारी, औद्योगिक और ऊँचे पेशेवाले लोग भी थे। वास्तव में हिन्दुओं में से सभी तरह के लोग आये थे। जब मैं इस बड़ी भीड़ को और संगम पर जाते और आते हुए लोगों की अटूट धारा को देखता तो मैं सोचा करता कि ये लोग सत्याग्रह और शान्तिपूर्ण सीधे हमले की पुकार का कितना साथ देंगे? इनमें से कितने लोग लाहौर के प्रस्तावों को जानते हैं या उनकी परवा करते हैं? उनका वह विश्वास कितना आश्चर्यजनक और मजबूत है, जिससे वे और उनके बुजुर्ग हजारों बरसों से हिन्दुस्तान के हर हिस्से से पवित्र गंगा में स्नान करने के लिए चले आते थे! क्या वे इस अदम्य उत्साह को अपनी जिन्दगी सुधारने के लिए राजनैतिक और आर्थिक कार्य में नहीं लगा सकते या क्या उनके दिमाग़ों में धर्म का बाह्याचार और दक़ियानूसीपन इतना भर चुका है कि उनमें दूसरे खयालात की गुंजाइश ही नहीं रही? मैं तो यह जानता ही था कि ये दूसरे खयालात उनमें पहुंच चुके हैं, जिनसे सदियों की शान्त निश्चिन्तता में खलबली पैदा हो गई है। इन अस्पष्ट विचारों और आकांक्षाओं की हलचल के जनता में फैलने से ही पिछले बारह बरसों में बड़े-बड़े उतार-चढ़ाव आये थे, जिनसे हिन्दुस्तान की सूरत ही बदल गई है। इन विचारों के अस्तित्व के विषय में और उनकी बड़ी भारी ताकत के बारे में तो कोई शक ही न था। मगर फिर भी शक पैदा होते और सवाल उठते थे, जिनका तत्काल कोई जवाब न था। ये खयालात कितने फैल चुके हैं? उनके पीछे कितनी ताकत है? संगठित काम करने की कितनी योग्यता है? लम्बे धैर्य की कितनी शक्ति है?

यात्रियों के झुंड-के-झुंड हमारे घर आते थे। हमारा घर एक तीर्थ-स्थान, भारद्वाज-आश्रम, के पास ही पड़ता था, जहां पुराने जमाने में एक विद्यापीठ था। मेले के दिनों में सुबह से शाम तक

बे-शुमार लोग हमसे मिलने आते रहते थे। मेरे खयाल से ज्यादा-तर लोग तो कौतूहल से, और जिन बड़े आदमियों का नाम उन्होंने सुन रखा है उन्हें, खासकर मेरे पिताजी को, देखने की इच्छा से आते थे। मगर आनेवालों में ऐसे भी बहुत-से लोग थे, जिनका झुकाव राजनीति की तरफ था, और वे कांग्रेस के बारे में, उसमें क्या तय हुआ, और आगे क्या होनेवाला है ये सवाल भी पूछते थे। वे अपनी आर्थिक कठिनाइयां सुनाते थे और पूछते थे कि उनकी बाबत उन्हें क्या करना चाहिए? हमारे राजनीतिक नारे उन्हें खूब याद थे और सारा दिन मकान उन्हींसे गूंजता रहता था। मैंने पहले तो, जैसे-जैसे बीस, पचास या सौ आदमियों का झुंड एक के बाद एक आता था, हरेक से थोड़े शब्द कहना शुरू किया। मगर जल्दी ही यह काम असंभव हो गया, और तब मैं उनके आने पर चुपचाप नमस्कार कर लेता था। मगर उसकी भी हद थी। फिर तो मैंने छिप जाने की कोशिश की। मगर वह फिजूल था। नारे ज्यादा-ज्यादा तेज लगने लगते, मकान के बरामदे इन मिलनेवाले लोगों से भर जाते और हरेक दरवाजे और खिड़की में से बहुत-से लोग हमें झांकने लगते। कुछ भी काम करना, बातचीत करना या भोजन करना तक मुश्किल हो जाता। इससे सिर्फ परेशानी ही नहीं होती, बल्कि झुंझलाहट और चिढ़ भी होती थी। मगर फिर भी वे लोग तो आते ही थे। वे अपनी प्रेम-भरी चमकती आँखों से, जिनमें पीढ़ियों की गरीबी और मुसीबतें झलक रही थीं, देखते हुए हमारे ऊपर अपनी श्रद्धा और प्रेम बरसा रहे थे और उसके बदले में सिवा भ्रातृ-भाव और सहानुभूति के कुछ नहीं मांगते थे। इस प्रेम और श्रद्धा की अधिकता के असर से मैं अपने हृदय का छोटापन अनुभव हुए बिना नहीं रह सकता था।

: २५ :

सविनय आज्ञा-भंग शुरू

स्वाधीनता-दिवस, २६ जनवरी, १९३० आया और बिजली की चमक की तरह उसने हमें बता दिया कि देश में सरगर्मी और उत्साह है। उस दिन हर जगह बड़ी-बड़ी सभाएं हुईं, जिनमें बगैर भाषणों या विवेचनों के, शान्ति और गम्भीरता से लोगों ने आजादी की प्रतिज्ञा ली। सभाएं और जुलूस बड़े प्रभावशाली थे। गांधीजी को इस दिवस के प्रदर्शन से आवश्यक बल मिल गया और जनता की नब्ज की ठीक पहचान रखने के कारण उन्होंने समझ लिया कि लड़ाई छेड़ने का यह ठीक वक्त है। इसके बाद तो घटनाएं एक के बाद एक इस तरह घटित होने लगीं, जैसेकि नाटक के चरमसीमा तक पहुँचने में होती है।

अब सबके सामने बड़ा सवाल यह था कि शुरूआत किस तरह हो ? किस प्रकार का सविनय-भंग हम चलावें, जो कारगर हो, परिस्थिति के अनुकूल हो और जनता में लोक-प्रिय हो ? गांधीजी ने इसका रास्ता बताया।

'नमक' अचानक एक रहस्यपूर्ण, चमत्कारी शब्द बन गया। नमक-कर पर हमला होना था। नमक-कानून को तोड़ना था। हम हैरत में पड़ गये। नमक का राष्ट्रीय संग्राम हमें कुछ अटपटा मालूम हुआ।

इसके बाद गांधीजी का वाइसराय से पत्र-व्यवहार हुआ और साबरमती-आश्रम से दाण्डी की नमक-यात्रा शुरू हुई। दिन-ब-दिन इस यात्रा-दल के बढ़ने का हाल जैसे-जैसे लोग पढ़ते थे देश में जोश का पारा बढ़ता जाता था। अहमदाबाद में अ० भा० कांग्रेस कमेटी की बैठक इस लड़ाई की बाबत, जो प्रायः हमारे

सिर पर आ चुकी थी, आखिरी व्यवस्था करने के लिए हुई। इस बैठक में हमारे संग्राम का नेता मौजूद नहीं था, क्योंकि वह तो अपने यात्री-दल के साथ समुद्र की ओर जा रहा था और उसने वहां से लौटने से इनकार कर दिया। अ० भा० कांग्रेस कमेटी ने योजना बनाई कि अगर गिरफ्तारियां हों तो क्या-क्या किया जाना चाहिए और यदि यह कमेटी फिर बैठक न कर सके तो उसकी तरफ से कार्य-समिति के गिरफ्तार शुदा लोगों की जगह खुद नए मेम्बर नियुक्त कर देने और अपने स्थान पर ऐसे ही अधिकार रखनेवाले अपने अनुगामी को नामजद कर देने के व्यापक अधिकार सभापति को दिये गए। प्रान्तीय और स्थानीय कांग्रेस-कमेटियों ने भी अपने-अपने सभापतियों को ऐसे ही अधिकार दे दिये।

इस तरह अपनी आखिरी तैयारियां करके, अहमदाबाद में हमने अ० भा० कांग्रेस कमेटी के अपने साथियों से विदा मांगी; क्योंकि यह किसीको मालूम न था कि आगे हम कब और कैसे इकट्ठे हो सकेंगे, या इकट्ठे हो भी सकेंगे या नहीं ? हम अपनी-अपनी जगहों पर जाकर अ० भा० कांग्रेस कमेटी के निर्देशों के अनुसार अपनी-अपनी जगह के इन्तजाम को आखिरी तौर पर ठीक-ठाक करने और जैसाकि सरोजिनी नायडू ने कहा, जेल-यात्रा के लिए बिस्तर बांधने को जल्दी-जल्दी चल दिये।

लौटते वक्त पिताजी और मैं गांधीजी से मिलने गये। वह अपने यात्री-दल के साथ जम्बूसर में थे। वहां हम उनके साथ कुछ घंटे रहे और फिर वह अपने दल के साथ समुद्र-यात्रा के दूसरे पड़ाव के लिए पैदल चल पड़े। वह हाथ में डंडा लिये हुए, अपने अनुयायियों के आगे-आगे जा रहे थे। उनके कदम मजबूत थे और चेहरे पर शांति तथा निर्भयता छिटकी पड़ती थी। इस तरह उस समय मैंने उनके आखिरी दर्शन किये। वह एक दिल हिला देनेवाला दृश्य था।

जम्बूसर में मेरे पिताजी ने गांधीजी से सलाह करके यह तय किया था कि वह इलाहाबाद का अपना पुराना मकान राष्ट्र को दान कर देंगे, और उसका नाम बदलकर 'स्वराज-भवन' रख देंगे। इलाहाबाद लौटकर उन्होंने उसकी घोषणा कर दी और कांग्रेसवालों को उसका कब्जा भी दे दिया। उस बड़े मकान का हिस्सा अस्पताल बना दिया गया।

अप्रैल आया। गांधीजी समुद्र-तट पर पहुंच गये और हम नमक-कानून को तोड़कर सविनय-भंग करने की उनकी आज्ञा की प्रतीक्षा करने लगे।

कई महीनों से हम अपने स्वयंसेवकों को कवायद की तालीम दे रहे थे और कमला और कृष्णा (मेरी पत्नी और बहन) भी उनमें शामिल हो गई थीं और उन्होंने इस काम के लिए मर्दाना लिबास धारण किया था। स्वयंसेवकों के पास कोई भी हथियार, लाठियां तक न थीं। उनको तालीम देने का मकसद यह था कि वे अपने काम में ज्यादा योग्य और कुशल हो जायं और बड़ी-बड़ी भीड़ों को नियंत्रण में रख सकें। राष्ट्रीय सप्ताह, १९१९ के सत्याग्रह-दिवस से लेकर जलियांवाला बाग तक की घटनाओं की यादगार में, हर साल मनाया जाता है, और छः अप्रैल इस सप्ताह का पहला दिन था। इसी दिन गांधीजी ने दाण्डी में समुद्र के किनारे नमक-कानून तोड़ा, और तीन-चार दिन बाद सारे कांग्रेस-संगठनों को इजाजत दे दी गई कि वे नमक-कानून तोड़ें और अपने-अपने क्षेत्र में सविनय आज्ञा भंग शुरू कर दें।

ऐसा मालूम हुआ कि जैसे कोई बटन दबा दिया गया और अचानक सारे देश म, शहरों में और गांवों में, जिधर देखो रोज नमक बनाने की ही धूम मच गई। नमक बनाने के लिए कई अजीब-अजीब तरकीबें निकाली गईं। इस बारे में हमारी जानकारी बहुत ही थोड़ी थी, इसलिए जहां इस बारे में कुछ भी

लिखा मिला वह हमने पढ़ डाला, और इस बाबत जानकारी देने के लिए कई पर्चियां प्रकाशित कीं, और बर्तन और कढ़ाइयां इकट्ठी कीं, अन्त में एक भट्टी-सी चीज बना ही डाली, जिसे हम बड़ी बहादुरी से उठाकर दिखाते और अक्सर बहुत ऊँची कीमत पर नीलाम भी करते थे। वह अच्छी चीज है या बुरी, इसका सचमुच कोई महत्त्व न था, क्योंकि खास चीज तो उस बेहूदे नमक-कानून को तोड़ना था। इसमें हम जरूर कामयाब हुए, चाहे हमारा बनाया हुआ नमक कितना भी खराब क्यों न हो। जब हमने देखा कि लोगों में उत्साह उमड़ रहा है और नमक बनाना जंगली आग की तरह चारों तरफ फैल रहा है, तो हमें कुछ शर्म मालूम हुई, क्योंकि जब गांधीजी ने इस तरीके की तजवीज पहले-पहल रक्खी थी तब हमने उसकी कामयाबी में शक किया था। हमें ताज्जुब होता था कि इस व्यक्ति में लोगों पर असर डालने और उनसे संगठित रूप में काम करवाने की कितनी अद्‌भुत सूझ है।

मैं चौदह अप्रैल को गिरफ्तार हो गया, जबकि मैं रायपुर (मध्यप्रान्त) की एक कांफ्रेंस में शामिल होने के लिए रेलगाड़ी पर सवार हो रहा था। उसी दिन जेल में मेरा मुकदमा भी हो गया और मुझे नमक-कानून के मातहत छः महीने की सजा दी गई। अपनी गिरफ्तारी की संभावना से मैंने (अ० भा० कांग्रेस कमेटी द्वारा दी गई नई सत्ता के अनुसार) पहले ही अपनी अनुपस्थिति में कांग्रेस के सभापति पद के लिए गांधीजी को नामजद कर दिया था, और अगर वह मंजूर न करें तो, मेरी दूसरी नामजदगी पिताजी के लिए थी। जैसा कि मेरा खयाल था, गांधीजी राजी न हुए और इसलिए पिताजी ही कांग्रेस के स्थानापन्न सभापति बने। उनकी तन्दुरुस्ती ठीक नहीं थी, फिर भी वह बड़े जोर-शोर से लड़ाई में कूद पड़े। उन शुरू के महीनों में उनके जबरदस्त संचालन और अनुशासन से आन्दोलन को बहुत लाभ

हुआ। आन्दोलन को तो बहुत लाभ हुआ, मगर इससे उनकी रही-सही तन्दुरुस्ती और शक्ति बिलकुल चली गई।

उन दिनों बड़ी सनसनी पैदा करनेवाले समाचार आया करते---जुलूस का निकलना, लाठी-प्रहारों का होना और गोलियां चलाना, नामी-नामी आदमियों की गिरफ्तारियों पर अक्सर हड़तालें होना, पेशावर-दिवस, गढ़वाली दिवस आदि का खास तौर पर मनाया जाना वगैरा। उस वक्त तो विदेशी कपड़े और तमाम अंग्रेजी माल का पूरा-पूरा बहिष्कार किया गया था। जब मैंने सुना कि मेरी बूढ़ी माताजी और बहनें भी गरमी की तेज धूप में विदेशी कपड़े की दूकानों के सामने धरना देने के लिए खड़ी रहती हैं तो इसका मेरे दिल पर बड़ा गहरा असर हुआ। कमला ने भी यह काम किया। मगर उसने कुछ और ज्यादा भी किया। उसने इस आन्दोलन के लिए इलाहाबाद शहर और जिले में इतनी शक्ति और निश्चय से काम किया कि मैं भी दंग रह गया। उसने अपने गिरते हुए स्वास्थ्य की बिलकुल परवा नहीं की। वह सारे दिन धूप में घूमा करती थी और उसने बड़ी संगठन-शक्ति का परिचय दिया। मैंने इसका कुछ-कुछ हाल जेल में सुना था। बाद में जब पिताजी जेल में मेरे पास आ गये तब उन्होंने मुझे बताया कि वह कमला के काम की, खासकर उसकी संगठन-शक्ति की, कितनी ज्यादा सराहना करते थे। पिताजी मेरी माताजी का या लड़कियों का तेज धूप में इधर-उधर जाना पसन्द नहीं करते थे, मगर कभी-कभी जबानी मना करने के सिवा उन्होंने उन्हें रोका नहीं।

उन शुरू के दिनों में जो खबरें हमारे पास आया करती थीं, उनमें से सबसे बड़ी खबर २३ अप्रैल की पेशावर की घटना और बाद में सारे सीमाप्रांत में होनेवाली घटनाएं थीं। हिन्दुस्तान में कहीं भी मशीनगनों की गोलियों के सामने इस प्रकार अनुशासन-पूर्ण और शांतिपूर्ण हिम्मत दिखाई जाती तो उससे सारा देश

थर्रा उठता। मगर सीमाप्रान्त के लिए तो यह घटना और भी ज्यादा महत्त्व रखती थी, क्योंकि पठान लोग हिम्मत के लिए तो मशहूर थे, मगर शान्तिपूर्ण स्वभाव के लिए मशहूर नहीं थे। इन्हीं पठानों ने वह मिसाल कायम कर दी जो हिन्दुस्तान में अद्वितीय थी। सीमाप्रान्त में ही वह मशहूर घटना हुई, जिसमें गढ़वाली सिपाहियों ने निःशस्त्र जनता पर गोली चलाने से इनकार कर दिया। उन्होंने इसलिए इनकार कर दिया कि सच्चे सिपाहियों को निहत्थी भीड़ पर गोली चलाना नापसन्द होता है और इसलिए भी कि भीड़ के लोगों से उन्हें सहानुभूति थी।

उन दिनों बड़ी-बड़ी आश्चर्यजनक बातें हुईं, मगर सबसे अधिक आश्चर्य की बात थी स्त्रियों का राष्ट्रीय संग्राम में भाग लेना। स्त्रियां बड़ी तादाद में अपने घर के घेरों से बाहर निकल आईं, और हालांकि उन्हें सार्वजनिक कार्यों का अभ्यास न था फिर भी वे लड़ाई में पूरी तरह कूद पड़ीं। विदेशी कपड़े और शराब की दूकानों पर धरना देने का काम तो उन्होंने बिलकुल अपना ही बना लिया। सभी शहरों में सिर्फ स्त्रियों के ही भारी-भारी जुलूस निकाले गये, आमतौर पर स्त्रियां पुरुषों की बनिस्बत ज़्यादा मजबूत साबित हुईं। अक्सर प्रान्तों में या स्थानीय क्षेत्रों में वे 'कांग्रेस-डिक्टेटर' भी बनती थीं।

अकेला नमक-कानून ही नहीं तोड़ा गया; बल्कि दूसरी दिशाओं में भी सविनय-भंग होने लगा। वाइसराय द्वारा कई आर्डिनेन्स––जिनमें कई कामों पर प्रतिबन्ध लगाये गये थे–– निकाले जाने से भी इस काम में मदद मिली। जैसे-जैसे ये आर्डिनेन्स और प्रतिबन्ध बढ़ते गये, वैसे-वैसे उन्हें तोड़ने के मौक़े भी बढ़ते गये और सविनय-भंग की यह शक्ल हो गई कि आर्डिनेन्स से जिस काम की मुमानियत की जाती थी, वही काम किया जाता था। पहले निश्चित रूप से कांग्रेस और लोगों के हाथ में रही थी और जब एक आर्डिनेन्स से गवर्नमेण्ट की निगाह में परिस्थिति

न संभली तब वाइसराय ने और नये-नये आर्डिनेन्स निकाले। कांग्रेस-कार्य-समिति के कई मेम्बर गिरफ़्तार कर लिये गए थे, मगर उनकी जगह नये मेम्बर नियुक्त कर लिये गए और इस तरह वह काम करती ही रही। हर सरकारी आर्डिनेन्स के मुक़ाबले में कार्य-समिति अपना प्रस्ताव पास करती थी और उस आर्डिनेन्स के लिए क्या करना चाहिए इसके लिए आज्ञा जारी करती थी। इन आज्ञाओं का देश में आश्चर्यजनक समानता से पालन होता था।

गांधीजी ५ मई को गिरफ़्तार कर लिये गए। उनकी गिरफ़्तारी के बाद समुद्र के पश्चिम किनारे पर नमक के कारख़ानों और गोदामों पर धावे किये गए। इन धावों में पुलिस की बेरहमी की बहुत दर्दनाक घटनाएं हुईं। उन दिनों भारी-भारी हड़तालों, जूलूसों और लाठी-प्रहारों के कारण बम्बई सबसे ज़्यादा प्रसिद्ध हो रहा था। इन लाठी-प्रहारों के घायलों के इलाज के लिए कई आरजी अस्पताल कायम हो गये थे। बम्बई में कई बातें ऐसी हुईं, जो मार्के की थीं और बड़ा शहर होने के कारण बम्बई में प्रकाशन की सुविधा भी थी। छोटे कस्बों और देहाती हिस्सों में भी ऐसी ही बातें हुईं, मगर वे सब प्रकाश में न आ पाईं।

जून के अन्त में मेरे पिताजी बम्बई गये और उनके साथ माताजी और कमला भी गईं। वहां उनका बड़ा स्वागत किया गया। जब वह वहां ठहरे हुए थे, तभी कुछ बहुत जबरदस्त लाठी-प्रहार हुए। वास्तव में यह तो बम्बई में मामूली-सी बात हो गई थी। करीब दो हफ्ते बाद ही वहां सारी रात एक असाधारण अग्नि-परीक्षा हुई, जबकि मालवीयजी और कार्य-समिति के मेम्बर एक बड़ी भारी भीड़ के साथ पुलिस के सामने, जिसने उनका रास्ता रोक रक्खा था, सारी रात डटे रहे।

बम्बई से लौटने पर ३० जून को पिताजी गिरफ्तार कर लिये गए और उनके साथ सैयद महमूद भी पकड़े गए। वे कार्य-

समिति के, जो गैर-कानूनी करार दे दी गई थी, स्थानापन्न अध्यक्ष और मंत्री की हैसियत से गिरफ्तार हुए। दोनों को छः-छः महीने की सजा मिली।

बम्बई जाने से पिताजी को बहुत मेहनत करनी पड़ी। बड़े सवेरे से बहुत रात तक उन्हें काम करना पड़ता था और हर जरूरी काम का फैसला उन्हें ही करना पड़ता था। वह बहुत दिनों से बीमार-से तो थे ही, अब वह बिलकुल थककर लौटे और अपने डाक्टरों की जरूरी सलाह से उन्होंने फौरन पूरी तरह आराम लेने का फैसला कर लिया। उन्होंने मसूरी जाने की तैयारी की और सामान वगैरा बंधवा लिया; मगर जिस दिन वह मसूरी जाना चाहते थे उससे एक दिन पहले ही वह नैनी सेण्ट्रल जेल की हमारी बैरक में हमारे पास आ पहुंचे।

: २६ :

नैनी-जेल में

मैं करीब सात साल के बाद फिर जेल गया था और जेल-जीवन की स्मृतियां कुछ-कुछ धुंधली हो गई थीं। मैं नैनी सेन्ट्रल जेल में रखा गया था, जोकि प्रान्त का एक बड़ा जेलखाना है। वहां मुझे अकेले रहने का एक नया अनुभव मिला। मेरा अहाता बड़े अहाते से, जिसमें कि बाईस सौ या तेईस सौ कैदी थे, अलग था। वह एक छोटा-सा गोल घेरा था, जिसका व्यास लगभग एक सौ फुट था और जिसके चारों तरफ करीब-करीब पन्द्रह फुट ऊँची गोल दीवार थी। उसके बीचोंबीच एक मटमैली और भद्दी-सी इमारत थी, जिसमें चार कोठरियां थीं। मुझे इनमें से दो कोठरियां, जो एक-दूसरे से मिली हुई थीं, दी गईं। एक नहाने-धोने वगैरा के लिए थी। दूसरी कोठरियां कुछ वक्त तक खाली रहीं।

बाहर के विक्षोभ और दौड़-धूप के जीवन के बाद, यहां मुझे कुछ अकेलापन और उदासी मालूम हुई। मैं इतना थक गया कि दो-तीन दिन तक तो मैं खूब सोता रहा। गरमी का मौसम शुरु हो गया था और मुझे रात को अपनी कोठरी के बाहर, अन्दर की इमारत और अहाते की दीवार के बीच की तंग जगह में खुले में सोने की इजाजत मिल गई थी। मेरा पलंग भारी-भारी जंजीरों से कस दिया गया था, ताकि मैं कहीं उसे लेकर भाग न जाऊं या शायद इसलिए कि पलंग को कहीं अहाते की दीवार पर चढ़ने की सीढ़ी न बना लिया जाय। रात भर अजीव तरह की आवाजें आया करती थीं। खास दीवार की निगरानी रखनेवाले सजायाफ्ता पहरेदार अक्सर एक-दूसरे को तरह-तरह की आवाजें लगाया करते थे। कभी-कभी वे ऐसी लम्बी आवाजें लगाते थे जो अन्त में दूर तक चलती हुई तेज हवा के कराहने की-सी आवाजें मालूम होती थीं। बैरकों के अन्दर से कैदी-चौकीदार बराबर जोर-शोर से अपने कैदियों को गिनते थे और कहते थे कि सब ठीक है। रात में कई बार कोई-न-कोई जेल-अफसर अपना चक्कर लगाता हुआ हमारे अहाते में आ जाता था और जो सिपाही ड्यूटी पर होता था उससे वहां का हाल पूछता था। चूंकि मेरा अहाता दूसरे अहातों से कुछ दूर था, ये आवाजें ज्यादातर साफ सुनाई न देती थीं, और पहले-पहल मैं समझ न सका कि ये क्या हैं। पहले-पहल तो मुझे ऐसा लगा कि मैं किसी जंगल के पास हूं और किसान लोग अपने खेतों से जंगली जानवरों को भगाने के लिए चिल्ला रहे हैं, और कभी-कभी ऐसा मालूम होता था कि मानो रात में स्वयं जंगल और जानवर, सब मिलकर गीत गा रहे हैं।

मैं सोचता हूं कि यह मेरा महज खयाल ही है या यह सचाई है कि चौकोरी दीवार की बनिस्बत गोल दीवार में आदमी को अपने कैद होने का ज्यादा भान होता है। कोनों और मोड़ों के न होने से यह भाव हमारे मन में और भी बढ़ जाता है कि

हम यहां दबाये जा रहे हैं। दिन के वक्त वह दीवार आसमान को भी ढक लेती थी और उसके एक छोटे हिस्से-को ही देखने देती थी। मैं—

उस नन्हें नीले वितान पर बन्दी जिसे कह आकाश—
उड़ते हुए मेघ-खंडों पर जिनमें रजत-ऊर्मि-आभास; [1]

अपनी सजल सतृष्ण दृष्टि डाला करता था। रात को वह दीवार मुझे और भी ज्यादा घेर लेती थी और मुझे ऐसा लगता था कि मैं किसी कुएं के भीतर हूं। कभी-कभी तारों से भरा हुआ आसमान का जितना हिस्सा मुझे दिखाई देता था वह मुझे असली नहीं मालूम होता था। वह किसी बनावटी तारामण्डल का हिस्सा-सा लगता था।

मेरी बैरक और आहाता, आम तौर पर, सारे जल में कुत्ता-घर कहलाता था। यह एक पुराना नाम था और इसका मुझसे कोई ताल्लुक नहीं था। यह छोटी बैरक, सबसे अलग, इसलिए बनाई गई थी कि इसमें खासतौर पर खतरनाक अपराधी, जिन्हें अलग रखने की जरूरत हो, रखे जायं। बाद में वह राजनैतिक कैदियों, नजरबन्दों वगैरा को रखने के काम में लिया जाने लगा, जो सारे जेल से अलग रखे जा सकते थे। आहाते के सामने कुछ दूर पर एक ऐसी चीज थी, जिसे पहले-पहल अपनी बैरक से देखकर मुझे बड़ा धक्का-सा लगा। वह एक बड़ा भारी पिंजरा-सा था, जिसके अन्दर आदमी गोल-गोल चक्कर काट रहे थे। बाद में मुझे पता लगा कि यह पानी खींचने का पम्प था, जिसे आदमी चलाते थे और जिसमें एक साथ सोलह आदमी लगते थे। देखते-देखते आदमी के लिए हर चीज मामूली हो जाती है। इसलिए मैं भी उसके देखने का आदी हो गया। मगर हमेशा वह मुझ

---

१ ऑस्कर वाइल्ड के अंग्रेजी पद्य का भावानुवाद। कवि ने अपने जेल-जीवन में 'रेडिंग जेल-प्रशस्ति' नामक एक काव्य लिखा है। उसमें से ये पंक्तियां उद्धृत की हैं। —अनु०

मनुष्य-शक्ति के उपयोग का बिलकुल मूर्खतापूर्ण और जंगली तरीका मालूम हुआ है और जब कभी मैं उसके पास से गुजरता तो मुझे किसी पशु-प्रदर्शनी की याद आ जाती।

कुछ दिनों तक तो मुझे कसरत या दूसरे किसी मतलब से अपने आहाते के बाहर जाने की इजाजत न मिली। बाद में मुझे बड़े सवेरे, जब प्रायः अन्धेरा ही रहता था, आधा घंटा बाहर निकलने और मुख्य दीवार के सहारे-सहारे अन्दर घूमने या दौड़ लगाने की इजाजत मिल गई। यह बड़े सुबह का वक्त मेरे लिए इसलिए तजबीज किया गया था कि मैं दूसरे कैदियों के सम्पर्क में न आ सकूं, या वे मुझे देख न लें। पर मुझे उससे बड़ी ताजगी आ जाती थी। इस थोड़े-से वक्त में ज्यादा-से-ज्यादा खुला व्यायाम करने की गरज से मैं दौड़ लगाया करता था। दौड़ने के अभ्यास को मैंने धीरे-धीरे बढ़ा लिया था और मैं रोज दो मील से ज्यादा दौड़ लिया करता था।

मैं सवेरे बहुत जल्दी, करीब चार या साढ़े तीन बजे ही जब बिलकुल अंधेरा रहता था, उठ जाया करता था। कुछ तो जल्दी सोने से भी जल्दी उठना हो जाता था, क्योंकि मुझे जो रोशनी मिली थी वह ज्यादा पढ़ने के लिए काफी नहीं थी। मुझे तारों को देखते रहना अच्छा लगता था और कुछ प्रसिद्ध तारों की स्थिति देखकर मुझे समय का अन्दाज हो जाता था। जहां मैं लेटता था वहां से मुझे ध्रुव-तारा दीवार के ऊपर झांकता हुआ दिखाई देता था और उससे असाधारण शान्ति मिलती थी। उसके चारों तरफ का आसमान चक्कर काटता था, मगर वह वहीं कायम था। वह मुझे प्रसन्नतापूर्ण और दीर्घ उद्योग का प्रतीक मालूम होता था।

जेल में हमें दैनिक पत्र नहीं मिलता था, मगर एक हिन्दी साप्ताहिक पत्र से हमें कुछ खबरें मिल जाया करती थीं और ये खबरें ही अक्सर हमारी कल्पनाओं को तेज कर दिया करती थीं।

रोज लाठी-प्रहार होना, किसी-किसी दिन गोली चलना, शोलापुर में फौजी कानून जारी होना, जिसमें राष्ट्रीय झंडा ले जाने के लिए ही दस साल की सजा दी गई थी, वगैरा खबरें आती थीं। सारे देश में हमें अपने लोगों, खासकर स्त्रियों पर बड़ा अभिमान होने लगा। मुझे तो अपनी माता, पत्नी और बहनों तथा दूसरी चचेरी बहनों और महिला-मित्रों के कार्यों के कारण विशेष सन्तोष हुआ और हालांकि मैं उनसे दूर था और जेल में था, फिर भी मुझे ऐसा लगा कि हम सब एक ही महान कार्य में साथ-साथ कार्य करने के नये नाते से एक-दूसरे के बहुत पास आ गये हैं। ऐसा मालूम होने लगा मानों परिवार तो उससे भी बड़े समुदाय में समा गया है। मगर फिर भी उसमें पुरानी मधुरता और निकटता बनी रही। कमला ने तो मुझे आश्चर्य में ही डाल दिया, क्योंकि उसकी क्रियाशीलता और उत्साह ने उसकी बीमारी को दबा दिया और कम-से-कम कुछ समय के लिए तो वह बहुत ज्यादा काम-काज करते रहने पर भी चंगी बनी रही।

जिस वक्त बाहर दूसरे लोग खतरे का मुकाबला कर रहे हैं और कष्ट उठा रहे हैं, उस वक्त मैं जेल में आराम से समय बिता रहा हूं, यह खयाल मुझे दिक करने लगा। मैं बाहर जाने की इच्छा करता था; किन्तु नहीं जा सकता था। इसलिए मैंने अपना जेल-जीवन बड़ा कठोर और कामकाजी बना लिया। मैं अपने चर्खे पर रोज करीब तीन घंटे सूत कातता था। इसके अलावा दो या तीन घंटे मैं निवाड़ बुनता, जो मैंने जेल-अधिकारियों से खास तौर पर मांग ली थी। मैं इन कामों को पसन्द करता था। इनमें न ज्यादा जोर पड़ता था, न थकावट होती थी और मेरा समय काम में लग जाता था। इससे मेरे दिमाग का बुखार भी शान्त हो जाता था। मैं बहुत पढ़ता रहता था, या सफाई करने या कपड़े धोने वगैरा में लगा रहता था। मैं मशक्कत अपनी खुशी से ही करता था, क्योंकि मुझे सजा सादी मिली थी।

: २७ :

यरवडा में सन्धि-चर्चा

पिताजी की गिरफ्तारी के साथ ही, या उसके फौरन बाद ही, कार्य-समिति गैर-कानूनी करार दे दी गई। इससे एक नई स्थिति पैदा हो गई——यदि कमेटी अपनी मीटिंग करे तो सब-के-सब मेम्बर एक साथ गिरफ्तार हो सकते थे। इसलिए कार्य-वाहक सभापतियों को जो अख्तियार दे दिया गया था उसके मुताबिक स्थानापन्न मेम्बर उसमें और जोड़े गए और इस सिल-सिले में कई स्त्रियां भी मेम्बर बनीं। कमला भी उनमें थी।

पिताजी जब जेल आये तो उनकी तन्दुरुस्ती निहायत खराब थी और वह जिन हालतों में वहां रक्खे गये थे उनमें उन्हें बड़ी तकलीफ थी। सरकार ने जान-बूझकर यह स्थिति पैदा नहीं की थी, क्योंकि वह अपनी तरफ से तो उनकी तकलीफ कम करने की भरसक कोशिश करने को तैयार थी; परन्तु नैनी-जेल में वह अधिक कुछ नहीं कर सकी। मेरी बैरक की चार छोटी-छोटी कोठ-रियों में हम चार आदमियों को एक साथ रख दिया गया। जेल के सुपरिण्टेण्डेंट ने सुझाया भी कि पिताजी को किसी दूसरी जगह रख दें, जहां उन्हें कुछ ज्यादा जगह मिल जाय; लेकिन हम लोगों ने एक साथ रहना ही बेहतर समझा, क्योंकि इससे हम में से कोई-न-कोई उनकी देख-भाल कर सकता था।

बारिश शुरू ही हुई थी पर कोठरी के अन्दर की जमीन मुश्किल से सूखी रहती थी, क्योंकि छत से पानी जगह-जगह टपकता रहता था। रात के वक्त रोज यह सवाल उठता कि पिताजी का बिछौना हमारी कोठरी से सटे उस छोटे-से बरामदे में, जो १० फुट लम्बा और ५ फुट चौड़ा था, कहां लगाया जाय,

जिससे पानी से बचाव हो सके ? कभी-कभी उन्हें बुखार आ जाता था। आखिर जेल-अधिकारियों ने हमारी कोठरी से लगा हुआ एक और अच्छा बड़ा बरामदा बनवाना तय किया। बरामदा बन तो गया और उससे ज्यादा आराम भी मिलता, मगर पिताजी को उसका कुछ फायदा न मिला, क्योंकि उसके तैयार होने के बाद शीघ्र ही उन्हें रिहा कर दिया गया। तब हममें से जो लोग वहां पीछे रह गये थे उन्होंने उससे पूरा फायदा उठाया।

जुलाई के अखीर में यह चर्चा बहुत सुनाई दी कि सर तेज-बहादुर सप्रू और जयकर साहब इस बात की कोशिश कर रहे हैं कि कांग्रेस और सरकार के बीच सुलह हो जाय। हमने यह खबर एक दैनिक पत्र में पढ़ी, जो पिताजी को खासतौर पर बतौर रियाअत के दिया जाता था। उसमें हमने वह सारा पत्र-व्यवहार पढ़ा, जो वाइसराय लार्ड अर्विन और सर सप्रू तथा जयकर साहब के बीच हुआ था। बाद में हमें यह भी मालूम हुआ कि हमारे ये 'शान्तिदूत' गांधीजी से भी मिले थे।

२७ जुलाई को सर तेजबहादुर सप्रू और जयकर अचानक नैनी-जेल में हमसे मिलने आ पहुंचे। वे गांधीजी का एक पत्र साथ लाये थे। उस दिन तथा दूसरे दिन हम लोगों में बड़ी देर तक बात-चीत हुई। पिताजी को हरारत थी। इस बातचीत से वह बहुत थक गए। हमारी बातचीत और बहस घूम-घाम कर वहीं आ जाती थी जहां से शुरू हुई थी। हम लोगों के राजनैतिक दृष्टि-बिन्दु इतने जुदा-जुदा थे कि हम मुश्किल से एक दूसरे की भाषा और भावों को समझ पाते थे। हमें यह साफ दिखाई देता था कि मौजूदा हालत में कांग्रेस और सरकार के बीच सुलह होने का कोई मौका नहीं है। हमने अपने साथियों——कार्य-समिति के सदस्यों—— और खासकर गांधीजी से सलाह किये बिना अपनी तरफ से कुछ भी कहने से इनकार कर दिया और हमने इस आशय की एक चिट्ठी गांधीजी को लिख भी दी।

ग्यारह दिन बाद ८ अगस्त को डाक्टर सप्रू वाइसराय का जवाब लेकर फिर हमसे मिलने आये। वाइसराय को इस बात पर कोई ऐतराज न था कि हम लोग यरवडा जावें (यरवडा पूना के पास है और यहीं की जेल में गांधीजी रखे गये थे); लेकिन वह तथा उनकी कौंसिल हमें सरदार वल्लभभाई, मौलाना अबुल-कलाम आजाद और कार्य-समिति के दूसरे मेम्बरों से मिलने की इजाजत नहीं दे सकती थी, जो कि बाहर थे और सरकार के खिलाफ क्रियात्मक आन्दोलन कर रहे थे।

दो दिन बाद, १० अगस्त को, हम तीनों---पिताजी, महमूद और मैं---एक स्पेशल ट्रेन में नैनी से पूना भेजे गये। हमारी गाड़ी बड़े-बड़े स्टेशनों पर नहीं ठहरी, हम उन्हें सपाटे से पार करते हुए चले गए, कहीं-कहीं छोटे और किनारे के स्टेशनों पर ट्रेन ठहराई गई। फिर भी हमारे जाने की खबर हमसे आगे दौड़ गई और लोगों की बड़ी भीड़ स्टेशन पर---जहां हम ठहरे वहां भी और जहां नहीं ठहरे वहां भी---इकट्ठी हो गई। हम ११ ता० की रात को पूना के नजदीक किरकी स्टेशन पर पहुंचे।

हमने उम्मीद तो यह की थी कि हम गांधीजी की बैरक में ठहराए जायंगे या कम-से-कम उनसे जल्दी ही मुलाकात हो जायगी। यरवडा के सुपरिण्टेण्डेण्ट ने तो यही तजवीज कर रक्खी थी; लेकिन ऐन वक्त पर उन्हें अपना प्रबन्ध बदल देना पड़ा। जो पुलिस-अफसर हमारे साथ नैनी से आया था, उसके द्वारा यरवडावालों को ऐसी ही कुछ हिदायतें मिली थीं। सुपरिण्टेण्डेण्ट कर्नल मार्टिन ने तो हमें इस रहस्य का पता न दिया; परन्तु पिताजी ने जो पूछताछ की उससे यह मालूम हो गया कि हमें गांधीजी से (कम-से-कम पहली बार तो) सप्रू और जयकरसाहब के सामने ही मिलने दिया जायगा। यह अन्देशा किया गया था कि अगर हम पहले मिल लेंगे तो हमारा रुख कड़ा हो जायगा और हम सब और भी मजबूत हो जायंगे। इसपर पिताजी को बहुत

बुरा मालूम हुआ। वहां जाकर गांधीजी से न मिलने देना, जिनसे मिलने के लिए हम इतनी दूर नैनी से लाये गये, गोया हमें तरसाना और तड़पाना था। आखिर १३ ता० को दोपहर के पहले हमें खबर की गई कि सर सप्रू और जयकर साहब तशरीफ ले आये हैं और गांधीजी भी जेल के दफ्तर में उनके साथ मौजूद हैं और आप सबको वहीं बुलाया है। पिताजी ने जाने से इनकार कर दिया और जब जेलवालों की तरफ से बहुतेरी सफाइयां दी गईं और माफियां मांगी गईं और यह तय पाया कि हम पहले अकेले गांधीजी से मिलाये जायंगे, तब वह वहां जाने को राजी हुए। आगे चलकर हम सबके सम्मिलित अनुरोध पर सरदार पटेल और जयरामदास दौलतराम, जो दोनों यरवडा ले आये गये थे और सरोजिनी नायडू भी, जो हमारे सामने की स्त्री-बैरक में ही रक्खी गई थीं, हमारे साथ बातचीत में शामिल कर लिये गए। उसी रात पिताजी, महमूद और मैं तीनों गांधीजी के अहाते में ले जाये गये और यरवडा से चलने तक हम वहीं रहे। वल्लभभाई और जयरामदास भी वहां लाये गये और वे भी वहीं रक्खे गये जिससे कि हमारे आपस में सलाह-मशवरा किया जा सके।

१३, १४ और १५ अगस्त तक सप्रू और जयकर साहब से हमारा मशवरा जेल के दफ्तर में होता रहा और हमने आपस में चिट्ठी-पत्री द्वारा अपने-अपने विचार भी प्रदर्शित कर दिये, जिनमें हमारी तरफ से वे कम-से-कम शर्तें बता दी गईं, जिनके पूरा होने पर सविनय-भंग वापस लिया जा सकता था और सरकार के साथ सहयोग किया जा सकता था।

इन बातचीतों का पिताजी के शरीर पर बुरा असर हुआ और १६ ता० को एकाएक उन्हें जोर का बुखार आ गया। इससे हमारा जाना रुक गया और हम १९ की रात को रवाना हो पाये—फिर उसी तरह स्पेशल ट्रेन से। बम्बई सरकार ने सफर में हर तरह से पिताजी के आराम का खयाल रक्खा और यरवडा-

जेल में भी उनके आराम का पूरा-पूरा प्रबन्ध किया गया। कर्नल मार्टिन ने पिताजी से पूछा कि आप किस तरह का खाना पसन्द करेंगे? पिताजी ने कहा कि मैं बहुत सादा और हल्का खाना खाता हूं, और उन्होंने सुबह की चाय से लेकर रात के खाने तक की सब जरूरी चीजें गिना दीं। (नैनी में रोज उनके लिए घर से खाना आता था।) पिताजी ने सरल भाव से जो-जो चीजें लिखाईं, वे थीं तो सब सादी और हल्की ही, मगर उन्हें देखकर कर्नल मार्टिन दंग रह गये। बहुत मुमकिन था कि रिज और सेवाय होटल में व चीजें सादा और हल्की समझी जाती हों, जैसाकि खुद पिताजी भी समझते थे; लेकिन यरवडा-जेल में ये अजीब और बेतुकी दिखाई दीं। महमूद और मैं बड़ी रंगत के साथ उस समय कर्नल मार्टिन के चेहरे के उतार-चढ़ाव देखते रहे, जबकि पिताजी भोजन की उन कई तरह की और खर्चीली चीजों के नाम सुनाते जा रहे थे, क्योंकि कई दिनों से उनके यहां भारत का सबसे बड़ा और बहुत नामी नेता रखा गया था और उसकी भोजन-सामग्री थी सिर्फ बकरी का दूध, खजूर और शायद कभी-कभी नारंगियां। मगर जो यह नया नेता उनके सामने आया उसका ढंग कुछ और ही था।

पूना से नैनी लौटते समय भी हम बड़े-बड़े स्टेशन छलांगते गये और ऐसी-वैसी मामूली जगह गाड़ी ठहरती रही। मगर भीड़ अब के और ज्यादा थी, प्लेटफार्म भरे हुए थे और कहीं-कहीं तो रेलवे लाइन पर भी भीड़ जमा हो गई थी––खासकर हरदा, इटारसी और सोहागपुर में। यहांतक कि दुर्घटनाएं होते-होते बचीं।

पिताजी की हालत तेजी से गिरने लगी। कितने ही डाक्टर उन्हें देखने गये––खुद उनके डाक्टर भी और प्रान्तीय सरकार की तरफ से भेजे हुए डाक्टर भी। जाहिर था कि जेल उनके लिए सबसे खराब जगह थीं और वहां किसी तरह माकूल इलाज भी

नहीं हो सकता था। मगर फिर भी जब किसी मित्र ने अखबार में लिखा कि बीमारी के सबब से उन्हें रिहा कर देना चाहिए तो पिताजी बहुत बिगड़े और उन्होंने कहा कि लोग समझेंगे कि मेरी तरफ से यह इशारा कराया गया है। यहांतक कि उन्होंने लार्ड अर्विन को तार दिया कि मैं खास मेहरबानी कराके नहीं छूटना चाहता। लेकिन उनकी हालत दिन-ब-दिन खराब ही होती गई। वजन तेजी से गिरता जा रहा था और उनका शरीर एक छाया या ढांचा मात्र रह गया था। आखिर ८ सितम्बर को, ठीक १० सप्ताह बाद, वह रिहा कर दिये गये।

१ महीने बाद, ११ अक्तूबर को, मेरी छः महीने की सजा पूरी हो जाने पर, मैं भी छोड़ दिया गया। मैं जानता था कि मैं थोड़े ही दिन आजाद रह सकूंगा, क्योंकि लड़ाई जमती और तेज होती जा रही थी। 'शान्ति-दूतों'——सप्रू-जयकर साहब—— की कोशिशें बेकार हो चुकी थीं। उसी दिन, जिस दिन मैं छूटा, दो और आर्डिनेन्स जारी किये गए थे। ऐसे वक्त पर छूटने से मुझे खुशी हुई और मैं इस बात के लिए उत्सुक था कि जितने दिन आजाद रहूँ कुछ अच्छा और जोरदार काम कर जाऊं।

उन दिनों कमला इलाहाबाद थी और वह कांग्रेस के काम में जुट पड़ी थी। पिताजी मसूरी में इलाज करा रहे थे और मां तथा बहनें उनके साथ थीं। कमला को साथ लेकर मसूरी जाने से पहले कोई डेढ़ दिन तक मैं इलाहाबाद में ही व्यस्त रहा। उन दिनों हमारे सामने जो बड़ा सवाल था वह यह कि देहात में कर-बन्दी आन्दोलन शुरू किया जाय या नहीं? लगान-वसूली का वक्त नजदीक आ रहा था, और यों भी लगान वसूली होने में दिक्कत आने वाली थी, क्योंकि नाज के भाव बुरी तरह गिर गये थे। संसारव्यापी मन्दी का प्रभाव हिन्दुस्तान-भर में दिखाई दे रहा था।

उस थोड़े समय में जब मैं इलाहाबाद रहा, हमारे साथियों ने

और मैंने इन विषयों पर खूब गौर किया। जल्दी ही हमने प्रांतीय कांग्रेस की कार्यकारिणी की मीटिंग बुलाई और बहुत बहस-मुबाहसे के बाद करबन्दी-आन्दोलन की मंजूरी दे दी और हर जिले को उसे शुरू करने का अधिकार दे दिया। हमने खुद सूबे के किसी हिस्से में उसे शुरू नहीं किया और कार्यकारिणी ने उसे जमींदार और काश्तकार दोनों पर लागू किया, जिससे उसके वर्गवाद-सम्बन्धी प्रश्न बन जाने की सम्भावना न रह जाय। हां, यह तो हम जानते ही थे कि इसमें मुख्य सहयोग किसानों की ही तरफ से मिलेगा।

जब इस तरह आगे कदम बढ़ाने की छुट्टी मिल गई तो हमारे इलाहाबाद जिले ने पहला कदम उठाना चाहा। हमारे एक सप्ताह बाद जिले के किसानों का एक सम्मेलन करके इस नए आन्दोलन को आगे ठेलने का निश्चय किया। मेरे मन को इस बात से तसल्ली हुई कि जेल से छूटते ही पहले दिन मैंने ठीक-ठीक काम कर लिया। सम्मेलन के साथ ही मैंने इलाहाबाद में एक बड़ी आम सभा का भी आयोजन किया। इसमें मैंने एक लम्बा भाषण दिया। इसी भाषण पर बाद को मुझे फिर सजा दी गई थी।

इसके बाद १३ अक्तूबर को कमला और मैं तीन दिन के लिए पिताजी से मिलने मसूरी गए। वह कुछ-कुछ अच्छे हो रहे थे और मुझे यह देखकर तसल्ली हुई कि अब उन्होंने करवट बदली है और चंगे हो रहे हैं। वे तीन दिन बड़ी शान्ति और बड़े आनन्द में बीते, जो मुझे अब तक याद आते हैं। फिर से अपन परिवार के साथ आकर रहना कितना अच्छा लगता था। मेरी लड़की इन्दिरा और मेरी तीन नन्हीं-नन्हीं भानजियां भी वहीं थीं। मैं इन बच्चों के साथ खेलता, कभी-कभी हम एक शाही जुलूस बनाकर घर के आस-पास बड़ी शान से घूमते। सबसे छोटी लड़की जो शायद ३-४ साल की थी, हाथ में राष्ट्रीय झण्डा लिये, झण्डा-गीत 'झण्डा ऊंचा रहे हमारा' गाती हुई सबके आगे-आगे

चलती। पिताजी के साथ मेरे ये तीन दिन बस आखिरी दिन थे, क्योंकि इसके बाद उनकी बीमारी असाध्य हो गई और उन्हें हमसे छीनकर ले ही गई।

पिताजी ने एकाएक इलाहाबाद आने का निश्चय कर लिया—शायद इस अन्देशे से कि शीघ्र ही मेरी गिरफ्तारी हो जायगी, तथा वह कुछ और समय मेरे साथ रह लेना चाहते थे। १९ को इलाहाबाद में किसान-सम्मेलन होनेवाला था, इसलिए कमला और मैं १७ को मसूरी से चलनेवाले थे। पिताजी ने हमारे जाने के दूसरे दिन, १८ को, और लोगों के साथ रवाना होने की तजवीज की।

१९ ता० को मैं, पिताजी और घर के दूसरे लोगों को लिवाने के लिए स्टेशन गया। गाड़ी लेट थी और उनके उतरते ही मैं उन्हें वहीं छोड़कर एक सभा के लिए रवाना हो गया। इसमें शहर और आसपास के देहात के लोग भी आनेवाले थे। ८ बजे के बाद रात को मैं और कमला थके-मांदे सभा से घर लौट रहे थे। मैं पिताजी से बातें करने के लिए उत्सुक हो रहा था और मैं जानता था कि वह भी मेरी राह देख रहे होंगे, क्योंकि उनके आने के बाद हमें बातचीत करने का मौका मिला ही नहीं था। पर रास्ते में हमारी मोटर रोक ली गई—वहां से हमारा घर दिखाई दे रहा था और मैं गिरफ्तार करके फिर जमना-पार नैनी की अपनी पुरानी बैरक में पहुंचा दिया गया। कमला अकेली आनन्द-भवन गई और उसने पिताजी तथा घर के दूसरे लोगों को इस नई घटना की खबर सुनाई और उधर नौ का घण्टा बजते-बजते मैंने फिर उसी नैनी-जेल के फाटक में प्रवेश किया।

: २८ :

युक्तप्रान्त में कर-बन्दी

आठ दिन की गैरहाजरी के बाद मैं फिर नैनी आगया और सैयद महमूद, नर्मदाप्रसाद और रणजित पण्डित के साथ उसी पुरानी बैरक में आ मिला। कुछ दिनों के बाद जेल में ही मेरा मुकदमा चला। मुझपर कई दफाएं लगाई गई थीं, जिनका आधार था मेरा वह भाषण, जो मैंने अपने छूटने के बाद इलाहाबाद में दिया था। उसीके अलग-अलग हिस्सों को लेकर अलग-अलग इलजाम लगाये गए थे। अपनी परम्परा के अनुसार मैंने कोई सफाई पेश नहीं की, सिर्फ थोड़े में अपना एक लिखित बयान अदालत में पेश किया। कुल मिलाकर मुझे दो साल की कैद हुई और जुरमाना न देने की हालत में पांच महीने और। यह मेरी पांचवीं बार जेल-यात्रा थी।

फिर से मेरी गिरफ्तारी और सजा का सविनय-भंग-आन्दोलन की गति पर कुछ समय के लिए अच्छा ही असर हुआ। उससे उसम एक नया जीवन और अधिक बल आ गया। इसका अधिकांश श्रेय पिताजी को है। जब कमला से उनको मेरी गिरफ्तारी की खबर मिली तो उन्हें वेदना का एक धक्का लगा, मगर फौरन ही उन्होंने अपनी शक्तियों को बटोरा और सामने पड़ी हुई मेज को ठोंककर कहा---अब मैंने निश्चय कर लिया है कि इस तरह बीमार बनकर पड़ा नहीं रहूंगा। अब अच्छा होकर एक जवांमर्द की तरह काम करूंगा और बीमारी को व्यर्थ में अपने पर हावी न होने दूंगा। उनका यह निश्चय तो जवांमर्दों का-सा ही था, मगर अफसोस है कि यह सारा संकल्प-बल भी उस गहरी बीमारी को, जो उनके शरीर को कुतर-कुतरकर खा रही थी, न दबा पाया। फिर भी कुछ दिनों तक तो उनके स्वास्थ्य में साफ-साफ तबदीली

दिखाइ देने लगी—इतनी कि देखकर लोगों को अचम्भा होता था। कुछ महीने पहले से, जबसे वह यरवडा गये, उनके बलगम में खून आने लगा था। उनके इस निश्चय के बाद ही वह यकायक बन्द हो गया और कुछ दिन तक बिलकुल नहीं दिखाई दिया। इससे उन्हें खुशी हुई थी और जब वह मुझसे जेल में मिलने आये तो उन्होंने मुझसे इस बात का जिक्र कुछ फख्र के साथ किया। लेकिन बदकिस्मती से यह तसल्ली थोड़े ही दिन रही और आगे चलकर बीमारी फिर बढ़ गई और खून अधिक परिमाण में आने लगा। इस बीच में उन्होंने अपने पुराने ही जोश-खरोश से काम किया और देशभर में सविनय-भंग-आन्दोलन को एक जोर का वेग दिया। जगह-जगह के लोगों से वह बातचीत करते और उन्हें ब्यौरेवार आज्ञाएं भेजते। उन्होंने एक दिन मुकर्रर किया (यह नवम्बर में मेरा जन्मदिन था) जो सारे हिन्दुस्तान में उत्सव के रूप में मनाया जाय और उस दिन मेरे भाषण के वे अंश सभाओं में पढ़े जायं, जिनपर मुझे सजा दी गई थी। उस दिन कई जगह लाठी-चार्ज हुए, जुलूस और सभाएं बलपूर्वक तितर-बितर की गईं और यह अन्दाज किया गया था कि उस दिन देशभर में कोई पांच हजार गिरफ्तारियां हुई होंगी। वह अपने ढंग का एक अनोखा जन्मोत्सव था।

मेरी गिरफ्तारी इतनी जल्दी शायद इसलिए हुई कि मैं करबन्दी-आन्दोलन के सिलसिले में काम कर रहा था। मगर सच पूछिए तो मेरी गिरफ्तारी से बढ़कर उस आन्दोलन को बढ़ानेवाली और कोई घटना नहीं हो सकती थी—खासकर उसी दिन जबकि किसान-सम्मेलन खतम हुआ था और उसके प्रतिनिधि इलाहाबाद में मौजूद थे। इससे उनका उत्साह बहुत बढ़ गया और वे जिले के करीब-करीब हर गांव में सम्मेलन का फैसला अपने साथ लेते गये। दो-एक दिन में ही जिले-भर में खबर फैल गई कि कर-बन्दी-आन्दोलन शुरू हो गया है और हर जगह लोग खुशी-खुशी उसमें शरीक होने लगे।

करबन्दी करने की अपील हमने जमींदारों और किसानों दोनों से की थी। सिद्धान्त की दृष्टि से वह अपील किसी एक वर्ग के लिए नहीं थी। मगर अमली रूप में कई जमींदारों ने अपना कर दे दिया और राष्ट्रीय संग्राम के प्रति जिनकी सहानुभूति थी ऐसे भी कई लोगों ने कर दे दिया। उनपर दबाव बहुत भारी था और उनके बहुत नुकसान उठाने की सम्भावना थी। जहांतक किसानों का सवाल है, वे तो मजबूत रहे। उन्होंने लगान नहीं दिया और इस प्रकार हमारा आन्दोलन एक करबन्दी-आन्दोलन ही हो गया। इलाहाबाद जिले से वह संयुक्तप्रान्त के कुछ दूसरे जिलों में भी फैल गया। कई जिलों में उसका बाजाब्ता अख्तियार नहीं किया गया, न उसका एलान किया गया, परन्तु वास्तव में किसानों ने कर देना रोक दिया और कई जगह तो भाव के गिर जाने के कारण वे दे ही नहीं सके।

जहांतक इस प्रान्त का सम्बन्ध है, करबन्दी-आन्दोलन का एक खास नतीजा दिखाई दिया। इससे हमारे संग्राम का आकषण केन्द्र शहरी प्रदेश से हटकर देहाती प्रदेशों में चला गया। इससे आन्दोलन में नवजीवन आ गया, जिसने उसकी बुनियाद को अधिक व्यापक और मजबूत बना दिया।

सरकारी दमन बढ़ा। स्थानीय कांग्रेस कमेटियां, यूथ-लीग आदि, जोकि अभी तक जोरों से काम कर रही थीं, गैर-कानूनी करार दी जाकर दबा दी गईं। जेलों में राजनैतिक कैदियों के साथ ज्यादा बुरा बर्ताव होने लगा। सरकार खास करके इससे चिढ़ गई कि लोग जेल से छूट जाने के बाद तुरन्त ही फिर जेल में चले जाते थे। सजा के बावजूद भी सत्याग्रहियों को झुकाने में असफल होने के कारण शासकों का हौसला ढीला हो गया। जेल-शासन-सम्बन्धी अपराधों के कारण संयुक्तप्रान्त में नवम्बर या दिसम्बर १९३० क शुरू में कुछ राजनैतिक कैदियों को बेंत की सजा दी गई थी। इसकी खबर हमारे पास ननी-जेल

में पहुंची। उससे हम क्षुब्ध हो उठे। हमने इस बेंत लगाने के विरोध में और इस बर्बरता के शिकार होनेवालों के प्रति हमदर्दी में कोई निश्चित कार्रवाई करना तय किया। हमने तीन दिन—७२ घंटे—का पूरा उपवास किया।

हमें उपवास के दिनों में कोई ज्यादा तकलीफ नहीं हुई और मुझे यह जानकर खुशी हुई कि उसमें वैसी सख्त तकलीफ जैसी कोई बात नहीं थी जिसका कि डर था। मगर एक बेवकूफी मैंने की। उपवास भर मैंने अपनी कड़ी कसरत जारी रक्खी थी जैसे दौड़ना और हाथ-पांव को झटके देने की कसरत वगैरा। मैं नहीं समझता कि उससे मुझे कोई ज्यादा फायदा हुआ। खासकर उस हालत में जबकि मेरी तबीयत पहले से ही कुछ खराब थी। इन तीन दिनों में हम सबका वजन ७ से ८ पौण्ड तक घटा। इससे पहले महीने में कोई १५ से २६ पौण्ड तक वजन हम हरेक का घट चुका था सो अलग।

बीच-बीच में यदि ऐसी उत्तेजक घटनाओं से खलल न पड़ा होता तो हमारा जेल-जीवन शान्तिपूर्ण रहता। मौसम अच्छा था और जाड़ा तो इलाहाबाद में बहुत ही मजेदार होता है। रणजित पण्डित क्या आये, हमारी बैरक को दुर्लभ लाभ मिल गया, क्योंकि वह बागबानी बहुत कुछ जानते थे और शीघ्र ही वह हमारा वीरान अहाता फूलों और तरह-तरह के रंगों से गुलजार हो गया। उन्होंने तो उस तंग और थोड़ी जगह में छोटे पैमाने पर गाल्फ खेलने की सुविधा भी कर दी थी।

नैनी-जेल में हमारे सिर पर से हवाई जहाज उड़कर जाया करते थे और यह हमारे लिए एक आनन्द और मनोरंजन का विषय हो गया था। प्रातःकाल के स्वच्छ नीले आसमान में जब वह जहाज ऊपर उड़ता तो उसका दृश्य बड़ा ही सुन्दर मालूम होता था।

पण्डित मदनमोहन मालवीय भी, किसी दूसरी जेल से, नैनी

भेज दिये गए थे। वह हमसे अलग दूसरी बैरक में रक्खे गये थे; लेकिन हम रोज उनसे मिलते थे और शायद बाहर की बनिस्बत वहां मैं उनसे अधिक परिचय कर पाया। वह बड़े खुश-मिजाज साथी थे। जीवनी-शक्ति से भरे पूरे और हर बात में एक युवक की तरह दिलचस्पी लेनेवाले।

१ जनवरी १९३२ को अंग्रेजी साल के नये दिन, कमला की गिरफ्तारी की खबर हमें मिली। मुझे इससे खुशी हुई, क्योंकि वह बहुत दिनों से अपने दूसरे साथियों की तरह जेल जाने को बहुत उत्सुक थी। यों तो अगर वह मर्द होती तो वह और मेरी दोनों बहनें तथा और भी दूसरी स्त्रियां बहुत पहले ही गिरफ्तार हो गई होतीं, मगर उस वक्त सरकार, जहांतक हो सकता था स्त्रियों को गिरफ्तार करना टालती थी और इससे वह इतने अर्से तक बची रही और अब जाकर उसके मन की मुराद पूरी हुई। मैंने सोचा, सचमुच, उसे कितनी खुशी हुई होगी। मगर साथ ही मुझे कुछ डर भी लगा, क्योंकि उसकी तन्दुरुस्ती हमेशा खराब रहती थी और मुझे अन्देशा था कि जेल में कहीं उसे बहुत ज्यादा तकलीफ न हो।

गिरफ्तारी के वक्त एक पत्र-प्रतिनिधि वहां मौजूद था। उसने उससे एक सन्देश मांगा। उसी क्षण झट से उसने एक छोटा-सा सन्देश दिया, जो उसके स्वभाव के अनुकूल ही था—"आज मुझे असीम प्रसन्नता है और इस बात का गर्व है कि मैं अपने पति के पद-चिह्नों पर चल सकी हूं। मुझे आशा है कि आप लोग इस ऊंचे झण्डे को नीचे न झुकने देंगे।" मुमकिन था कि अगर वह कुछ सोच पाती तो ऐसा सन्देश न देती, क्योंकि वह अपने को पुरुषों के अत्याचारों से स्त्रियों के अधिकारों की रक्षा करने वाली योद्धा समझती थी। लेकिन उस समय हिन्दू-स्त्रीत्व के संस्कार उसमें प्रबल हो उठे और उनके प्रवाह में पुरुषों के अत्याचार न जाने कहां बह गये?

: २९ :

पिताजी की बीमारी और उनका देहान्त

पिताजी कलकत्ता थे और उनकी हालत सन्तोषजनक नहीं थी। लेकिन कमला की गिरफ्तारी और सजा के समाचार सुनकर वह बहुत बेचन हो गये और उन्होंने इलाहाबाद लौटना तय किया। फौरन ही मेरी बहन कृष्णा को उन्होंने इलाहाबाद रवाना किया और खुद घर के और लोगों के साथ कुछ दिन बाद चले । १२ जनवरी को वह मुझसे मिलने नैनी आये। मैंने उन्हें कोई दो मास बाद देखा था और उन्हें देखकर मेरे दिल को जो धक्का लगा उसे मैं मुश्किल से छिपा सका। उनके चेहरे को देखकर मेरे दिल में एक तरह की दहशत बैठ गई। क्योंकि उन्होंने मुझसे कहा कि कलकत्ते की बनिस्बत अब तो मैं बहुत अच्छा हूं। उनके चेहरे पर सूजन आ गई थी और वह शायद यह समझते थे कि यह तो यों ही आ गया है।

उनके उस चेहरे का मुझे रह-रहकर खयाल हो आता था। वह किसी तरह उनके चेहरे जैसा न रहा था। अब पहली मतबा मेरे दिल में यह डर पैदा हुआ कि उनके लिए खतरा सामने खड़ा है। मैंने हमेशा उनकी कल्पना बल और स्वास्थ्य के साथ-साथ ही की थी और उनके सम्बन्ध में मौत का खयाल कभी मन में नहीं आता था। मौत के खयाल पर वह हमेशा हँस दिया करते थे—उसे हँसी में उड़ा दिया करते थे और हमसे कहा करते थे कि मैं तो अभी बहुत दिन जीऊंगा।

पहली गोलमेज-कांफ्रेंस के वे आखिरी दिन थे और उसमें जो भाषण हुए और आडम्बरयुक्त भाव प्रदर्शित किये गये वे हमारे मनोरंजन का विषय बन गये थे।

हमें सचमुच इसका कुछ खयाल या परवा नहीं थी कि

गोलमेज-काँफ्रेंस ने क्या किया। वह हमसे बहुत दूर, अवास्तविक और खोखली थी और लड़ाई यहां हमारे कस्बों और गांवों में हो रही थी। हमें इस बात में कोई भ्रम नहीं था कि हमारी लड़ाई जल्द ही खत्म हो जायगी, या खतरा सामने खड़ा है, मगर फिर भी १९३० की घटनाओं ने हमें अपनी राष्ट्रीय शक्ति तथा सामर्थ्य का भरोसा करा दिया और उस इत्मीनान के बलपर हमने भावी का मुकाबला किया।

रैम्जे मैकडानल्ड साहब ने, सदा की तरह, एक सद्भावपूर्ण भाषण के द्वारा गोलमेज-कांफ्रेंस का उपसंहार किया। उसमें कांग्रेसियों से ऐसी अपरोक्ष रीति से अपील की गई थी कि वे बुरा मार्ग छोड़ दें और भले आदमियों की टोली में मिल जायं। ठीक इसी समय——१९३१ की जनवरी के बीच में इलाहाबाद में कांग्रेस की कार्य-समिति की एक बैठक हुई और दूसरी बातों के साथ-साथ इस भाषण और उसमें की गई अपील पर भी विचार किया।

बहुत कुछ पिताजी के आग्रह से कार्य-समिति ने बिलकुल न झुकने का प्रस्ताव पास किया था। उसके अखबारों में छपने से पहले ही सर तेजबहादुर सप्रू और श्रीनिवास शास्त्री का एक तार पिताजी को मिला, जिसमें उनकी मार्फत कांग्रेस से यह दरख्वास्त की गई थी कि वह इस विषय पर तबतक कोई फैसला न करें, जबतक कि उन्हें बातचीत करने का एक मौका न दिया जाय। वे लन्दन से विदा हो चुके थे। उन्हें इस आशय का जवाब दिया गया कि कार्य-समिति ने एक प्रस्ताव तो पास कर दिया है, लेकिन जबतक आप दोनों यहां न आजायंगे और आपसे बातचीत न हो जायगी, तबतक वह प्रकाशित नहीं किया जायगा।

बाहर यह जो कुछ हो रहा था उसका हमें जेल में कुछ पता न था। हम इतना ही जानते थे कि कुछ होनेवाला है और इससे हम कुछ चिन्तित हो गये थे। हमें जिस बात का सबसे अधिक

खयाल था, वह तो था २६ जनवरी के स्वतन्त्रता-दिवस का प्रथम वार्षिकोत्सव, और हम सोचते थे कि देखें यह किस तरह मनाया जाता है। बाद को हमने सुना कि वह सारे देश में मनाया गया। सभाएं की गईं और उनमें स्वाधीनता के प्रस्ताव का समर्थन किया गया और सब जगह वह प्रस्ताव पास किया गया।

२६ जनवरी को हम नैनी-जेल में बीते हुए साल के कामों पर सिंहावलोकन कर रहे थे और आगामी वर्ष को आशा की दृष्टि से देख रहे थे। इतने ही में दोपहर को एकाएक मुझे कहा गया कि पिताजी की हालत बहुत नाजुक हो गई है और मुझे फौरन घर जाना होगा। पूछने पर पता चला कि मैं रिहा किया जा रहा हूं। रणजित भी मेरे साथ थे।

उसी शाम को हिन्दुस्तान की कितनी ही जेलों से बहुत-से दूसरे लोग भी छोड़े गये। ये लोग थे कार्य-समिति के मूल और स्थानापन्न सदस्य। सरकार हमें आपस में मिलकर हालात पर गौर करने का मौका देना चाहती थी। इसलिए मैं उसी शाम को हर हालत में छूट ही जाता। पिताजी की तबीयत की वजह से कुछ घंटे पहले रिहाई हो गई। २६ दिन का जेल-जीवन बिताकर कमला भी उसी दिन लखनऊ-जेल से छोड़ दी गई। वह भी कार्य-समिति की एक स्थानापन्न मेम्बर थी।

पिताजी को मैंने दो हफ्ते बाद देखा। १२ जनवरी को नैनी में जब वह मिलने आये थे तब उनका चेहरा देखकर मेरे दिल को एक धक्का लगा था। तबसे अब उनकी तबीयत और ज्यादा खराब हो गई थी और उनके चेहरे पर ज्यादा वरम आ गया था। बोलने में कुछ तकलीफ होती थी और दिमाग पर पूरा-पूरा काबू नहीं रहा था; लेकिन फिर भी उनकी संकल्प-शक्ति वैसी ही कायम रही थी और वह उनके शरीर और दिमाग को काम करने में ताकत देती रही।

२६ जनवरी को, उसी दिन जिस दिन मैं छोड़ा गया, गांधी-

जी भी यरवडा-जेल से रिहा कर दिये गए। मैं उत्सुक था कि वह इलाहाबाद आवें और जब मैंने उनके छूटने की खबर पिताजी को दी तो मैंने देखा कि वह उनसे मिलने के लिए आतुर थे। बम्बई में एक अभूतपूर्व विशाल जन-सभा में स्वागत हो जाने के बाद दूसरे ही दिन गांधीजी बम्बई से चल पड़े। वह इलाहाबाद रात को देर से पहुंचे। लेकिन पिताजी उनसे मिलने की इन्तजारी में जाग रहे थे और उनके आने से और उनके कुछ शब्द सुनने से पिताजी को बड़ी शान्ति मिली। उनके आने से मेरी मां को भी बहुत शान्ति और तसल्ली रही।

अब कार्य-समिति के जो मूल और स्थानापन्न मेम्बर रिहा किये गये थे, वे असमंजस में पड़े हुए मीटिंग की सूचनाओं का इन्तजार कर रहे थ। कितने ही लोग पिताजी की बाबत चिन्तित थे और तुरन्त ही इलाहाबाद आना चाहते थे। इसलिए यह तय हुआ कि उन सबको फौरन मीटिंग के लिए इलाहाबाद बुला लिया जाय। दो दिन के बाद ३० या ४० लोग आ गये और हमारे मकान क पास ही स्वराज-भवन में उनकी मीटिंग होने लगी। कभी-कभी मैं भी इन मीटिंगों में चला जाता था। लेकिन मैं अपनी चिन्ताओं में इतना डूबा रहता था कि उनमें कोई उपयोगी हिस्सा नहीं लेता था और इस समय मुझे कुछ याद नहीं आता कि वहां क्या-क्या निर्णय हुए थे। मेरा खयाल है कि वे सविनय-भंग-आन्दोलन को जारी रखने के हक में हुए थे।

ये मित्र और साथी लोग, जिनमें से बहुतेरे तो हाल ही जेल से छूटे थे और फिर शीघ्र ही जेल जाने की आशा लगाये बैठे थे, पिताजी से मिलना चाहते थे और अन्तिम दर्शन करके उनसे अन्तिम बिदा लेना चाहते थे। सुबह-शाम वे दो-दो तीन-तीन करके आते। पिताजी अपने इन पुराने साथियों का स्वागत करने के लिए आराम-कुर्सी पर बैठने का आग्रह करते थे। उनका डीलडौल तो भव्य मगर चैहरा भावशून्य दिखाई देता

था; क्योंकि वरम आ जाने के कारण चेहरे पर भाव प्रकट नहीं हो पाते थे। लेकिन जैसे-जैसे एक के बाद एक साथी आते और जाते थे तैसे-तैसे उन्हें पहचान-पहचान कर उनकी आंखों में चमक आ जाती थी। उनका सिर कुछ झुकता जाता था और नमस्कार के लिए हाथ जुड़ जाते थे। हालांकि वह ज्यादा न बोल सकते थे, कभी-कभी कुछ शब्द बोलते थे, मगर फिर भी उनका पुराना हँसी-मजाक कायम था। वह एक बूढ़े शेर की तरह, जिसका शरीर बुरी तरह जख्मी हो गया हो और जिसकी ताकत शरीर से करीब-करीब चली गई हो, बैठे थे; लेकिन उस हालत में भी उनकी शान तो सिंहों या राजाओं जैसी ही थी। जब-जब मैं उनकी तरफ देखता तो सोचता कि उनके दिमाग में क्या-क्या खयाल आते होंगे। क्या वह हम लोगों के काम-काज में दिलचस्पी लेने की हालत में नहीं रहे हैं? यह साफ मालूम होता था कि वह अक्सर अपने-आपसे लड़ते थे। चीजें उनकी पकड़ से निकलना चाहती थीं और वह उनपर काबू पाने की कोशिश करते थे। अखीर तक यह लड़ाई जारी रही। मगर वह हारे नहीं। जब-तब बड़ी ही स्पष्टता के साथ हमसे बातें करते थे—यहांतक कि जब गले की सिकुड़न से उनके मुंह से शब्द निकलना मुश्किल हो गया था तो वह कागज पर लिख-लिखकर अपना आशय जाहिर करते थे।

कार्य-समिति की बैठकों में, जोकि हमारे पड़ोस में ही हो रही थीं, कहना चाहिए कि, उन्होंने कुछ भी दिलचस्पी नहीं ली। १५ रोज पहले इनसे उनका उत्साह जरूर बढ़ा होता, मगर अब शायद उन्होंने महसूस किया कि अब वह उससे बहुत दूर निकल गये हैं। उन्होंने गांधीजी से कहा—"महात्माजी! मैं जल्दी ही चला जानेवाला हूं, स्वराज देखने के लिए जिन्दा नहीं रहूंगा। लेकिन मैं जानता हूं कि आपने स्वराज जीत लिया है और जल्दी ही वह आपके हाथ में आ जायगा।"

जो दूसरे शहरों और सूबों से लोग आये थे उनमें से बहुतेरे चले गये। गांधीजी रह गये, कुछ और घनिष्ट मित्र, निकट सम्बन्धी और तीन नामी डाक्टर भी, जो उनके पुराने मित्र थे और जिनके लिए वह कहा करते थे कि मैंने अपना शरीर उनके हाथों में सौंप दिया है। वे थे डाक्टर अंसारी, विधानचन्द्र राय और जीवराज मेहता। ४ फरवरी को उनकी हालत कुछ अच्छी दिखाई पड़ी और इसलिए यह तय किया गया कि उससे फायदा उठाकर उन्हें लखनऊ ले जाया जाय, जहां कि एक्स-रे द्वारा इलाज की सुविधाएं हैं। उसी दिन उन्हें हम मोटर से ले गये। गांधीजी और कुछ लोग भी साथ गये। हम गये तो धीरे-धीरे, लेकिन फिर भी वह बहुत थक गये। दूसरे दिन थकावट दूर होती हुई मालूम हुई, लेकिन फिर भी कुछ चिन्ताजनक लक्षण दिखाई पड़ते थे। दूसरे दिन सुबह यानी ६ फरवरी को मैं उनके बिछौने के पास बैठा हुआ उन्हें देख रहा था। रात उनकी तकलीफ और बेचैनी में बीती थी। एकाएक मैंने देखा कि उनका चेहरा शान्त हो गया और लड़ने की शक्ति खतम हो गई। मैंने समझा कि उन्हें नींद लग गई है और इससे मुझ खुशी भी हुई। मगर मां की निगाह तेज थी। वह रो पड़ी। मैंने उसकी तरफ दखा और कहा कि उन्हें नींद लग गई है, वह जाग जायंगे। मगर वह नींद तो उनकी आखिरी नींद थी और उसके बाद फिर जागना नहीं हो सकता था।

उसी दिन हम उनके शव को मोटर से इलाहाबाद लाये। मैं उसके साथ बैठा। रणजित गाड़ी चला रहे थे और पिताजी का पुराना नौकर हरि भी साथ था। उसके पीछे दूसरी मोटर थी, जिसमें मां और गांधीजी थे और उसके बाद दूसरी मोटरें थीं। मैं दिनभर भौंचक्का-सा रहा। यह अनुभव करना मुश्किल था कि क्या घटना हुई है और एक के बाद एक हुई घटनाओं और बड़ी-बड़ी भीड़ों के कारण मैं कुछ सोच भी न सका। सूचना मिलते ही लखनऊ में बड़ी भीड़ जमा हो गई। वहां से शव को

लेकर इलाहाबाद आये। शव राष्ट्रीय झंडे में लपेटा हुआ था और ऊपर एक बड़ा झंडा फहरा रहा था। मीलों तक जबरदस्त भीड़ उनके प्रति अपनी श्रद्धांजलि अर्पण करने को जमा हुई थी। घर पर कुछ अन्तिम विधियां की गईं और फिर गंगा-यात्रा को चले। जबरदस्त भीड़ साथ थी। जाड़े के दिन थे। सन्ध्या का अंधकार गंगा-तट पर धीरे-धीरे फैल रहा था और चिता की ऊंची-ऊंची लपटों ने उस शरीर को भस्म कर दिया जिसका हमारे लिए और उनके इष्ट-मित्रों के लिए और हिन्दुस्तान के लाखों लोगों के लिए इतना मूल्य और महत्त्व था। गांधीजी ने छोटा-सा हृदयस्पर्शी भाषण दिया और फिर हम सब लोग चुपचाप घर चले आये। जब हम उदास और सुनसान लौट रहे थे, तब आकाश में तारे तेजी से चमक रहे थे।

मां को और मुझे हजारों सहानुभूति के सन्देश मिले। लार्ड और लेडी अर्विन ने मां को एक सौजन्यपूर्ण सन्देश भेजा। इस बहुत भारी सद्भावना और सहानुभूति ने हमारे दुःख और शोक की तीव्रता को कम कर दिया था। लकिन सबस ज्यादा और आश्चर्यजनक शान्ति और सान्त्वना तो मिली गांधीजी के वहां मौजूद रहने से, जिससे मां को और हम सब लोगों को जीवन के उस संकटकाल का सामना करन का बल मिला।

: ३० :

दिल्ली का समझौता

जिस दिन और जिस वक्त पिताजी की मृत्यु हुई, उसी दिन और प्रायः उसी समय बम्बई में गोलमेज-कांफ्रेंस के कुछ हन्दुस्तानी मेम्बर जहाज से उतरे। श्री श्रीनिवास शास्त्री और सर तेजबहादुर सप्रू और शायद दूसरे कुछ लोग, जिनका खयाल

अब मुझे नहीं है, सीधे इलाहाबाद आये। गांधीजी तथा कार्य-समिति के कुछ और सदस्य वहां पहले ही मौजूद थे। हमारे मकान पर खानगी बैठकें हुईं, जिसमें यह बताया गया कि गोलमेज-कांफ्रेंस में क्या-क्या हुआ ?

इन प्रतिनिधियों ने हमें गोलमेज-कांफ्रेंस के संबंध में ऐसी मार्के की कोई बात नहीं कही, जिसे हम पहले से न जानते हों। हां, उन्होंने यह अलबत्ता बताया कि वहां परदे के पीछे कैसी-कैसी साजिशें हुईं और फलां 'लार्ड' या फलां 'सर' ने खानगी म क्या-क्या किया ? लिबरल नेताओं के साथ हमारी जो कुछ बातचीत हुई, उसका कोई नतीजा न निकला। हमारी पिछली राय ही और मजबूत हो गई कि गोलमेज-कांफ्रेंस के निर्णयों की कुछ भी वकत नहीं है। किसीने—मैं उनका नाम भूल गया हूं—सुझाया कि गांधीजी वाइसराय को मुलाकात के लिए लिखें और उनके साथ खुलकर बातचीत कर लें। इसपर गांधीजी राजी हो गये, हालांकि मैं नहीं समझता कि उन्होंने परिणाम की कोई आशा की हो। मगर अपने सिद्धान्त को सामने रखते हुए वह सदा विरोधियों के साथ, कुछ कदम आगे जाकर भी, मिलने और बातचीत करने को तैयार रहते हैं। चूंकि उन्हें अपने पक्ष की सच्चाई का पूरा विश्वास रहता है, इसलिए वह दूसरे पक्ष के लोगों को भी कायल करने की आशा रखते थे।

बातचीत का इन्तजाम फौरन हो गया और गांधीजी दिल्ली रवाना हुए। हमसे कहते गये कि अगर वाइसराय से काम-चलाऊ समझौते के बारे में कोई बातचीत गम्भीर रूप से हुई तो मैं कार्य-समिति के मेम्बरों को बुला लूंगा। कुछ ही दिनों बाद हमें दिल्ली का बुलावा आया। हम तीन हफ्ते तक वहां रहे। रोज मिलते और लम्बी-लम्बी बहस करके थक जाते। गांधीजी कई बार लार्ड अर्विन से मिले। मगर कभी-कभी बीच में तीन-चार रोज खाली भी जाते। कभी-कभी देखने में जरा-सी बात या कुछ शब्दों के

कारण ही गाड़ी रुक जाती। एक ऐसा शब्द था सविनय-भंग को स्थगित कर देना। गांधीजी बराबर इस बात को स्पष्ट करते रहे कि सविनय-भंग आखिरी तौर पर न तो बन्द ही किया जा सकता है न छोड़ा ही जा सकता है, क्योंकि यही एक-मात्र हथियार हिन्दुस्तान के लोगों के हाथ में है। हां, वह स्थगित किया जा सकता है। लार्ड अर्विन को इस बात पर आपत्ति थी। वह ऐसा शब्द चाहते थे जिसका अर्थ निकलता हो सविनय-भंग छोड़ दिया गया। लेकिन यह गांधीजी को मंजूर नहीं होता था। आखिर 'डिस्कन्टिन्यू' (रोक देना) शब्द इस्तेमाल किया गया। विदेशी कपड़े और शराब की दूकानों पर धरना देने की बाबत भी लम्बी-चौड़ी बहस हुई। हमारा बहुतेरा समय समझौते की अस्थायी तजवीजों पर गौर करने में लगा और मूलभूत बातों पर कम ध्यान दिया गया। शायद यह सोचा गया कि जब यह कामचलाऊ समझौता हो जायगा और रोज-रोज की लड़ाई रोक दी जायगी, तब अधिक अनुकूल वातावरण में बुनियादी बातों पर गौर किया जा सकेगा। हम उस बातचीत को विराम-सन्धि की वार्ता मान रहे थे, जिसके बाद असली प्रश्नों पर आगे और बातचीत की जायगी।

गांधी-अर्विन बातचीत एकाएक रुक गई। कई दिनों तक वाइसराय ने गांधीजी को नहीं बुलाया और हमें ऐसा लगा कि बातचीत टूट गई। कार्य-समिति के सदस्य दिल्ली से अपने-अपने सूबों में जाने की तैयारी कर रहे थे। जाने से पहले हम लोगों ने आपस में भावी कार्य की रूप-रेखाओं और सविनय-भंग पर (जो कि अभी उसूलन जारी था) विचार-विनिमय किया। हमें यकीन था कि ज्योंही बातचीत के टूटने की बात पक्के तौर पर जाहिर हो जायगी, त्योंही हम सबके लिए फिर मिलकर बातचीत करने का मौका नहीं रह जायगा।

हम गिरफ्तारियों की उम्मीद ही रखते थे। हमसे कहा गया

था और यह संभव भी दीखता था कि अबकी बार सरकार कांग्रेस पर जोर का धावा बोलेगी। वह अबतक के दमन से बहुत भयंकर होगा। सो हम आपस में आखिरी तौर पर मिल लिये और आन्दोलन को भविष्य में चलाने के विषय में कई प्रस्ताव किये। ठीक उसी वक्त लार्ड अर्विन की तरफ से बुलावा आया और बातचीत फिर शुरू हो गई। ४ मार्च की रात को हम आधी रात तक गांधीजी के वाइसराय-भवन से लौटने का इन्तजार कर रहे थे। वह रात को कोई दो बजे आये और हमें जगाकर कहा कि समझौता हो गया है। हमने मसविदा देखा। बहुतेरी धाराओं को तो मैं जानता था, क्योंकि अक्सर उनपर चर्चा होती रहती थी; लेकिन धारा नं० २[1] जोकि सबसे ऊपर ही थी और संरक्षण आदि के बारे में थी, उसे देखकर मुझे जबरदस्त धक्का लगा। मैं उसके लिए कतई तैयार न था, मगर मैं उस वक्त कुछ न बोला और हम सब सो गये।

मुझे सबसे ज्यादा खयाल दो बातों का था। एक तो यह कि हमारा स्वतन्त्रता का ध्येय किसी भी तरह नीचा न किया जाय और दूसरा यह कि समझौते का युक्तप्रान्त के किसानों की स्थिति पर क्या असर होगा? हमारा लगानबन्दी आन्दोलन अबतक बहुत कामयाब रहा था और कुछ इलाकों में तो मुश्किल से लगान-वसूल हो पाया था। किसान खूब रंग में थे और संसार की कृषि-

---

[1] दिल्ली-समझौते की धारा नं० २ (५ मार्च, १९३१) यह है—"विधान-सम्बन्धी प्रश्न पर, सम्राट-सरकार की अनुमति से, यह तय हुआ है कि हिन्दुस्तान के वैध शासन की उसी योजना पर आगे विचार किया जायगा जिसपर गोलमेज़-कांफ्रेंस में पहले ही विचार हो चुका है। वहां जो योजना बनी थी, संघ-शासन उसका एक अनिवार्य अंग है। इसी प्रकार भारतीय उत्तरदायित्व और भारत के हित की दृष्टि से रक्षा (सेना), वैदेशिक मामले, अल्प-संख्यक जातियों की स्थिति, भारत की आर्थिक साख और ज़िम्मेदारियों की अदायगी जैसे विषयों के प्रतिबन्ध या संरक्षण भी उसके आवश्यक भाग हैं।"

सम्बन्धी अवस्थाएं और चीजों के भाव बहुत खराब थे, जिससे उनके लिए लगान अदा करना और मुश्किल हो गया था। हमारा करबन्दी-आन्दोलन राजनैतिक और आर्थिक दोनों तरह का था। अगर सरकार के साथ कोई क्षणिक समझौता हो जाता है तो सविनय-भंग वापस ले लिया जायगा और उसका राजनैतिक आधार निकल जायगा। लेकिन उसके आर्थिक पहलू के, भावों की इतनी गिरावट के और किसानों की मुकर्रर की हुई किश्त के मुकाबले में कुछ भी देने की असमर्थता के विषय में क्या होगा? गांधीजी ने लार्ड अर्विन से यह प्रश्न बिलकुल साफ कर लिया था। उन्होंने कहा था करबन्दी-आन्दोलन बन्द कर दिया जायगा, तो भी हम किसानों को यह सलाह नहीं दे सकते कि वह अपनी ताकत या हैसियत से ज्यादा दें। चूंकि यह प्रान्तीय मामला था, भारत सरकार के साथ इसकी ज्यादा चर्चा नहीं हो सकी थी। हमें यह यकीन दिलाया गया था कि प्रान्तीय सरकार इस विषय में खुशी के साथ हमसे बातचीत करेगी और अपने बसभर किसानों की तकलीफ दूर करने की कोशिश करेगी। यह एक गोल-मोल आश्वासन था। लेकिन उन हालतों में इससे ज्यादा पक्की बात होना मुश्किल था। इस तरह यह मामला उस वक्त के लिए तो खत्म ही हो गया था।

अब हमारी स्वाधीनता का अर्थात् हमारे उद्देश्य का महत्त्व-पूर्ण प्रश्न बाकी रहा और समझौते की धारा नं० २ से मुझे यह मालूम पड़ा कि यह भी खतरे में जा पड़ा है। क्या इसीलिए हमारे लोगों ने एक साल तक अपनी बहादुरी दिखाई? क्या हमारी बड़ी-बड़ी जोरदार बातों और कामों का खात्मा इसी तरह होना था? क्या कांग्रेस का स्वाधीनता-प्रस्ताव और २६ जनवरी की प्रतिज्ञा इसीलिए की गई थी? इस तरह के विचारों में डूबा हुआ मैं मार्च की उस रातभर पड़ा रहा और अपने दिल में ऐसी शून्यता महसूस करने लगा कि मानो उसमें से कोई कीमती चीज सदा के लिए निकल गई हो।

गांधीजी ने किसीसे मेरी मानसिक व्यथा का हाल सुना और दूसरे दिन सुबह घूमने के वक्त अपने साथ चलने के लिए मुझे कहा। बड़ी देर तक हमने बातचीत की, जिसमें उन्होंने मुझे यह विश्वास दिलाने की कोशिश की कि न तो कोई अत्यन्त महत्त्व की बात छोड़ दी गई है और न कोई सिद्धान्त ही त्यागा गया है। उन्होंने धारा नम्बर २ का एक विशेष अर्थ लगाया, जिससे वह हमारी स्वतन्त्रता की मांग से मेल खा सके। इसमें उनका आधार खासकर 'भारत के हित में' शब्द थे। यह अर्थ मुझे खींचातानी का मालूम हुआ। मैं उसका कायल तो नहीं हुआ, लेकिन उनकी बातचीत से मुझे कुछ सान्त्वना जरूर हुई।

एक-दो दिन तक मैं बड़ी दुविधा में पड़ा रहा। समझ न सका कि क्या करूं? अब समझौते के विरोध का या उसे रोकने का तो कोई सवाल ही नहीं था। वह वक्त गुजर चुका था और मैं जो-कुछ कर सकता था वह यह कि व्यवहार में उसे स्वीकार करते हुए सिद्धान्ततः अपनेको उससे अलग रखूं। उससे मेरे अभिमान को कुछ सान्त्वना मिल जाती, लेकिन हमारे पूर्ण स्वराज्य के बड़े प्रश्न पर इसका क्या असर पड़ सकता था? तब क्या यह अच्छा न होगा कि मैं उसे खूबसूरती के साथ मंजूर कर लूं और उसका अधिक-से-अधिक अनुकूल अर्थ लगाऊं, जैसाकि गांधीजी ने किया? समझौते के बाद ही फौरन अखबारवालों से बातचीत करते हुए गांधीजी ने उसी अर्थ पर जोर दिया और कहा कि हम स्वतन्त्रता के प्रश्न पर पूरे-पूरे अटल हैं। वह लार्ड अर्विन के पास गये और इस बात को बिलकुल स्पष्ट कर दिया, जिससे कि उस समय या आगे कोई गलतफहमी न होने पावे। उन्होंने उनसे कहा कि यदि कांग्रेस गोलमेज-कांफ्रेंस में अपना प्रतिनिधि भेजे तो उसका आधार एकमात्र स्वतन्त्रता ही हो सकता है और उसे पेश करने के लिए ही वहां जाया जा सकता है। अवश्य ही लार्ड अर्विन इस दावे को मान तो नहीं सकते थे, लेकिन उन्होंने यह मंजूर किया कि हां, कांग्रेस को उसे पेश करने का हक है।

इसलिए मैंने समझौते को मान लेना और दिल से उसके लिए काम करना तय किया। यह बात नहीं कि ऐसा करते हुए मुझे बहुत मानसिक और शारीरिक क्लेश न हुआ हो। मगर मुझे बीच का कोई रास्ता दिखाई नहीं देता था।

दिल्ली-समझौते के बाद कराची में कांग्रेस का अधिवेशन हुआ। पिछली किसी भी कांग्रेस की अपेक्षा कराची-कांग्रेस में तो गांधीजी की और भी बड़ी निजी विजय हुई। उसके सभापति सरदार पटेल थे, जो देश के सबसे लोकप्रिय और समर्थ व्यक्तियों में से एक थे। गुजरात की अनेक लड़ाइयों में विजय प्राप्त करके यश प्राप्त किया था। फिर भी उसमें प्रधानता तो गांधीजी की ही थी।

कराची-कांग्रेस का मुख्य प्रस्ताव दिल्ली-समझौते और गोलमेज-कांफ्रेंस के संबंध में था। कार्य-समिति का प्रस्ताव होने के कारण उसे मैंने स्वीकार किया था, किन्तु जब गांधीजी ने मुझे खुले अधिवेशन में उसे पेश करने के लिए कहा तो मैं जरा हिचकिचाया। वह मेरी तबीयत के खिलाफ था। फिर भी बिलकुल आखरी घड़ी में मैंने उस प्रस्ताव को पेश करने का निश्चय किया। अपने भाषण में मैंने अपने हृदय के भाव ज्यों-के-त्यों रख दिये। मेरा वह भाषण जो ऐन मौके पर अन्तःस्फूर्ति से दिया गया और हृदय की गहराई से निकला था, जिसमें न कोई अलंकार था न सुन्दर शब्दावली––शायद मेरे उन कई भाषणों से ज्यादा सफल रहा, जिनके लिए पहले से ध्यान देकर तैयारी करने की जरूरत हुई थी।

मैं और प्रस्तावों पर भी बोला था। इनमें भगतसिंह, मौलिक अधिकार और आर्थिक नीति के प्रस्ताव उल्लेखनीय हैं। आखिरी प्रस्ताव में मेरी खास दिलचस्पी थी, क्योंकि एक तो उसका विषय ही ऐसा था और दूसरे उसके द्वारा कांग्रेस में एक नए दृष्टिकोण का प्रवेश होता था। अबतक कांग्रेस सिर्फ राष्ट्रीयता की ही दिशा में सोचती थी और आर्थिक प्रश्नों से बचती रहती थी। जहांतक

ग्राम-उद्योगों से और आम तौर पर स्वदेशी को बढ़ावा देने से ताल्लुक था, उसको छोड़कर कराचीवाले इस प्रस्ताव के द्वारा मूल उद्योगों और नौकरियों के राष्ट्रीयकरण और ऐसे ही दूसरे उपायों के प्रचार के द्वारा गरीबों का बोझा कम करके अमीरों पर कर बढ़ाने के लिए एक बहुत छोटा कदम, समाजवाद की दिशा में उठाया गया; लेकिन वह समाजवाद कतई न था। पूंजीवादी राज्य भी उसकी प्रायः हर बात को आसानी से मंजूर कर सकता है।

हम सब कराची में ही थे कि कानपुर के हिन्दु-मुस्लिम दंगे की खबर हमें मिली। इसके बाद ही दूसरा समाचार यह मिला कि गणेशशंकर विद्यार्थी को कुछ मजहबी दीवाने लोगों ने, जिनकी मदद के लिए वह वहां गये थे, कत्ल कर डाला। वे भयंकर और पाशविक दंगे ही क्या कम बुरे थे ? लेकिन गणेशजी की मृत्यु ने हमें उनकी बीभत्सता जिस तरह हमारे हृदय पर अंकित कर दी वैसी और कोई चीज नहीं कर सकती थी। उस कांग्रेस-कैम्प में हजारों आदमी उन्हें जानते थे और युक्तप्रान्त के हम सब लोगों के वह अत्यन्त प्यारे साथी और दोस्त थे। जवांमर्द और निडर, दूरदर्शी और निहायत अक्लमन्द सलाहकार, कभी हिम्मत न हारनवाले, चुपचाप काम करनेवाले, नाम, पद और प्रसिद्धि से दूर भागनवाले, अपनी जवानी के उत्साह में झूमते हुए वह हिन्दू-मुस्लिम-एकता के लिए, जो उन्हें इतनी प्यारी थी और जिसके लिए उन्होंने अबतक कार्य किया था, अपना सिर हथेली पर लेकर खुशी-खुशी आगे बढ़े थे कि बेवकूफ हाथों ने उन्हें जमीन पर मार गिराया और कानपुर को और सूबे को एक अत्यन्त उज्ज्वल रत्न से वंचित कर दिया। जब यह खबर पहुंची तो कराची के यू० पी० कैम्प में शोक की घटा छा गई और ऐसा मालूम हुआ कि उसकी शान चली गई। लेकिन फिर भी उसके दिल में यह अभिमान था कि गणेशजी ने बिना पीछे कदम उठाये मौत का मुकाबला किया और उन्हें ऐसी गौरवपूर्ण मौत नसीब हुई।

: ३१ :

लंका में विश्राम

दिल्ली-समझौते के बाद मेरी सेहत कुछ खराब हो गई। जेल में भी मेरी तबीयत कुछ खराब रही थी। उसके बाद पिताजी की मृत्यु से गहरा धक्का लगा और फिर फौरन ही दिल्ली में सुलह की चर्चा का जोर पड़ा। यह सब मेरे स्वास्थ्य के लिए हानिकर साबित हुआ।

मेरे डाक्टरों ने मुझपर जोर दिया कि मुझे कुछ आराम करना चाहिए और आब-हवा बदलनी चाहिए। मैंने लंका द्वीप में एक महीना गुजारना तय किया। हिन्दुस्तान बड़ा भारी देश होने पर भी, इसमें स्थान-परिवर्तन या मानसिक विश्राम की असली सम्भावना दिखाई न दी; क्योंकि मैं जहां भी जाता वहां राजनैतिक साथी मिलते ही, और वही समस्याएं भी मेरे पीछे-पीछे पहुंच जातीं। लंका ही हिन्दुस्तान से सबसे नजदीक की जगह थी, इसलिए हम लंका ही गये——कमला, इन्दिरा और मैं। १९२७ में यूरोप से लौटने के बाद यही मेरी पहली तातील थी, यही पहला मौका था जब मेरी पत्नी, कन्या और मैंने एक-साथ शान्ति से कहीं विश्राम किया हो और हमें कोई चिन्ताएं न रही हों। ऐसा विश्राम फिर नहीं मिला और मैं सोचता हूं कि शायद मिलेगा भी या नहीं।

फिर भी, दरअसल, हमें लंका में नुवारा एलीया में दो हफ्तों के सिवा ज्यादा विश्राम नहीं मिला। वहां के सभी वर्गों के लोगों ने हमारे प्रति बहुत ही आतिथ्य और मित्र-भाव प्रदर्शित किया। यह इतनी सद्भावना लगती तो बहुत अच्छी थी, मगर परेशानी में भी डाल देती थी। नुवारा एलीया में बहुत-से श्रमिक, चाय-बागों के मजदूर और दूसरे लोग रोज कई मील चलकर आया करते थे और अपने साथ अपनी प्रेम-पूर्ण भेंट की चीजें——जंगल

के फूल, सब्जियां, घर का मक्खन––भी लाया करते थे। हम तो उनसे प्राय: बात भी नहीं कर सकते थे, एक-दूसरे की तरफ देख भर लेते थे और मुस्करा देते थे। हमारा छोटा-सा घर उनकी भेंट की इन कीमती चीजों से, जो वे अपनी दरिद्रावस्था में भी हमें दे जाते थे, भर गया था। ये चीजें हम वहां के अस्पतालों और अनाथालयों में भेज दिया करते थे।

हमने उस द्वीप की मशहूर चीजों और ऐतिहासिक खंडहरों, बौद्ध मठों और घने जंगलों को देखा। अनुराधापुर में मुझे बुद्ध की एक पुरानी बैठी हुई मूर्त्ति बहुत पसन्द आई। एक साल बाद जब मैं देहरादून-जेल में था, तब लंका के एक मित्र ने इस मूर्त्ति का चित्र मेरे पास भेज दिया था, जिसे मैं अपनी कोठरी में अपने छोटे-से टेबल पर रक्खे रहता था। यह चित्र मेरा बड़ा मूल्यवान् साथी बन गया था और बुद्ध की मूर्त्ति के गंभीर शान्त भावों से बड़ी शांति और शक्ति मिलती थी, जिससे मुझे कई बार उदासी के मौकों पर बड़ी मदद मिली।

बुद्ध हमेशा मुझे बहुत आकर्षक प्रतीत हुए हैं। इसका कारण बताना तो मुश्किल है, मगर वह धार्मिक नहीं है, क्योंकि बौद्ध धर्म के आसपास जो मताग्रह जम गये हैं उनमें मुझे कोई दिल-चस्पी नहीं है। उनके व्यक्तित्व ने ही मुझे आकर्षित किया है। इसी तरह ईसा के व्यक्तित्व के प्रति भी मुझे बड़ा आकर्षण है।

मैंने मठों में और सड़कों पर बहुत-से बौद्ध भिक्षुओं को देखा, जिन्हें हर जगह, जहां कहीं वे जाते थे, सम्मान मिलता था। करीब-करीब सभीके चेहरों पर शांति और निश्चलता का तथा दुनिया की फिक्रों से एक विचित्र वैराग्य का, मुख्य भाव था। आमतौर पर उनकी सूरत से दिमाग के अन्दर होनेवाला संघर्ष नहीं मालूम पड़ता था। जीवन उन्हें महासागर की ओर शान्ति से बहती हुई नदी के समान दिखाई देता था। मैं उनकी तरफ कुछ रश्क के

साथ, आंधी और तूफान से बचानेवाला शांत बन्दरगाह पाने की एक हल्की उत्कण्ठा के साथ, देखता था। मगर मैं तो जानता था कि मेरी किस्मत में और ही कुछ है, उसमें तो आंधी और तूफान ही हैं। मुझे कोई शान्त बन्दरगाह मिलनेवाला नहीं है, क्योंकि मेरे भीतर का तूफान भी उतना ही तेज है जितना बाहर का। और अगर मुझे कोई ऐसा बन्दरगाह मिल भी जाय, जहां इत्तिफाक से आंधी की प्रचण्डता न हो तो भी क्या वहां मैं संतोष और सुख से रह सकूंगा ?

कुछ समय के लिए तो वह द्वीप खुशनुमा ही था। वहां आदमी पड़ा रह सकता था, स्वप्न देख सकता था और उष्ण-कटि-बन्ध का शान्तिप्रद और जीवनदायी आनन्द अपने अन्दर भर सकता था। लंका द्वीप उस समय मेरी भी वृत्ति के अनुकूल था और उसकी शोभा देखकर मेरा हृदय हर्ष से भर गया। विश्राम का हमारा महीना जल्दी ही खत्म हो गया और हार्दिक दुःख के साथ हम वहां से विदा हुए। उस भूमि की और वहां के लोगों की कई बातें अब भी मुझे याद आया करती हैं; जेल में मेरे लम्बे और सूने दिनों में भी यह मीठी याद मेरे साथ रही। एक छोटी-सी घटना मुझे याद है। वह शायद जाफ़ना के पास हुई थी। एक स्कूल के शिक्षकों और लड़कों ने हमारी मोटर रोक ली और अभि-वादन के कुछ शब्द कहे। दृढ़ और उत्सुक चेहरे लिये लड़के खड़े रहे और उनमें से एक मेरे पास आया। उसने मुझसे हाथ मिलाया। बिना कुछ पूछे या दलील किये उसने कहा—"मैं कभी लड़खड़ाऊंगा नहीं।" उस लड़के की उन चमकती हुई आँखों की, उस आनन्दपूर्ण चेहरे की, जिसमें निश्चय की दृढ़ता भरी हुई थी, छाप मेरे मनपर अब भी पड़ी हुई है। मुझे पता नहीं कि वह कौन था, उसका कोई पता-ठिकाना मेरे पास नहीं है; मगर किसी-न-किसी प्रकार मुझे यह विश्वास होता है कि वह अपने शब्दों का पक्का रहेगा और जब जीवन की विषम समस्याओं का मुकाबला उसे करना होगा तब वह लड़खड़ायेगा नहीं, पीछे नहीं

रहेगा।

बम्बई से लंका को रवाना होने के सात हफ्ते बाद हम फिर बम्बई आ गये और म फौरन ही कांग्रेस की राजनीति के भंवर में कूद पड़ा। कार्य-समिति की बैठकें कई जरूरी मामलों पर विचार करने के लिए होनेवाली थीं——हिन्दुस्तान की स्थिति तेजी से बदलती और गम्भीर होती जाती थी; यू० पी० के किसानों का प्रश्न जटिल हो गया था; खान अब्दुलगफ्फार खां के नेतृत्व में सीमा-प्रान्त में लाल-कुर्ती दल की आश्चर्यजनक प्रगति हुई थी; बंगाल में अत्यन्त विक्षोभ की दशा हो गई थी और उसमें क्रोध और असन्तोष अन्दर-ही-अन्दर बढ़ गया था; हमेशा की साम्प्रदायिक समस्या तो थी ही और कांग्रेस के लोगों और सरकारी अफसरों के बीच कई तरह के मामलों में छोटे-छोटे कई स्थानीय झगड़े खड़े हो गए थे, जिनमें दोनों पक्ष एक-दूसरे पर दिल्ली-समझौते को तोड़ने का इलजाम लगाते थे। इसके अलावा यह सवाल भी बार-बार उठता था कि क्या कांग्रेस गोलमेज-कांफ्रेंस में शामिल होगी? क्या गांधीजी को वहां जाना चाहिए?

: ३२ :

समझौता-काल में दिक्कतें

गांधीजी को गोलमेज-कांफ्रेंस के लिए लन्दन जाना चाहिए या नहीं? यह सवाल बराबर उठता रहता था और इसका कोई निश्चित जवाब नहीं मिलता था। आखिरी मिनट तक कोई भी नहीं जानता था, कांग्रेस-कार्य-समिति और खुद गांधीजी भी नहीं जानते थे। क्योंकि जवाब का आधार तो कई बातों पर था और नई-नई घटनाएं परिस्थिति को बदल रही थीं। इस सवाल और जवाब की तह में असली मुश्किल समस्याएं खड़ी थीं।

हिन्दुस्तान में परिस्थिति तेजी से बदल रही थी। सारे देश

में ऐसा हो रहा था,——खासकर बंगाल, युक्तप्रान्त और सीमा-प्रांत में। बंगाल में तो दिल्ली के समझौते से कोई खास फर्क नहीं पड़ा और तनाव जारी रहा, बल्कि और भी ज्यादा हो गया। सविनय-भंग के कुछ कैदी छोड़ दिये गये; लेकिन हजारों राजनैतिक कैदी, जो नाम के लिए सविनय-भंग के कैदी नहीं समझे जा सकते थे, जेल में ही रहे। नजरबन्द भी जेलों या नजरबन्द-कैम्पों में ही सड़ते रहे। राजद्रोहात्मक भाषणों या दूसरी राजनैतिक प्रवृत्तियों के कारण नई गिरफ्तारियां अक्सर हो जाती थीं और आम-तौर पर यही महसूस हो रहा था कि सरकार की तरफ से हमला अब भी बन्द नहीं हुआ है, वह जारी है। कांग्रेस के लिए आतंक-वाद के कारण बंगाल की समस्या हमेशा बहुत ही कठिन रही है। कांग्रेस की सामान्य प्रवृत्तियों और सविनय-भंग के मुकाबले आतंकवादी हलचलें तो बहुत थोड़ी और बहुत छोटी-सी रही हैं। मगर उनसे शोर ज्यादा मचता था और उनकी तरफ ध्यान बहुत खिंच जाता था। इन हलचलों से दूसरे प्रांतों की तरह कांग्रेस का काम होना मुश्किल हो गया था। क्योंकि आतंकवाद से ऐसा वातावरण पैदा हो जाता था, जो शांतिपूर्ण लड़ाई के लिए अनुकूल न था। लाजिमी तौर पर इसके कारण सरकार ने सख्त-से-सख्त दमन किया, जोकि आतंकवादी और गैर-आतंकवादी बहुत-कुछ दोनों पर निष्पक्ष समानता से पड़ा।

युक्तप्रान्त में किसानों की स्थिति खराब होती जा रही थी। प्रांतीय सरकार इस सवाल पर टालमटोल करने की कोशिश कर रही थी। उसने लगान और मालगुजारी के छूट के फैसले को आगे धकेल दिया और जबरदस्ती लगान-वसूली शुरू कर दी। सामूहिक बेदखलियां और कुर्कियां होने लगीं। जब हम लंका में थे तभी जबरदस्ती लगान-वसूली की कोशिश के कारण, दो या तीन जगहों पर किसानों के दंगे हो गए थे। ये दंगे थे तो मामूली-से ही, मगर बदकिस्मती से उनमें जमींदार या उनके कारिन्दे मर

गये थे। गांधीजी युक्तप्रांत के गवर्नर सर माल्कम हेली से किसानों की परिस्थिति पर बातचीत करने नैनीताल गये थे (उस वक्त भी मैं लंका में ही था), मगर उसका कोई अच्छा नतीजा नहीं निकला। जब सरकार ने छूट की घोषणा की तो वह उम्मीद से बहुत कम थी। देहात में लगातार हो-हल्ला मचने और बढ़ने लगा। ज्यों-ज्यों जमींदार और सरकार दोनों का मिलाकर दबाव बढ़ता गया और हजारों किसान अपनी जमीन से बेदखल किये जाने लगे और उनकी छोटी-छोटी मिल्कियत छीनी जाने लगी, त्यों-त्यों ऐसी स्थिति पैदा होती गई कि जिससे किसी भी दूसरे देश में एक बड़ा किसान-विप्लव खड़ा हो सकता था। मेरा खयाल है कि यह कांग्रेस की कोशिश का ही नतीजा था कि जिससे किसानों ने कोई हिंसात्मक कार्य नहीं किये। मगर खुद उनपर जो बल-प्रयोग हुआ उसका क्या पूछना !

बंगाल की तरह, सीमाप्रांत में भी दिल्ली के समझौते से कोई शांति नहीं हुई। वहां विक्षोभ का वातावरण निरन्तर बना रहा। वहां की हुकूमत विशेष कानूनों, आर्डिनेन्सों और छोटे-छोटे कुसूरों पर भारी-भारी सजाओं के कारण एक फौजी हुकूमत के समान हो रही थी। इस हालत का विरोध करने के लिए खान अब्दुलगफ्फार खां ने बड़ा आन्दोलन उठाया, जिससे सरकारकी निगाह में वह बहुत खटकने लगे। वह छः फुट तीन इंच ऊँचे पूरे पठान, मर्दानगी के साथ, गांव-गांव पैदल जाते थे और जगह-जगह 'लालकुर्ती' दल के केन्द्र कायम करते थे। जहां कहीं वह या उनके खास-खास साथी जाते थे वहां-वहां वह लाल-कुर्ती-दल का एक सिलसिला बनाकर छोड़ जाते थे और जल्दी ही सारे प्रांत में 'खुदाई खिदमतगार' की शाखाएं फैल गईं। वे बिलकुल शान्तिपूर्ण थे और उनके खिलाफ गोल-मोल आरोप लगाये जाने पर भी, आजतक हिंसा का कोई एक भी निश्चित अभियोग नहीं ठहर सका है। मगर चाहे वे शांतिपूर्ण रहे हों या नहीं, उनका पूर्व-इतिहास तो युद्ध और हिंसा का रहा था और

वे उपद्रवी सीमाप्रदेश के पास बसे हुए थे इसलिए इस अनुशासन-युक्त आन्दोलन के, जिसका हिन्दुस्तान के राष्ट्रीय आन्दोलन से गहरा ताल्लुक था, तेजी से बढ़ने के कारण सरकार घबरा गई। मेरा खयाल है कि उसने इस आन्दोलन के शांति और अहिंसा के दावे पर कभी विश्वास नहीं किया। मगर, यदि उसने विश्वास भी कर लिया होता तो भी उसके हृदय में इसके कारण दहशत और झुंझलाहट ही पैदा हुई होती। इसमें उसे इतनी असली और भीतरी शक्ति दिखाई दी कि वह उसे शांति से देखती नहीं रह सकती थी।

इस बड़े आन्दोलन के मुखिया, बिला उज्र, खान अब्दुल-गफ्फार खां ही थे—जिन्हें 'फख्रे-अफगान', 'फख्रे-पठान', 'गांधी-ए-सरहद', वगैरा नामों से याद किया जाने लगा। उन्होंने सिर्फ अपने चुपचाप और एक-निष्ठ काम के बल पर, जिसमें न वह मुश्किलों से डरे न सरकारी दमन से, सीमाप्रांत में आश्चर्यजनक लोक-प्रियता पा ली थी। जैसे कि राजनीतिज्ञ आमतौर पर हुआ करते हैं, उस तरह के राजनीतिज्ञ न वह थे, न हैं। वह राजनैतिक चाला-कियों और पैंतरेबाजियों को नहीं जानते। वह तो एक ऊँचे और सीधे—शरीर और मन दोनों में—आदमी हैं। वह शोर-गुल और बकवास से नफरत करते हैं। वह हिन्दुस्तान की आजादी के ढांचे के अन्दर अपने सीमा-प्रांतीय लोगों के लिए भी आजादी चाहते हैं, मगर विधानों और कानूनी बातों के बारे में उनका दिमाग सुलझा हुआ नहीं है और न उनमें उन्हें कोई दिलचस्पी ही है। किसी भी चीज को पाने के लिए जोरदार काम की जरूरत है और गांधीजी ने ऐसे शांतिपूर्ण काम का एक बढ़िया तरीका, जो उन्हें जंच गया, बता ही दिया था। इसलिए ज्यादा बहस में न पड़ते हुए और अपने संगठन के लिए कायदों के मसविदे के फेर में न पड़कर, उन्होंने सीधा संगठन करना ही शुरू कर दिया और उसमें उन्हें खूब कामयाबी मिली।

गांधीजी की तरफ उनका झुकाव खासतौर पर हो गया। पहले

तो अपने-आपको पीछे ही रखने के लजीले स्वभाव के कारण वह उनसे दूर-दूर रहे। बाद में कई मामलों पर बहस करने के लिए उन्हें उनसे मिलना पड़ा और उनका ताल्लुक बढ़ा। यह ताज्जुब की बात है कि इस पठान ने अहिंसा को उसूलन हममें से कई लोगों की बनिस्बत ज्यादा कैसे मान लिया? और चूंकि उनका अहिंसा पर पक्का यकीन था, इसी कारण वह अपने लोगों को समझा सके कि उभाड़े जाने पर भी शांति रखने का बड़ा भारी महत्त्व है। यह कहना तो बिलकुल गलत ही होगा कि सीमा-प्रांत के लोगों ने कभी भी या छोटी भी हिंसा करने का विचार पूरी तरह से छोड़ दिया है, जैसाकि किसी भी प्रांत के लोगों के बारे में आमतौर पर यह कहना बिलकुल गलत होगा। आम जनता तो भावुकता की लहरों में बहा करती है और जब इस तरह की लहर उठ खड़ी हो तब वह क्या करेगी यह पहले से नहीं कहा जा सकता। मगर अपने-आप पर काबू और जब्त रखने की जो मिसाल सीमा-प्रांत के लोगों ने १९३० में और बाद के बरसों में पेश की थी वह विलक्षण ही थी।

१९३० में हिन्दुस्तान का राष्ट्रीय आन्दोलन कुछ वक्त के लिए देश की बढ़ती हुई सामाजिक शक्तियों के भी अनुकूल बैठ गया, जिससे उसे बड़ी ताकत मिल गई। उसमें वास्तविकता मालूम होने लगी और ऐसा लगने लगा कि मानो वह सचमुच इतिहास के साथ कदम-ब-कदम आगे बढ़ रहा है। कांग्रेस उस राष्ट्रीय आन्दोलन की प्रतिनिधि थी और उसकी प्रतिष्ठा बढ़ने से मालूम होता था कि उसकी शक्ति और सत्ता बढ़ रही है। यह कुछ-कुछ अस्पष्ट, कुछ बे-अन्दाज, कुछ जबान से न बयान किया जाने-जैसा तो था; किन्तु फिर भी बहुत कुछ मौजूद था ही। निस्संदेह किसान लोग कांग्रेस की तरफ झुके और उन्होंने ही उसकी असली शक्ति बनाई। निचले मध्यम-वर्ग ने उसे सबसे मजबूत सैनिक दिये। ऊपरी मध्यम-वर्ग ने भी इस वातावरण से

घबराकर कांग्रेस से दोस्ती बनाये रखने में ही ज्यादा भलाइ देखी। ज्यादातर सूती मिलों ने कांग्रेस के बनाये इकरारनामों पर दस्तखत कर दिये, और वे ऐसे काम करने से डरने लगीं जिनसे कांग्रेस उनसे नाराज हो जाय। जब कुछ लोग लन्दन में बैठे पहली गोलमेज-कांफ्रेंस में बड़े-बड़े कानूनी प्रश्नों पर बातचीत कर रहे थे, उस वक्त मालूम हो रहा था कि आम लोगों के प्रतिनिधि की हैसियत से कांग्रेस के पास ही धीरे-धीरे और अनजान में असली ताकत चली जा रही है। दिल्ली के समझौते के बाद भी यह भ्रम बढ़ता ही रहा—किन्हीं अभिमान-भरे भाषणों के कारण नहीं, बल्कि १९३० और बाद की घटनाओं के कारण। इसमें शक नहीं कि शायद कांग्रेस के नेताओं को ही सबसे ज्यादा यह पता था कि सामने क्या-क्या कठिनाइयां और खतरे आनेवाले हैं, इसलिए उनको मामूली न समझने की उन्होंने पूरी फिक्र रक्खी।

देश में बढ़नेवाली बराबर की दोहरी सत्ता के अस्तित्त्व का अस्पष्ट भान कुदरती तौर पर सरकार को बहुत ही चुभनेवाला था। असल में, इस धारणा के लिए कोई असली बुनियाद तो थी नहीं, क्योंकि दृश्य सत्ता तो सोलहों आने सरकारी अधिकारियों के हाथ में ही थी, फिर भी लोगों के दिमागों में दो समान सत्ताओं के अस्तित्व का भान था, इसमें तो शक ही नहीं है। सत्तावादी और अपरिवर्तनीय शासन-तंत्र के लिए तो यह स्थिति चलने देना असम्भव था और इसी विचित्र वातावरण से अधिकारी बेचैन हो गए, न कि गांवों क कुछ ऐसे-वैसे भाषणों या जुलूसों से, जिनकी कि उन्होंने बाद में शिकायत की। इसलिए संघर्ष होना लाजमी दीखने लगा। कांग्रेस अपनी खुशी से आत्मघात नहीं कर सकती थी और सरकार भी इस दुहरी सत्ता के वातावरण को बरदाश्त नहीं कर सकती थी और कांग्रेस को कुचल डालने पर तुली हुई थी। यह संघर्ष दूसरी गोलमेज कांफ्रेंस के कारण रुका रहा। किसी-न-किसी कारण से, ब्रिटिश-सरकार गांधीजी को लन्दन बुलाने को बहुत उत्सुक थी

और इसीसे जहां तक हो सके कोई भी ऐसा काम नहीं करती थी जिसमें उनका लन्दन जाना रुक जाय।

इतने पर भी संघर्ष की भावना बढ़ती ही गई और हमें दीखने लगा कि सरकार का रुख सख्त हो रहा है। दिल्ली के समझौते के बाद ही लार्ड अर्विन हिन्दुस्तान से चले गये और लार्ड विलिंगडन वाइसराय बनकर आये। यह खबर फैलने लगी कि नया वाइसराय बड़ा सख्त आदमी है और पिछले वाइसराय की तरह समझौते करनेवाला नहीं है। परिस्थिति की गतिविधि के कारण सरकार की नीति भी धीरे-धीरे बदलती गई। सिविल-सर्विस के उच्च-अधिकारियों को कांग्रेस के साथ समझौते या व्यवहार करने की बात पसंद नहीं थी। शासन के सम्बन्ध में उनकी सारी तालीम और सत्तावादी धारणाएं इसके खिलाफ थीं। उनके दिमाग में यह खयाल था कि उन्होंने गांधीजी के साथ बिलकुल बराबरी का-सा बरताव करके कांग्रेस के प्रभाव और गांधीजी के रुतबे को बढ़ा दिया है और यह वक्त है कि उनको थोड़ा-सा नीचा दिखाया जाय। यह खयाल बड़ी बेवकूफी का था, मगर हिन्दुस्तान की सिविल-सर्विस में विचारों की मौलिकता तो कभी मानी ही नहीं गई है। खैर, कुछ भी कारण हो, सरकार सख्ती से तन गई और उसने अपना पंजा और भी मजबूती से जमाया।

वाइसराय और दूसरे अधिकारयों से लम्बी-लम्बी बातचीत करने के लिए गांधीजी दो बार शिमला गये। उन्होंने उस समय के मौजूदा कई सवालों पर बातचीत की और बंगाल के अलावा, जो सरकार को सबसे ज्यादा चिंतित कर रहा मालूम पड़ता था, खासकर सीमा-प्रांत के लालकुर्ती-दल-आन्दोलन और युक्तप्रांत के किसानों की स्थिति इन दो विषयों पर बातचीत हुई।

शिमला में गांधीजी ने मुझे भी बुला लिया था और मुझे भारत-सरकार के कुछ अधिकारियों से मिलने के भी मौके मिले। मैं सिर्फ युक्तप्रांत के बारे में ही बातचीत करता था। बड़ी

साफ-साफ बातें हुईं और छोटे-छोटे आरोपों और प्रत्यारोपों की तह में जो असली संघर्ष की बातें छिपी हुई थीं, उनपर भी बहस हुई। मुझे याद है कि मुझसे कहा गया कि फरवरी १९३१ में ही सरकार की ऐसी स्थिति थी कि वह ज्यादा-से-ज्यादा तीन महीने के अन्दर सविनय-भंग के आंदोलन को दबा सकती थी। उसने अपना सारा यन्त्र तैयार कर लिया था और उसे चालू कर देने की, केवल बटन दबा देने भर की, आवश्यकता थी। मगर उसने यह सोचकर कि, अगर हो सके तो, बल-प्रयोग के बजाय आपस में मिलकर समझौता कर लेना शायद अच्छा होगा, आपसी बात-चीत करके देखना तय किया था, और इसीका नतीजा था कि दिल्ली का समझौता हो गया। अगर समझौता न हुआ होता तो बटन तो मौजूद था ही, जो पल-भर में दबाया जा सकता था और इसमें यह भी इशारा मालूम होता था कि अगर हमने ठीक बर्ताव न किया तो फिर जल्दी ही बटन दबा देना पड़ेगा। यह सारी बात बड़ी नम्रता से और साफ-साफ कही गई थी और हम दोनों ही जानते थे कि हमारे सारे प्रयत्नों के बावजूद और हम चाहे कुछ भी कहें या करें, संघर्ष होना तो लाजिमी था।

जहांतक गोलमेज-कांफ्रेंस में जाने का सवाल था, गांधीजी की पहली शिमला-यात्रा का कोई नतीजा न निकला। दूसरी यात्रा अगस्त के आखिरी हफ्ते में हुई। जाने या न जाने का आखिरी फैसला तो करना ही था, मगर फिर भी उन्हें हिन्दुस्तान छोड़ने का निश्चय करना मुश्किल हो गया। बंगाल में, सीमा-प्रांत में और युक्तप्रांत में उन्हें मुसीबत आती हुई दीख रही थी और जबतक उन्हें हिन्दुस्तान में शांति रहने का आश्वासन न मिल जाय, वह जाना नहीं चाहते थे। अन्त में एक तरह का सम-झौता सरकार के साथ हो गया, जो एक वक्तव्य और परस्पर के पत्र-व्यवहार के रूप में था। यह बिलकुल ही आखिरी घड़ी में किया गया, ताकि वह उस जहाज से जा सकें जिसमें गोलमेज-

कांफ्रेंस के प्रतिनिधि जा रहे थे। वास्तव में यह, एक तरह से बिलकुल ही आखिरी घड़ी में हुआ था, क्योंकि आखिरी ट्रेन छूट चुकी थी, शिमला से कालका तक एक स्पेशल ट्रेन तैयार कराई गई और कालका से छूटने वाली गाड़ी पकड़ने के लिए दूसरी गाड़ियां रोक दी गईं।

मैं उनके साथ शिमले से बम्बई तक गया और वहां अगस्त के एक सुन्दर प्रभात में मैंने उन्हें विदाई दी और वह अरब के समुद्र और सुदूर पश्चिम की तरफ बढ़ चले। अगले दो साल तक के लिए मेरे लिए उनके ये अंतिम दर्शन थे।

: ३३ :

दूसरी गोलमेज़-परिषद्

गांधीजी गोलमेज परिषद् में शामिल होने के लिए कांग्रेस के एक-मात्र प्रतिनिधि की हैसियत से लन्दन गये थे। बड़ी लम्बी बहस के बाद हम लोगों ने यही तय किया था कि किसी दूसरे प्रतिनिधि की जरूरत नहीं। यह बात कुछ हद तक तो इसलिए की गई कि हम यह चाहते थे कि हम ऐसे नाजुक वक्त में अपने सब अच्छे आदमियों को हिंदुस्तान में ही रक्खें। उन दिनों हालात को बहुत होशियारी के साथ सम्हालते रहने की सख्त जरूरत थी। हम लोग यह महसूस करते थे कि लन्दन में गोलमेज-कांफ्रेंस होने के बावजूद आकर्षण का केन्द्र तो हिन्दुस्तान में ही था और हिन्दुस्तान में जो कुछ होगा, लन्दन में उसकी प्रतिध्वनि जरूर होगी। हम चाहते थे कि अगर मुल्क में कोई गड़बड़ हो तो हम उसे देखें और अपने संगठन को ठीक हालत में बनाये रखें। लेकिन सिर्फ एक प्रतिनिधि भेजने का हमारा असली कारण यही न था। अगर हम वैसा करना जरूरी और मुनासिब समझते तो हम बिला-शक दूसर को भी भेज सकते थे; लेकिन हम लोगों ने जान-बूझकर

ऐसा नहीं किया।

हम गोलमेज-कांफ्रेंस में इसलिए शामिल नहीं हो रहे थे कि हम विधान-सम्बन्धी छोटी-मोटी बातों पर ऐसी बातें और बहस करें जिनका कभी खातमा ही न हो। उस अवस्था में हमें इन तफसीलों में कोई दिलचस्पी नहीं थी। उनपर तो तभी गौर किया जा सकता था जबकि खास-खास बुनियादी मामलों में ब्रिटिश सरकार के साथ हमारा कोई समझौता हो जाता। असली सवाल तो यह था कि लोकतन्त्रीय हिन्दुस्तान को कितनी ताकत सौंपी जाती है। यह बात तय हो जाने के बाद राजीनामे का मसविदा बनाने और उसकी तफसीलें तय करने का काम तो कोई भी वकील कर सकता था। इन मूल बातों पर कांग्रेस की स्थिति बहुत साफ और सीधी थी और उसपर बहस करने का भी ऐसा ज्यादा मौका न था। हम लोगों को यह मालूम होता था कि हम लोगों के लिए यही गौरवपूर्ण रास्ता है कि हमारा सिर्फ एक ही प्रतिनिधि जाय और वह प्रतिनिधि हमारा लीडर हो। वह वहां जाकर हमारी स्थिति साफ कर दे। यह बतावे कि हमारी स्थिति कितनी युक्ति-संगत है और किस तरह उसको मंजूर किये बिना गति नहीं है। अगर हो सके तो ब्रिटिश-सरकार को इस बात के लिए राजी करले कि वह कांग्रेस की बात मान ले। हम जानते थे कि यह बात तो बहुत मुश्किल है, और उस वक्त जैसी हालत थी उसको देखते हुए तो वह बिलकुल ही सम्भव नहीं थी; लेकिन हमारे पास भी तो इसके सिवाय कोई चारा न था। हम अपनी उस स्थिति को नहीं छोड़ सकते थे। न हम उन उसूलों और आदर्शों को ही छोड़ सकते थे जिनसे हम बंधे हुए थे और जिनमें हमें पूर्ण विश्वास था। अगर हमारी तकदीर अच्छी होती और इन बुनियादी बातों में राजीनामे की कोई सूरत निकल आती तो बाकी बातें अपने-आप आसानी से तय हो जातीं। बल्कि सच बात तो यह है कि हम लोगों में आपस में यह तय हो गया था कि अगर किसी तरह से ऐसा राजीनामा हो जाय तो गांधीजी हम कुछ को

या कार्य-समिति के तमाम मेम्बरों को फौरन लन्दन बुला लेंगे, जिससे कि हम वहां जाकर समझौते की तफसील तय करने का काम कर सकें। हम लोगों को वहाँ जाने के लिए तैयार रहना था और जरूरत पड़ती तो हम लोग हवाई जहाजों में उड़कर भी जाते। इस तरफ हम बुलाये जाने पर दस दिन के अन्दर उनके पास पहुँच सकते थे।

लेकिन अगर बुनियादी बातों में शुरू में कोई समझौता नहीं होता तो आगे और तफसील में, समझौते की बातें करने का सवाल ही नहीं पैदा होता। न कांग्रेस के दूसरे प्रतिनिधियों को गोलमेज-कांफ्रेंस में जाने की कोई जरूरत पड़ती। इसीलिए हमने सिर्फ गांधीजी को ही वहां भेजना तय किया। कार्य-समिति की एक और सदस्या श्रीमती सरोजिनी नायडू भी गोलमेज-कांफ्रेंस में शामिल हुईं, लेकिन वह वहां कांग्रेस की प्रतिनिधि होकर नहीं गई थीं। उनको तो वहां हिन्दुस्तानी स्त्रियों के प्रतिनिधि-स्वरूप बुलाया गया था और कार्य-समिति ने उन्हें इजाजत दी थी कि वह इस हैसियत से उस कांफ्रेंस में शामिल हो सकती हैं।

लेकिन ब्रिटिश सरकार का इस तरह का कोई इरादा न था कि इस मामले में वह हमारी मर्जी के मुताबिक काम करे। उसकी कार्य-पद्धति तो यह थी कि परिषद् गौण और बेमतलब की छोटी-छोटी बातों पर चर्चा करके थक जाय। तबतक मूल और असली सवालों पर विचार करने का काम टलता रहे। जब कभी बड़े-बड़े सवालों पर गौर भी हुआ तब सरकार ने चुप्पी साध ली। उसने हां या ना करने से साफ़ इनकार कर दिया और सिर्फ यह वादा किया कि सरकार अपनी राय बाद को अच्छी तरह सोच-विचार कर देगी। असल में उसके पास तुरुप का पत्ता तो था साम्प्रदायिक सवाल और उसका उसने पूरा-पूरा इस्तेमाल किया। कांफ्रेंस में इसी सवाल का बोलबाला था।

कांफ्रेंस के ज्यादातर हिन्दुस्तानी मेम्बर सरकार की इन

चालों के जाल में फँस गये। ज्यादा तो राजी-खुशी से और कुछ थोड़े-से मजबूरी से। कांफ्रेंस क्या थी, भानमती का पिटारा था। उसमें शायद ही कोई ऐसा हो जो अपने अलावा किसी दूसरे का प्रतिनिधि हो। कुछ आदमी काबिल थे और मुल्क में उनकी इज्जत भी थी; लेकिन बाकी बहुत-से लोगों की बाबत यह बात भी नहीं कही जा सकती थी। कुल मिलाकर राजनीतिक और सामाजिक दृष्टिकोण से वे हिन्दुस्तान में राजनीतिक उन्नति के सबसे ज्यादा विरोधी दलों के प्रतिनिधि थे। ये लोग इतने फिसड्डी और प्रगति-विरोधी थे कि हिन्दुस्तान के लिबरल, जो हिन्दुस्तान में बहुत ही माडरेट और फूंक-फूंककर कदम रखने-वाले माने जाते हैं,इनकी जमात में वही प्रगति के बड़े भारी हामी बनकर चमके। ये लोग हिन्दुस्तान में ऐसे स्थापित स्वार्थ रखने-वालों के प्रतिनिधि थे, जो ब्रिटिश साम्राज्यवाद से बंधे हुए थे और तरक्की और रखवाली के लिए उसीका भरोसा रखते थे। सबसे ज्यादा मशहूर प्रतिनिधि तो साम्प्रदायिक झगड़ों के सिल-सिले में जो 'छोटी' और 'बड़ी' जातियां थीं उनके थे। ये टोलियां उन उच्च वर्गवालों की थीं जो कुछ भी मानने को तैयार न थे और जो आपस में कभी मिल ही नहीं सकते थे। राजनीतिक दृष्टि से वे हर किस्म की प्रगति के एकदम विरोधी थे और उनकी दिल-चस्पी केवल एक बात में थी कि किसी तरह अपने फिरके के लिए कुछ फायदे की बात हासिल कर लें, फिर चाहे ऐसा करने में हमें अपनी राजनीतिक प्रगति को भी छोड़ना पड़े। बल्कि सच बात तो यह है कि उन्होंने खुल्लमखुल्ला यह एलान कर दिया था कि जबतक उनकी साम्प्रदायिक मांगें पूरी नहीं की जायंगी, तब-तक वे राजनीतिक आजादी लेने को राजी न होंगे। यह एक असा-धारण दृश्य था और उससे हमें बड़े दुःख के साथ यह बात साफ-साफ दिखाई देती थी कि एक गुलाम कौम किस हद तक गिर सकती है और वह साम्राज्यवादियों के खेल में किस तरह शत-रंज का मोहरा बन सकती है। यह सही था। राजा-महाराजाओं,

लार्डों, सरों और दूसरे बड़े-बड़े उपाधिधारी लोगों की उस भीड़ की बाबत यह नहीं कहा जा सकता कि वह हिन्दुस्तान के लोगों की प्रतिनिधि है। गोलमेज-कांफ्रेंस के मेम्बर ब्रिटिश-सरकार के नामजद थे और अपनी दृष्टि से सरकार ने जो चुनाव किया था वह बहुत अच्छा किया था। फिर भी महज यह बात कि ब्रिटिश-अधिकारी हम लोगों का ऐसा इस्तेमाल कर सकते हैं, यह दिखाती है कि हम लोगों में कितनी कमजोरियां हैं और हम लोग कैसी अजीब आसानी के साथ असली बातों से हटाकर एक-दूसरे की कोशिशों को बेकार करने के काम में लगाये जा सकते हैं।

यह तो ठीक ही था कि साम्राज्यवादी, सामंतवादी, व्यवसाय और धार्मिक तथा साम्प्रदायिक लोगों के स्थापित स्वार्थों के इस समाज में ब्रिटिश भारतीय प्रतिनिधि-मंडल का नेतृत्व हमेशा के मुताबिक सर आगाखां के हाथ में रहे; क्योंकि वह कुछ हद तक इन सब स्वार्थों से स्वयं संपन्न थे। कोई एक पुश्त से ज्यादा ब्रिटिश साम्राज्यवाद से और ब्रिटिश शासक श्रेणी से उनका बहुत नजदीकी सम्बन्ध रहा। वह ज्यादातर इंग्लैंड में ही रहते हैं। इसलिए वे हमारे शासकों के स्वार्थों और उनके दृष्टिकोण को पूरी तरह समझ सकते हैं और उनका प्रतिनिधित्व कर सकते हैं। उस गोलमेज-कांफ्रेंस में साम्राज्यवादी इंग्लैंड के वह बहुत योग्य प्रतिनिधि हो सकते थे; लेकिन आश्चर्य तो यह था कि वह हिन्दुस्तान के प्रतिनिधि समझे जाते थे!

कांफ्रेंस में हमारे खिलाफ पलड़ा बुरी तरह से भारी था और यद्यपि हमें उससे कभी कोई उम्मीद न थी, फिर भी उसकी कार्रवाइयों को पढ़-पढ़कर हमें हैरत होती थी और दिन-दिन उससे हमारा जी ऊबता जाता था। हमने देखा कि राष्ट्रीय और आर्थिक समस्याओं की सतह को खरोंचने की कैसी दयनीय और वाहियात ढंग से मामूली कोशिश की जा रही है! कैसे-कैसे पैक्ट और कैसी-कैसी साजिशें हो रही हैं! कैसी-कैसी चालें चली जा रही हैं!

हमारे ही कुछ देशभाई ब्रिटिश अनुदार दल के सबसे ज्यादा प्रति-गामी लोगों से मिल गये हैं। टुच्चे-टुच्चे मामलों पर बातें चलती थीं और सो भी खत्म ही न होती थीं, जो असली बातें हैं उनको जानबूझ कर टाला जा रहा है। ये प्रतिनिधि बड़े-बड़े स्थापित स्वार्थों के और खासकर ब्रिटिश साम्राज्यवाद के हाथ की कठ-पुतली बने हुए हैं। वे कभी तो आपस में लड़ते-झगड़ते हैं और कभी एक साथ बैठकर दावतें खाते तथा एक-दूसरे की तारीफ करते हैं। शुरू से लेकर अखीर तक सब मामला नौकरियों का था। छोटे ओहदे, हिंदुओं के लिए कितनी नौकरियां और कुर्सियां तथा सिक्खों और मुसलमानों के लिए कितनी ? और एंग्लो-इंडियनों तथा यूरोपियनों के लिए कितनी ? लेकिन ये सब ओहदे ऊँचे दरजे के अमीर लोगों के लिए थे, जन-साधारण के लिए उनमें कुछ न था। कोई यह नहीं सोचता था कि हिन्दुस्तान के लिए आजादी की, असली स्वतन्त्रता की, भारत को लोकतन्त्री सत्ता सौंपे जाने की, हिन्दुस्तान के लोगों के सामने जो भारी और जरूरी आर्थिक समस्याएं मौजूद हैं उनके हल करने की भी कोई जरूरत है ? क्या इसीके लिए हिन्दुस्तान में इतनी मर्दानगी से लड़ाई लड़ी गई थी ? क्या हम सुन्दर आदर्शवाद और त्याग की दुर्लभ मलय-समीर को छोड़कर इस गन्दी हवा को ग्रहण करेंगे ?

उस राजसी महल में और इतने विभिन्न लोगों की भीड़ में गांधीजी बिलकुल अकेले मालूम होते थे। उनकी पोशाक से, या उनकी कोई पोशाक ही न होने की वजह से, बाकी सब लोगों में उन्हें आसानी से पहचाना जा सकता था। लेकिन उनके आसपास अच्छे सजे-धजे लोगों की जो भीड़ बैठी हुई थी उसके विचार और दृष्टिकोण में तथा गांधीजी के विचारों और उनके दृष्टि-बिन्दु में और भी ज्यादा फर्क था। उस कांफ्रेंस में उनकी स्थिति बहुत ही मुश्किल थी। इतनी दूर बैठे-बैठे हम इस बात पर अचरज करते थे कि वह इसे कैसे बरदाश्त कर रहे हैं ? लेकिन आश्चर्य-

जनक धीरज के साथ वह अपना काम करते रहे और समझौते की कोई-न-कोई बुनियाद ढूँढने के लिए उन्होंने कई कोशिशें कीं। एक विलक्षण बात उन्होंने ऐसी की, जिसने फौरन यह दिखला दिया कि किस तरह साम्प्रदायिक भाव ने दरअसल राजनैतिक प्रतिगामिता को अपनी ओट में छिपा रखा था। मुसलमान प्रतिनिधियों की तरफ से कांफ्रेंस में जो साम्प्रदायिक मांगें पेश की गई थीं, उनको गांधीजी पसन्द नहीं करते थे। उनका खयाल था और उनके साथी कुछ राष्ट्रीय विचार के मुसलमानों का भी यही खयाल था कि इनमें से कुछ मांगें तो आजादी और लोक-तंत्र के रास्ते में रोड़ा अटकाने वाली हैं। लेकिन फिर भी उन्होंने कहा कि मैं इन सब मांगों को 'बिना किसी एतराज के मानने को तैयार हूं, बशर्ते कि मुसलमान-प्रतिनिधि राजनीतिक मांग यानी आजादी के मामले में मेरा तथा कांग्रेस का साथ दें।'

उनका यह प्रस्ताव खुद अपनी तरफ से था, क्योंकि उनकी जैसी हालत थी, उसमें कांग्रेस को वह किसी बात से नहीं बांध सकते थे। लेकिन उन्होंने वादा किया कि मैं कांग्रेस में इस बात के लिए जोर दूंगा कि ये मांगें मान ली जायं। और कोई भी शख्स जो कांग्रेस में उनके असर को जानता था, इस बात में किसी तरह का शक नहीं कर सकता था कि वह कांग्रेस से उन मांगों को मनवाने में कामयाबी हासिल कर सकते थे; लेकिन मुसलमानों ने गांधीजी के इस प्रस्ताव को मंजूर नहीं किया। सचमुच इस बात की कल्पना करना जरा मुश्किल है कि आगाखां साहब हिन्दुस्तान की आजादी के हामी हो जायंगे। लेकिन इससे इतनी बात साफ-साफ दिखाई दे गई कि असली झगड़ा साम्प्रदायिक नहीं था, यद्यपि कांफ्रेंस में साम्प्रदायिक प्रश्न की ही धूम थी। असल में तो राज-नैतिक प्रतिगामिता ही सब तरह की तरक्की के रास्ते को रोक रही थी और वही साम्प्रदायिक प्रश्न की आड़ में छिपी हुई टट्टी की ओट में शिकार करती रही। कांफ्रेंस के लिए अपने नामजद

प्रतिनिधियों का चुनाव बड़ी चालाकी से करके ब्रिटिश सरकार ने इन उन्नति-विरोधी लोगों को वहां जमा किया था और कांफ्रेंस की कार्रवाई की गतिविधि अपने हाथ में रखकर उसने साम्प्रदायिक सवाल को मुख्य और एक ऐसा सवाल बना दिया था, जिसपर आपस में कभी न मिल सकने वाले वहांपर इकट्ठे हुए लोगों में कभी कोई समझौता हो ही नहीं सकता था।

इस कोशिश में ब्रिटिश-सरकार को कामयाबी मिली और इस कामयाबी से उसने यह साबित कर दिया कि अभीतक उसमें न सिर्फ अपने साम्राज्य को कायम रखने की बाहरी ताकत ही है; बल्कि कुछ दिनों तक और साम्राज्यवादी परम्परा को चला ले जाने के लिए चालाकी और कूटनीति भी उसके पास है। हिन्दुस्तान के लोग नाकामयाब रहे, यद्यपि गोलमेज-कांफ्रेंस न तो उनकी प्रतिनिधि ही थी और न उसकी ताकत से हिन्दुस्तान के लोगों की ताकत का अन्दाजा ही लगाया जा सकता था। उनके नाकामयाब होने की खास वजह यह थी कि उनक पास उनके उद्देश्य के पीछे कोई विचार-धारा न थी, इसलिए उन्हें आसानी से अपनी असली जगह से हटाया तथा गुमराह किया जा सकता था। वे इसलिए असफल हुए कि वे अपने में इतनी ताकत नहीं महसूस करते थे कि वे उन स्थापित स्वार्थ रखनेवालों को धता बता दें, जो उनकी तरक्की के लिए भार-स्वरूप बने हुए थे। वे असफल रहे, क्योंकि उनमें मजहबीपन की अति थी और उनके साम्प्रदायिक भाव आसानी से भड़काये जा सकते थे। थोड़े में, वे इसलिए असफल हुए कि अभीतक वे इतने आगे नहीं बढ़े हुए थे, न इतने मजबूत ही थे, कि कामयाब होते।

वह कांफ्रेंस, जहां साजिशों, मौकापरस्ती और जालसाजियों का बोलबाला था, हिन्दुस्तान की विफलता नहीं कहला सकती। वह तो बनाई ही ऐसी गई थी, जिससे असफल होती।

उसकी नाकामयाबी का कुसूर हिन्दुस्तान के लोगों के मत्थे नहीं मढ़ा जा सकता। लेकिन उसे इस बात में जरूर सफलता मिली कि उसने हिन्दुस्तान के असली सवालों से दुनिया का ध्यान हटा दिया और खुद हिन्दुस्तान में उसकी वजह से लोगों की आँखें खुल गईं, उनका उत्साह मर गया तथा उन्होंने उससे अपनी जिल्लत-सी महसूस की। उसने प्रतिगामी लोगों को फिर अपना सिर उठाने का मौका दे दिया।

हिन्दुस्तान के लोगों के लिए तो सफलता या असफलता खुद हिन्दुस्तान में होनेवाली घटनाओं से हो सकती थी। हिन्दुस्तान में जो मजबूत राष्ट्रीय आन्दोलन चल रहा था, वह लन्दन में होनेवाली चालबाजियों से ठण्डा नहीं पड़ सकता था। राष्ट्रीयता मध्यमवर्ग के लोगों और किसानों की असली और तात्कालिक जरूरतों को दिखलाती थी। उसीके जरिये वे अपने मसलों को हल करना चाहते थे, इसलिए उस आन्दोलन की दो ही सूरतें हो सकती थीं——एक तो यह कि वह कामयाब होता, अपना काम पूरा करता और किसी ऐसे दूसरे आन्दोलन के लिए जगह खाली कर देता, जो लोगों को प्रगति और आजादी की सड़क पर और भी आगे ले जाता; दूसरी यह कि कुछ वक्त के लिए उसे जबरदस्ती दबा दिया जाता। असल में कांफ्रेंस के बाद फौरन हिन्दुस्तान में लड़ाई छिड़ने को और कुछ वक्त के लिए बेबसी से खतम हो जाने को थी। दूसरी गोलमेज-कांफ्रेंस का इस लड़ाई पर कोई ऐसा ज्यादा असर नहीं पड़ सका; पर उसने कुछ हद तक हमारी लड़ाई के खिलाफ वातावरण जरूर बना दिया।

: ३४ :

सुलह का खात्मा

नवम्बर १९३१ में मैं कुछ दिनों के लिए कलकत्ता गया।

वहां मेरा कार्यक्रम बहुत भरा-पूरा रहा और निजी तौर पर लोगों और समूहों से मिलने के अलावा मैंने कई सार्वजनिक सभाओं में भाषण भी दिये। इन सब सभाओं में मैंने आतंकवाद के प्रश्न पर भी चर्चा की और यह बताने की कोशिश की कि हिन्दुस्तान की आजादी के लिए वह कितना गलत, बेकार और हानिकारक है। मैंने आतंकवादियों को बुरा नहीं कहा, न मैंने अपने कुछ ऐसे देशवासियों की तरह उन्हें 'कायर' ही कहा, जिन्होंने शायद ही कभी पराक्रम या खतरे का कोई काम करने का साहस किया हो। मुझे हमेशा यह बड़ी बेवकूफी की बात मालूम हुई है कि ऐसे स्त्री या पुरुष को, जो लगातार अपनी जान को हथेली पर लिये रहता है, 'कायर' कहा जाय। इसका असर उस आदमी पर यह होता है कि वह अपने डरपोक समालोचकों को, जो दूर खड़े रहकर ही चिल्लाते हैं लेकिन कर कुछ भी नहीं सकते, तिरस्कार की निगाह से देखने लगता है।

कलकत्ते से रवाना होने के लिए स्टेशन पर जाने से थोड़ी देर पहले वहां शाम को मेरे पास दो युवक आए। वे बहुत ही कम उम्र के, करीब बीस-बीस साल के, नौजवान थे। उनके चेहरे फीके थे और उनपर घबराहट झलक रही थी। उनकी आँखें चमकदार थीं। मुझे मालूम नहीं कि वे कौन थे, लेकिन मैं अटकल से समझ गया कि उनका काम क्या था। वे मेरे आतंकवादी हिंसा के विरुद्ध प्रचार करने के कारण मुझपर बहुत गुस्सा थे। उन्होंने कहा कि उससे नवयुवकों पर बहुत बुरा असर पड़ रहा है और इस तरह मेरा हस्तक्षेप करना वे पसन्द नहीं करते हैं। हमने थोड़ी-सी बहस भी की, लेकिन वह बड़ी जल्दी-जल्दी में हुई, क्योंकि मेरे रवाना होने का समय आ रहा था। मेरा खयाल है कि उस समय हमारी आवाज तेज और हमारा मिजाज कुछ गरम हो गया था। मैंने उनसे कुछ कड़ी बातें भी कह दी थीं और जब मैं उन्हें वहीं छोड़कर चलने लगा, तो उन्होंने मुझे अन्तिम चेतावनी दी

कि "अगर आगे भी आपका यही रुख रहा तो हम आपके साथ भी वही बर्ताव करेंगे जैसा कि हमने दूसरों के साथ किया है।"

मैं कलकत्ता से चल तो दिया,मगर रात को गाड़ी में अपनी बर्थ पर लेटे-लेटे मेरे दिमाग में उन्हीं दोनों लड़कों के उत्तेजित चेहरे बहुत देर तक चक्कर काटते रहे। उनमें जीवन और जोश भरा हुआ था। अगर वे ठीक रास्ते पर लग जाते तो कितने अच्छे बन सकते थे। मुझे दुःख हुआ कि मैंने उनके साथ जल्दी-जल्दी में बातें कीं और कुछ रूखा व्यवहार किया। काश ! मुझे लम्बी बात-चीत करने का मौका मिलता। शायद मैं उन्हें दूसरी दिशाओं में, हिन्दुस्तान की सेवा और आजादी के रास्ते में, जिसमें कि साहस और आत्म-त्याग के मौकों की कमी न थी, अपने होनहार जीवन को लगाने की बात सुझा सकता। उस घटना के बाद भी मैं अक्सर उन लोगों का विचार किया करता हूं। मुझे उनके नाम मालूम न हो सके, और न उनका मुझे बाद में भी कुछ पता लगा। मैं कई बार सोचता हूं कि न जाने वे मर चुके हैं या अण्डमन के टापुओं की किन्हीं कोठरियों में बन्द हैं।

दिसम्बर का महीना था। इलाहाबाद में दूसरी किसान-कांफ्रेंस हुई, और फिर मैं हिन्दुस्तानी-सेवा-दल के अपने पुराने साथी डाक्टर एन० एस० हार्डिकर को दिये अपने पिछले वादे को पूरा करने के लिए जल्दी में कर्नाटक गया। सेवा-दल राष्ट्रीय आन्दोलन का एक अंग था। वह हमेशा कांग्रेस का सहायक रहा, यद्यपि उसका संगठन बिलकुल अलग ही था। लेकिन १९३१ की गरमियों में कार्य समिति ने उसे बिलकुल कांग्रेस में शामिल करने और उसे कांग्रेस का ही स्वयंसेवक-विभाग बना लेने का निश्चय कर लिया। ऐसा हो भी गया, और वह विभाग हार्डिकर को और मुझे सौंपा गया। दल का हेडक्वार्टर हुबली (कर्नाटक) शहर में ही रहा और हार्डिकर ने मुझे दल-सम्बन्धी कई कामों के लिए वहां बुलाया था। वहां से वह मझे कुछ दिन के लिए कर्नाटक में दौरा

करने को ले गये। वहां सब जगह लोगों में जबरदस्त जोश देखकर मैं दंग रह गया। लौटते हुए मैं शोलापुर भी गया, जिसका नाम फौजी कानून (मार्शल लॉ) के दिनों में मशहूर हो चुका था।

कर्नाटक के उस दौरे ने मेरे लिए विदाई के समारोह का रूप धारण कर लिया। मेरे भाषण विदाई के गीत-जैसे लगते थे; लेकिन उनमें संगीत की बजाय लड़ाई का सुर था। युक्तप्रान्त से जो खबर मिली वह निश्चित और स्पष्ट थी। सरकार ने वार कर दिया था और सख्त वार किया था। इलाहाबाद से कर्नाटक जाते हुए मैं कमला के साथ बम्बई गया था। वह फिर बीमार हो गई थी। मैंने बम्बई में उसके इलाज की व्यवस्था कर दी। बम्बई में ही, और लगभग हमारे इलाहाबाद से वहां पहुंचने के बाद ही, हमें यह पता लगा कि भारत सरकार ने युक्तप्रान्त के लिए एक खास 'आर्डिनेन्स' निकाल दिया है। सरकार ने निश्चय कर लिया था कि वह गांधीजी के आने की बाट न देखेगी, हालांकि गांधीजी जहाज पर चल दिये थे और जल्दी ही बम्बई आ जाने वाले थे। कहने को तो यह आर्डिनेन्स किसानों के आन्दोलन के ही लिए निकाला गया था; लेकिन वह इतना ज्यादा विस्तृत था कि इससे हर प्रकार की राजनीतिक या सार्वजनिक प्रवृत्ति असम्भव हो गई। उसमें बच्चों या नाबालिगों के अपराधों के लिए माता-पिताओं या संरक्षकों को सजा देने का विधान भी किया गया।

मैं इलाहाबाद वापस जाने और कर्नाटक का दौरा बन्द कर देने को उत्सुक था। मुझे लगा कि मुझे तो अपने सूबे में अपने साथियों के साथ रहना चाहिए और जब अपने घर-आंगन में इतनी घटनाएं हो रही हों, तब उनसे बहुत दूर रहना मेरे लिए एक कठोर परीक्षा ही थी। फिर भी मैंने निश्चय किया कि मैं कर्नाटक के कार्यक्रम को पूरा ही कर डालूं। मेरे बम्बई आने पर कुछ मित्रों ने मुझे सलाह दी कि मैं गांधीजी की वापसी तक ठहरा रहूं। वे एक ही सप्ताह बाद आने वाले थे। मगर यह असंभव था। इलाहाबाद

से पुरुषोत्तमदास टंडन और दूसरे लोगों की गिरफ्तारी की खबर आई। इसके अलावा हमारी प्रान्तीय कांफ्रेंस भी इटावा में उसी हफ्ते में होनेवाली थी। इसलिए मैंने तय किया कि मैं पहले इलाहाबाद जाऊं और फिर एक हफ्ते बाद, अगर आजाद रहा तो, गांधीजी से मिलने और कार्य-समिति की बैठक में सम्मिलित होने को बम्बई लौट आऊं। कमला को मैंने रोग-शय्या पर बम्बई में ही छोड़ा।

मुझे इलाहाबाद पहुंचने से पहले ही, छिउंकी स्टेशन पर नए आर्डिनेन्स के अनुसार एक हुक्म मिला। इलाहाबाद स्टेशन पर उसी हुक्म की दूसरी नकल मुझे देने की कोशिश की गई और मेरे मकान पर भी एक तीसरे व्यक्ति ने ऐसा ही तीसरा प्रयत्न किया। जाहिर था कि सरकार कोई भी जोखिम उठाना नहीं चाहती थी। उस हुक्म के मुताबिक मैं इलाहाबाद म्युनिसिपल हद के अन्दर नजरबन्द कर दिया गया और मुझसे कहा गया कि मुझे किसी भी सार्वजनिक सभा या समारोह में शामिल नहीं होना चाहिए, किसी सभा में भाषण न करना चाहिए। किसी अखबार, पत्रिका या पर्चे में कोई लेख नहीं लिखना चाहिए। और भी कई पाबन्दियां लगा दी गई थीं। मुझे मालूम हुआ कि मेरे साथियों के नाम भी, जिनमें तसद्दुक अहमदखां शेरवानी भी थे, इसी प्रकार के हुक्म जारी किये गए थे। दूसरे दिन सवेरे ही मैंने जिला-मैजिस्ट्रेट को, जिसने हुक्म जारी किये थे, लिख दिया कि मुझे क्या करना चाहिए या क्या न करना चाहिए, इसकी बाबत मैं आपसे हुक्म लेना नहीं चाहता; मैं अपना साधारण काम साधारण रूप से करूंगा और अपने काम के सिलसिले में इस हफ्ते मैं गांधीजी से मिलने और कार्य-समिति की, जिसका मैं सेक्रेटरी हूं, बैठक में शरीक होने बम्बई जानेवाला हूं।

एक नई समस्या भी हमारे सामने खड़ी हो गई। हमारी युक्तप्रान्तीय-कांफ्रेंस इसी हफ्ते इटावा में होनेवाली थी। बम्बई

से मैं इस कांफ्रेंस को स्थगित करवाने की तजवीज पेश करने के इरादे से आया था, क्योंकि एक तो वह गांधीजी के आने के दिनों में ही होनेवाली थी और दूसरे सरकार से अभी संघर्ष भी टालना था। लेकिन मेरे इलाहाबाद आने से पहले ही यू० पी० सरकार की तरफ से हमारे प्रधान शेरवानी साहब के पास एक ताकीदी खत आया था, जिसमें पूछा गया था कि क्या आपकी कांफ्रेंस में किसानों की समस्या पर भी विचार किया जायगा ? क्योंकि अगर ऐसा होनेवाला हो तो सरकार कांफ्रेंस को ही बन्द कर देगी। यह तो साफ जाहिर था कि कांफ्रेंस का खास उद्देश्य किसानों की समस्या पर विचार करना था, जिससे कि सारे प्रान्त में खलबली मच रही थी। कांफ्रेंस करना और उसमें इस सवाल पर गौर न करना तो मूर्खता की हद थी और अपने-आप की हँसी कराना ही था। कुछ भी हो, हमारे प्रधान को या और किसीको भी यह अख्तियार न था कि वह कांफ्रेंस को किसी बात के लिए पहले से बांध दे। सरकार की धमकी के बिना भी हम कुछ लोगों का तो यह इरादा था ही कि कांफ्रेंस स्थगित की जाय, मगर इस धमकी से तो बात ही और हो गई। हम से कई लोग तो ऐसे मामलों में कुछ-कुछ आग्रही थे और सरकार द्वारा हमें ऐसा हुक्म दिया जाना किसीको अच्छा न लगा। फिर भी बड़ी बहस के बाद, हमने तय कर लिया कि इस वक्त अपने स्वाभिमान को पी जाना चाहिए और कांफ्रेंस को स्थगित कर देना चाहिए। हमने यह फैसला इसलिए किया कि हम गांधीजी के आने तक लड़ाई को, जो शुरु तो हो ही चुकी थीं, किसी भी हालत में ज्यादा बढ़ाना नहीं चाहते थे। हम उन्हें ऐसी परिस्थिति के अन्दर नहीं डाल देना चाहते थे, जिसमें वह बागडोर अपने हाथ में न ले सकें। हमारे प्रान्तीय कांफ्रेंस को स्थगित कर देने पर भी इटावा में पुलिस और फौज का खूब प्रदर्शन किया गया, कुछ, भूले-भटके प्रतिनिधि, जो वहां पहुंच गये थे, गिरफ्तार कर लिये गए और वहां लगी स्वदेशी प्रदर्शनी पर फौज ने कब्जा कर लिया।

शेरवानी ने और मैंने २६ दिसम्बर की सुबह को इलाहाबाद से बम्बई रवाना होना तय किया। शेरवानी को कार्य-समिति की मीटिंग में यू० पी० की स्थिति पर विचार करने के लिए खास तौर पर बुलावा दिया गया था। हम दोनों को ही आर्डिनेन्स के मुताबिक यह हुक्म मिल चुके थे कि हम इलाहाबाद शहर न छोड़ें। कहा गया था कि आर्डिनेन्स यू० पी० के इलाहाबाद और दूसरे जिलों में लगानबन्दी की हलचलों के खिलाफ जारी किया गया है। यह समझना तो सरल था ही कि सरकार को हमारा इन देहाती हिस्सों में जाना बन्द करना ही चाहिए। मगर यह भी साफ था कि हम बम्बई शहर में जाकर किसानों का आन्दोलन नहीं चला सकते थे और अगर वास्तव में आर्डिनेन्स किसानों की परिस्थिति का मुकाबला करने के लिए ही जारी किया गया था तो हमारे प्रान्त से दूर चले जाने का तो स्वागत ही किया जाना चाहिए था। आर्डिनेन्स जारी हो जाने के समय से हमारी आम नीति उससे बचते रहने की ही रही और हम संघर्ष को टालते ही रहे, हालांकि बाज-बाज लोगों ने हुक्म-उदूली कर दी थी। जहां तक यू० पी० कांग्रेस का सम्बन्ध था, यह बात साफ थी कि वह, कम-से-कम फिलहाल सरकार से लड़ाई करने से बचना या उसे टालना ही चाहती थी। शेरवानी और मैं बम्बई जा रहे थे, जहां कि गांधीजी और कार्य-समिति इन मामलों पर गौर करती और यह किसीको मालूम नहीं था, और मुझे तो बिलकुल ही निश्चय नहीं था कि उनके आखिरी फैसले क्या होते।

इन सब विचारों से मुझे खयाल होता था कि हमें बम्बई जाने दिया जायगा, और कम-से-कम उस समय के लिए ही सही, हमारी शहर की नजरबन्दी के कानूनी आज्ञा-भंग को सरकार सह लेगी। लेकिन मेरा दिल कुछ और ही कह रहा था।

ज्योंही हम रेल में बैठे, हमने सवेरे के अखबारों में नए सीमा-प्रान्तीय आर्डिनेन्स और अब्दुलगफ्फार खां तथा डाक्टर खान-

साहब की गिरफ्तारी का हाल पढ़ा। बहुत जल्दी ही हमारी बम्बई-मेल, रास्ते के एक छोटे-से स्टेशन इरादतगंज पर, जहां आमतौर पर वह नहीं ठहरा करती थी, अचानक ठहर गई और हमें गिरफ्तार करने के लिए पुलिस अफसर आ गए। रेलवे लाइन के पास ही एक 'ब्लेक मैरिया' (जेल की मोटर) खड़ी थी, और कैदियों की इस लारी में मैं और शेरवानी दाखिल हुए। वह तेजी से चली और हम नैनी-जेल में जा पहुंचे। वह 'बाक्सिग दिवस' का प्रातःकाल था और वह पुलिस सुपरिंटेण्डेण्ट—जो हमें गिरफ्तार करने आया था, अंग्रेज था—दुखी और उदास दिखाई दिया। मुझे दुःख है कि हमने उसका क्रिसमस त्यौहार बिगाड़ दिया था।

और इस तरह हम जेल में आ पहुंचे—

'एक घड़ी भर तू सारा आह्लाद भुला दे;
और, वेदना में ही अब कुछ काल बिता दे।'

: ३५ :

गिरफ्तारियां, आर्डिनेंस और जब्तियां

हमारी गिरफ्तारी के दो दिन बाद ही गांधीजी बम्बई में उतरे और तभी उन्हें यहां की नई और ताजी घटनाओं का हाल मालूम हुआ। उन्होंने लन्दन में ही बंगाल-आर्डिनेन्स की खबर सुन ली थी और वह उससे बहुत दुखी हुए थे। अब उन्हें मालूम हुआ कि उनके लिए यू० पी० और सीमा-प्रान्तीय आर्डिनेन्सों के रूप में बड़े दिन की भेंट तैयार थी और सीमाप्रान्त और यू० पी० में उनके कुछ सबसे घनिष्ट साथी गिरफ्तार हो चुके थे। अब तो पासा पड़ चुका दीखता था और शान्ति की सारी आशा मिट चुकी थी, फिर भी उन्होंने रास्ता ढूंढने की कोशिश की और इसके लिए वाइसराय

---

[1] शेक्सपियर के अंग्रेजी पद्य का भावानुवाद।

लार्ड विलिंग्डन से मुलाकात चाही। उन्हें नई दिल्ली से बताया गया कि मुलाकात कुछ खास शर्तों पर ही हो सकेगी। वे शर्तें ये थीं कि वह बंगाल, युक्तप्रान्त और सीमाप्रान्त की ताजी घटनाओं और नए आर्डिनेन्सों और उनके मुताबिक हुई गिरफ्तारियों के बारे में बातचीत न करें (यह बात मैं अपनी याद से लिख रहा हूं, क्योंकि मेरे सामने वाइसराय के जवाब की नकल नहीं है)। यह समझ में नहीं आता कि सरकार इन विषयों के अलावा, जो कि देश में खलबली मचा रहे थे और जिनपर बात करने का निषेध कर दिया था, और किन विषयों पर गांधीजी या कांग्रेस के अन्य किसी नेता से बातचीत करने की आशा करती थी। अब यह बिलकुल साफ प्रकट हो गया कि भारत सरकार ने कांग्रेस को कुचल डालने का निश्चय कर लिया है और वह उससे कोई नाता नहीं रखना चाहती। कार्य-समिति के पास सविनय-आज्ञा-भंग फिर चालू कर देने के सिवा और कोई रास्ता न रहा। कार्य-समिति-वालों को किसी भी समय अपने गिरफ्तार हो जाने की आशंका हो गई थी और बरबस विदा होने के पहले वे देश का आगे के लिए मार्ग-प्रदर्शन कर देना चाहते थे, इसी दृष्टि से अस्थायी तौर पर सविनय-भंग का प्रस्ताव पास किया गया और गांधीजी ने वाइसराय से मुलाकात करने की दुबारा कोशिश की। उन्होंने वाइसराय को बिना शर्त के मुलाकात देने के लिए तार दिया। सरकार का जवाब गांधीजी और कांग्रेस के सभापति सरदार पटेल की गिरफ्तारी के रूप में मिला और साथ ही वह बटन भी दबा दिया गया, जिससे सारे देश में भयंकर दमन का दौर शुरू हो गया। यह तो स्पष्ट ही था कि चाहे दूसरा कोई लड़ाई चाहता हो या न चाहता हो; लेकिन सरकार तो लड़ाई के लिए बेचैन थी और पहले से ही जरूरत से ज्यादा तैयार बैठी थी।

४ जनवरी सन १९३२ एक महत्त्वपूर्ण दिन था। उसने बातचीत और बहस का अन्त कर दिया। उस दिन सवेरे ही गांधीजी

और कांग्रेस के अध्यक्ष वल्लभभाई गिरफ्तार कर लिये गए और बिना मुकदमा चलाये, राजबन्दी बना लिये गए। चार नए आर्डिनेन्स जारी कर दिये गए, जिनके द्वारा मैजिस्ट्रेटों और पुलिस-अफसरों को व्यापक-से-व्यापक अधिकार मिल गए। नागरिक स्वतन्त्रता की हस्ती मिट गई और जन और धन दोनों पर ही अधिकारी चाहे जब कब्जा कर सकते थे। सारे देश पर मानों घेरा डाल लेने की हालत की घोषणा कर दी गई और इसको किस-किस पर और कितना-कितना लागू किया जाय; यह स्थानीय अफसरों की मर्जी पर छोड़ दिया गया।[1]

४ जनवरी को ही नैनी जेल में यू० पी० इमर्जेंसी पावर्स आर्डिनेन्स के मुताबिक हमारा मुकदमा हुआ। शेरवानी को छः महीने की सख्त कैद और १५० रुपये जुर्माने की सजा हुई, मुझे दो साल की सख्त कैद और ५०० रुपये जुर्माने (या बदले में छः महीने की कैद और) की सजा दी गई। दोनों के अपराध बिलकुल एक-से थे। हम दोनों को इलाहाबाद शहर में नजरबन्दी के एक-से हुक्म दिये गये थे। हम दोनों ने ही बम्बई जाने की कोशिश करके उस हुक्म को एक ही तरह से भंग किया था। हम दोनों को एक ही धारा में गिरफ्तार किया गया और दोनों का एक साथ ही मुकदमा चला। फिर भी हमारी सजाओं में बड़ा अन्तर था। सजा सुनाने के बाद ही शेरवानी ने मैजिस्ट्रेट से पूछा कि मुसलमान होने के खयाल से तो मुझे कम सजा नहीं दी गई है? उनके इस सवाल से वहां उपस्थित लोगों को बड़ी हंसी आई और मैजिस्ट्रेट कुछ परेशानी में पड़ गया।

उस स्मरणीय दिन, ४ जनवरी को, देश-भर में बहुत-सी घट-

---

[1]भारत-मंत्री सर सैम्युअल होर ने २४ मार्च १९३२ को कामन-सभा में कहा था कि, "मैं मंजूर करता हूं कि जिन आर्डिनेंसों का हमने समर्थन कर दिया है वे बड़े व्यापक और सख्त हैं; वे हिन्दुस्तान के जीवन की लगभग हरेक प्रवृत्ति पर असर डालते हैं।"

नाएं हुईं। इलाहाबाद शहर में हमारे स्थान के पास ही, बड़ी बड़ी भीड़ों की पुलिस और फौज से मुठभेड़ हो गई और सदा की भांति लाठी-प्रहार हुए, जिसमें कुछ लोग मरे और कुछ घायल हुए। सविनय आज्ञा-भंग के कैदियों से जेलें भरने लगीं। पहले तो ये कैदी जिला-जेलों में भेजे जाते और जब वहां जगह न रहती तभी नैनी आदि सेण्ट्रल जेलों में आते थे। बाद में सभी जेलें भर गईं और बड़ी-बड़ी अस्थाई कैम्प-जेलें कायम करनी पड़ीं।

कांग्रेस, जिसमें सबसे ऊपर कार्य-समिति और फिर प्रान्तीय कमेटियां और अनगिनती स्थानिक कमेटियां शामिल थीं, गैर-कानूनी घोषित कर दी गई थी। कांग्रेस के साथ-साथ सब तरह से सम्बन्धित या सहानुभूति रखनेवाले या गतिशील संगठन——जैसे, किसान-सभाएं, किसान-संघ, युवक-संघ, विद्यार्थी-मण्डल, गतिशील राजनैतिक संगठन, राष्ट्रीय विश्वविद्यालय और स्कूल, अस्पताल, स्वदेशी दुकानें, पुस्तकालय आदि भी——गैर-कानूनी करार दे दिये गए। इनकी सूचियां बड़ी लम्बी-लम्बी थीं, प्रत्येक बड़े प्रान्त के सैकड़ों नाम इनमें शामिल थे, सारे हिन्दुस्तान का जोड़ कई हजार तक पहुंच गया होगा। इन गैर-कानूनी-घोषित संस्थाओं की यह संख्या ही मानो कांग्रेस और राष्ट्रीय आन्दोलन का महत्त्व और प्रभाव दिखाती थी।

बम्बई में कमला रोग-शय्या पर पड़ी थी और आन्दोलन में हिस्सा न ले सकने के कारण छटपटा रही थी। मेरी मां और दोनों बहनें बड़े उत्साह के साथ आन्दोलन में कूद पड़ीं। उनको जल्दी ही एक-एक साल की सजा मिल गई और वे जेल पहुंच गईं। नए आनेवालों के जरिये या हमें मिलनेवाले स्थानीय साप्ताहिक पत्र द्वारा हमें कुछ अनोखी खबरें मिल जाया करती थीं। जो कुछ हो रहा था उसकी हम ज्यादातर कल्पना कर लिया करते थे, क्योंकि सेंसर की बड़ी सख्ती थी और समाचार-पत्रों और समाचार एजें-

सियों को भारी-भारी जुर्मानों का डर हमेशा बना रहता था। कुछ प्रान्तों में तो गिरफ्तारशुदा या सजा पाये हुए व्यक्ति का नाम छापना भी जुर्म था।

: ३६ :

बरेली और देहरादून-जेलों में

छः हफ्ते नैनी-जेल में रहने के बाद मेरा तबादला बरेली जिला-जेल में कर दिया गया। मेरी तन्दुरुस्ती फिर गड़बड़ रहने लगी। मुझे रोज बुखार हो आता था, जो मुझे बहुत नागवार मालूम होता था। चार महीने बरेली-जेल में बिताने के बाद जब गरमी बहुत सख्त हुई तब फिर मेरा तबादला कर दिया गया; लेकिन इस मर्तबा मुझे बरेली की अपेक्षा एक ठंडी जगह, हिमालय की छाया में, देहरादून-जेल में भेजा गया। मैं वहां लगातार कोई साढ़े चौदह महीने, लगभग अपनी दो साल की सजा के अखीर तक रहा। इस बीच मेरा तबादला किसी और दूसरी जगह नहीं हुआ। इसमें कोई शक नहीं कि जो लोग मुझसे मिलने आते थे उनसे और खतों तथा उन गिने-चुने अखबारों के जरिये, जो मुझे पढ़ने को दिये जाते थे, मेरे पास खबरें पहुंच जाती थीं, फिर भी बाहर जो कुछ हो रहा था उससे ज्यादातर मैं अपरिचित ही रहा और खास-खास घटनाओं के बारे में मेरी धारणा बहुत धुंधली थी।

इसके बाद जब मैं छूटा तब अपने निजी कामों में और उस समय जो राजनीतिक परिस्थिति थी उसे ठीक करने में लगा रहा। कोई पांच महीने से कुछ ज्यादा की आजादी के बाद मैं फिर जेल में बन्द कर दिया गया और अब तक यहीं हूं। इस तरह पिछले तीन सालों में मैं ज्यादातर जेल में ही—और इसीलिए घटनाओं से बिलकुल दूर, अलग—रहा हूं। इस बीच में जो-कुछ हुआ, उस सबका ब्योरेवार परिचय प्राप्त करने का मुझे बहुत ही कम,

नहीं के बराबर, मौका मिला है।

हममें से दो, मेरा और गोविन्दवल्लभ पन्त, का तबादला बरेली-जेल से देहरादून को साथ-साथ किया गया। कोई प्रदर्शन न होने पावे, इस बात का ध्यान रखने के लिए हम लोगों को बरेली में गाड़ी पर नहीं बिठाया गया, बल्कि वहां से ५० मील की दूरी पर एक छोटे-से स्टेशन पर ले जाकर वहां गाड़ी में बिठाया गया। हम लोग रात को चुपचाप मोटर में ले जाये गए। कई महीने तक अलग जेल में बन्द रहने के बाद रात की उस ठंडी हवा में मोटर के सफर से हमें अनोखा आनन्द आया।

बरेली-जेल से जाने के पहले एक छोटी-सी घटना हुई, जिसने उस वक्त तो मेरे हृदय पर असर डाला ही था; लेकिन अब तक भी वह मेरी याद में तरोताजा है। बरेली-पुलिस का सुपरिण्टेण्डेण्ट जो कि एक अंग्रेज था, वहां मौजूद था और ज्योंही मैं कार में बैठा त्योंही उसने कुछ-कुछ सकुचाते हुए मुझे एक पैकेट दिया जिसमें, उसने मुझे बताया कि, वे जर्मनी के पुराने सचित्र मासिक पत्रों की कापियां हैं। उसने कहा कि मैंने सुना है कि आप जर्मन सीख रहे हैं, इसलिए मैं कुछ मासिक पत्र आपके लिए ले आया हूं। इससे पहले मेरी उसकी मुलाकात कभी नहीं हुई थी और न उस दिन के बाद मैं आजतक उससे कभी मिला। मैं उसका नाम भी नहीं जानता; लेकिन मेरे दिल पर उसके स्वेच्छा-प्रेरित सौजन्य का और उस कृपा-भाव का, जिसने उसे इसकी प्रेरणा की, बहुत असर पड़ा और अपने मन में मैं उसके प्रति बहुत ही कृतज्ञ हुआ।

व्यक्तिगत रूप से तो मैं बड़ा सौभाग्यशाली रहा हूं और लगभग हमेशा ही मेरे प्रति सब लोग सौजन्य दिखाते रहे हैं, फिर चाहे वे अंग्रेज हों या अपने मेरे ही देश-भाई। मेरे जेलरों और पुलिस के उन सिपाहियों ने भी, जिन्होंने मुझे गिरफ्तार किया या जो मुझे कैदी के रूप में एक जगह से दूसरी जगह ले गये, मेरे साथ मेहरबानी का बर्ताव किया और इस इन्सानियत की वजह से मेरे

जेल-जीवन के संघर्ष की कटुता और तीव्रता बहुत कुछ कम हो गई थी। यह कोई अचरज की बात नहीं है कि मेरे देश-भाइयों ने मेरे साथ अच्छा बर्ताव किया; क्योंकि उनमें तो एक हद तक मेरा नाम हो गया था और मैं उनमें लोकप्रिय था। पर अंग्रेजों के लिए भी मैं एक व्यक्ति था, भीड़ में से एक इकाई नहीं। मेरा खयाल है कि इस बात ने कि मैंने अपनी शिक्षा इंग्लैण्ड में पाई और खासतौर पर इस बात ने कि मैं इंग्लैण्ड के एक पब्लिक स्कूल में रहा, मुझे उनके नजदीक ला दिया और इन कारणों से वे मुझे कम-बढ़ अपने ही नमूने का सभ्य आदमी समझे बिना नहीं रह सकते थे फिर चाहे उन्हें मेरे सार्वजनिक काम कैसे ही उलटे क्यों न मालूम पड़ें। जब मैं अपने इस बर्ताव की तुलना उस जिन्दगी से करता हूं जो मेरे ज्यादातर साथियों को भोगनी पड़ती थी, तब मुझे अपने साथ होनेवाले इस विशेष अच्छे बर्ताव पर कुछ शर्म और जिल्लत-सी मालूम होती है।

ये जितने सुभीते मुझे मिले हुए थे उन सबके होते हुए भी जेल तो आखिर जेल ही थी और कभी-कभी तो उसका दुखद वातावरण प्रायः असह्य हो उठता था। उसका वातावरण खुद हिंसा, कमीनेपन, रिश्वतखोरी और झूठ से भरा हुआ था। वहां कोई गालियां देता था तो कोई गिड़गिड़ाता था। नाजुक मिजाज-वाले हर शख्स को वहां लगातार मानसिक सन्ताप में रहना पड़ता था, कभी-कभी जरा-जरा-सी बातों से ही लोग उखड़ जाते। चिट्ठी में कोई खराब खबर आ जाती या अखबार में ही कोई बुरी खबर निकलती तो हम लोग कुछ देर के लिए गुस्से या फिक्र से बड़े परेशान हो जाते थे। बाहर तो हम लोग हमेशा काम में लगकर अपने दुखों को भूल जाते थे। वहां तो तरह-तरह की दिलचस्प बातों और कामों की वजह से शरीर और मन का साम्य बना रहता था। जेल में ऐसा कोई रास्ता नहीं था। हम लोग ऐसा महसूस करते थे मानो हम बोतल में बन्द कर दिये गए हों

और दबाकर रख दिये गए हों और इसलिए जो कुछ होता उसकी बाबत लाजिमी तौर पर हमारी राय एकांगी और कुछ हद तक तोड़ी-मरोड़ी हुई होती थी। जेल में बीमारी खासतौर से दुःखदाई होती है।

फिर भी मैंने अपने को जेल-जीवन की दिनचर्य्या का आदी बना लिया और शारीरिक कसरत तथा कड़ा मानसिक काम करके मैंने अपने को ठीक-ठीक रक्खा। काम और कसरत की बाहर कुछ भी कीमत हो, जेल में तो वे लाजिमी थे; क्योंकि उनके बिना वहां कोई अपने मानसिक और शारीरिक स्वास्थ्य को कायम नहीं रख सकता। मैंने अपना एक कार्यक्रम बना लिया था, जिसका मैं कड़ाई के साथ पालन करता था। मिसाल के लिए, अपने को बिलकुल ठीक रखने के लिये, मैं रोज हजामत बनाता था। (हजामत के लिए मुझे सेफ्टी रेजर मिला हुआ था) मैंने इस छोटी-सी बात का जिक्र इसलिए किया है कि आमतौर पर लोगों ने इन आदतों को छोड़ दिया और वे कई बातों में ढीले पड़ गए थे। दिन भर कड़ा काम करने के बाद शाम को मैं ख़ूब थक जाता और मजे से नींद का स्वागत करता।

इस तरह दिन-पर-दिन, हफ्ते-पर-हफ्ते और महीने-पर-महीने निकल गये। कभी-कभी ऐसा मालूम पड़ता था कि महीना बुरी तरह चिपक गया है और वह खतम ही नहीं होना चाहता। और कभी-कभी तो मैं हर चीज और हर शख्स से ऊब जाता, सब पर गुस्सा करता, सबसे खीज उठता, फिर वे चाहे जेल में मेरे साथी हों और चाहे जेल के कर्मचारी। ऐसे वक्त पर मैं बाहर के लोगों पर भी इसलिए खीझ उठता था कि उन्होंने यह काम क्यों किया या यह काम क्यों नहीं किया। ब्रिटिश-सल्तनत से तो हमेशा ही ख़ीझा रहता था। लेकिन ऐसे वक्त पर औरों के साथ-साथ और सबसे ज्यादा, मैं अपने ऊपर भी खीझ उठता था। इन दिनों मैं बहुत चिड़चिड़ा भी हो जाता और जेल की जिन्दगी में होनेवाली

जरा-जरा-सी बातों पर बिगड़ उठता था। खुशकिस्मती यह थी कि मेरा मिजाज ज्यादा दिनों तक ऐसा नहीं रहता था।

जेल में मुलाकात का दिन बड़े उल्लास का दिन होता था। हम लोग मुलाकात के दिनों के लिए कैसे तरसते थे; उनके लिए कैसी प्रतीक्षा करते थे तथा दिन गिना करते थे ! लेकिन मुलाकात की खुशी के बाद उसकी लाजिमी प्रतिक्रिया भी होती और फिर सूनेपन और अकेलेपन का राज हो जाता। अगर, जैसा कि कभी-कभी होता था, मुलाकात कामयाब नहीं हुई, इसलिए कि मुझे कोई ऐसी खबर मिली जिससे मैं बिगड़ गया या और कोई अन्य ऐसी ही बात हुई, तो बाद को बहुत ही दुःखी हो जाता था। मुलाकात के वक्त जेल के कर्मचारी तो मौजूद रहते ही थे लेकिन बरेली में तो दो या तीन मर्तबा उनके साथ साथ सी० आई० डी० का आदमी भी हाथ में कागज और पेन्सिल लिये मौजूद रहा, जो हमारी बातचीत के करीब-करीब हरेक हर्फ को बड़े उत्साह से लिख रहा था। इस बात से मुझे बहुत ही चिढ़ होती थी और ऐसी मुलाकातें बिल्कुल बेकार जातीं।

इलाहाबाद-जेल में मुलाकात करते हुए और उसके बाद सरकार की तरफ से मेरी मां और पत्नी के साथ जो दुर्व्यवहार हुआ था उसकी वजह से मैंने मुलाकातें करना बन्द कर दिया था। करीब-करीब सात महीने तक मैंने किसीसे मुलाकात नहीं की। मेरे लिए यह वक्त बहुत ही मनहूस रहा और जब इस वक्त के बाद मैंने यह तय किया कि मुझे मुलाकात करना शुरू कर देना चाहिए और उसके फलस्वरूप जब लोग मुझसे मिलने आये तब मैं आनन्द से झूमने लगा था। मेरी बहन के छोटे-छोटे बच्चे भी मुझसे मिलने को आये थे। उनमें से एक छोटे-से बच्चे को मेरे कन्धों पर चढ़ने की आदत थी। यहां भी जब उसने मेरे कन्धे पर चढ़ना चाहा तो मेरे भावों का बांध टूट गया। मानवी संसर्ग के लिए एक लम्बी चाह के बाद गृह-जीवन के इस स्पर्श से मैं अपनेको सम्हाल न सका।

जब मैंने मुलाकात करना बन्द कर दिया था तब घर से या दूसरी जेलों से आनेवाले खत (क्योंकि मेरी दोनों बहन जेल में थीं) जो हमें हर पन्द्रहवें दिन मिलते थे और भी कीमती हो गये, और मैं उनकी बाट बड़ी उत्सुकता से देखा करता था। निश्चित तारीख को कोई खत न आता तो मुझे बड़ी चिन्ता हो जाती। लेकिन साथ ही जब खत आते तब मुझे उन्हें खोलते हुए डर-सा लगता था। मैं उनके साथ उसी तरह खिलवाड़ करता जिस तरह कोई इत्मीनान के साथ आनन्द की चीज से करता है। साथ ही मेरे मन में कुछ-कुछ यह डर भी रहता था कि कहीं खत में कोई ऐसी खबर या बात न हो कि मुझे दुःख हो। जेल में खतों का आना या जेल में खत लिखना दोनों ही वहां के शान्तिमय और स्थिर जीवन में बाधा डालते थे। वे मन में भावों को जगाकर बेचैनी पैदा करते थे और उसके बाद एक या दो दिन तक मन अस्तव्यस्त होकर भटकने लग जाता और उसे रोजमर्रा के काम में जुटाना मुश्किल हो जाता था।

नैनी और बरेली-जेल में तो मेरे बहुत-से साथी थे। देहरादून में शुरू-शुरू में हम सिर्फ तीन ही थे। मैं, गोविन्दवल्लभ पन्त और काशीपुर के कुंवर आनन्दसिंह। लेकिन पन्तजी तो कोई दो महीने बाद छोड़ दिये गये, क्योंकि उनकी छः महीने की सजा खत्म हो गई थी। इसके बाद हमारे दो और साथी हमसे आ मिले थे। लेकिन जनवरी १९३३ के शुरू में मेरे सब साथी चले गये और मैं अकेला ही रह गया। अगस्त के अखीर में जेल से छूटने तक, करीब-करीब आठ महीने तक, देहरादून-जेल में मैं बिलकुल अकेला रहा था। हर रोज कुछ मिनट तक किसी जेल-कर्मचारी के अलावा कोई ऐसा न था, जिससे मैं बातचीत भी कर सकता। कानून के अनुसार तो यह एकान्त सजा न थी; लेकिन उससे मिलती-जुलती ही थी। इसलिए ये बड़ी मनहूसी के दिन रहे। सौभाग्य से इन दिनों मैंने मुलाकात करना शुरू कर दिया था।

उनसे मेरा दुःख कुछ हल्का हो गया था । मेरा खयाल है कि मेरे साथ यह खास रिआयत की गई थी कि मुझे बाहर से भेजे हुए ताजे फूल लेने की और कुछ फोटो रखने की इजाजत थी । इन बातों से मुझे काफी तसल्ली मिलती थी । मामूली तौर पर कैदियों को फूल या फोटो रखने की इजाजत नहीं है। कई मौकों पर मुझे वे फूल नहीं दिये गए, जो बाहर से मेरे लिए लाये गए थे। अपनी कोठरियों को खुशनुमा बनाने की हमारी कोशिशें रोकी जाती थीं। मुझे याद है कि मेरे एक साथी ने, जो मेरे पड़ोस की कोठरी में रहता था, अपने शीशे, कंघे वगैरा चीजों को जिस तरह सजाकर रक्खा था उसपर जेल के सुपरिण्टेण्डेण्ट ने ऐतराज किया था। उनसे कहा गया कि वह अपनी कोठरी को आकर्षक और 'विलासितापूर्ण' नहीं बना सकते। और वे विलासिता की चीजें क्या थीं ?——दांतों का एक ब्रश, दांतों का एक पेस्ट, फाउंटेनपेन की स्याही, सिर में लगाने के तेल की शीशी, एक ब्रश और कंघी, शायद एक या दो छोटी-छोटी चीजें और।

जेल में हम लोग जिन्दगी की छोटी-छोटी चीजों की कीमत समझने लगे थे। वहां हमारा सामान इतना कम होता था और उसे हम न तो आसानी से बढ़ा ही सकते थे न उसकी जगह दूसरी चीजें ही मंगा सकते थे, इसलिए हम उसे बड़ी होशियारी से रखते थे और ऐसी इक्की-दुक्की छोटी-छोटी चीजों को बटोर कर रखते थे,जिन्हें जेल से बाहर की दुनिया में हम रद्दी की टोकरी में फेंका करते थे। इस प्रकार जब हमारे पास सम्पत्ति के नाम पर रखने की कोई चीज नहीं होती तब भी तो सम्पत्ति जोड़ने की भावना हमारा पीछा नहीं छोड़ती !

कभी-कभी जिन्दगी की कोमल वस्तुओं के लिए शरीर अकुला उठता, शारीरिक सुख-भोग, आनन्दप्रद वातावरण मित्रों के साथ दिलचस्प बातचीत और बच्चों के साथ खेलने की इच्छा जोर पकड़ उठती थी । किसी अखबार में किसी तस्वीर

या फोटो को देखकर पुराना जमाना सामने आ खड़ा होता--उन दिनों की बातें सामने आ जातीं जब जवानी में किसी बात की फिकर न थी। ऐसे वक्त पर घर की याद की बीमारी बुरी तरह जकड़ लेती और वह दिन बड़ी बेचैनी के साथ कटता।

मैं हर रोज थोड़ा-बहुत सूत काता करता था, क्योंकि मुझे हाथ का कुछ काम करने से तसल्ली मिलने के साथ-साथ बहुत ज्यादा दिमागी काम से कुछ छुट्टी भी मिल जाती थी; लेकिन मेरा खास काम लिखना और पढ़ना ही था। मैं जिन-जिन किताबों को पढ़ना चाहता था वे सब तो मुझे मिल नहीं पाती थीं, क्योंकि उनपर रोक थी और वे सेंसर होती थीं। किताबों को सेंसर करनेवाले लोग हमेशा अपने काम के योग्य नहीं होते थे। स्पैंगलर की Decline of the West (पश्चिम का पतन) नामक किताब इसलिए रोक ली गई थी कि उसका नाम खतरनाक और राजद्रोहात्मक मालूम हुआ था। लेकिन मुझे इस सम्बन्ध में किसी प्रकार की शिकायत नहीं करनी चाहिए,क्योंकि कुल मिला-कर मुझे तो सभी किस्म की किताबें मिल जाती थीं। ऐसा मालूम पड़ता है कि इस मामले में भी मेरे साथ खास रिआयत होती थी; क्योंकि मेरे बहुत-से साथियों को, जो 'ए' क्लास में रखे गये थे, सामयिक विषयों पर किताबें मांगने में बड़ी मुश्किल का सामना करना पड़ता था।

मैं अपनी किताबों में ही जुटा रहा। कभी एक प्रकार की किताबें पढ़ता तो कभी दूसरे किस्म की। लेकिन आमतौर पर मैं ठोस विषय की किताबें पढ़ता था। उपन्यास पढ़ने से दिमाग में एक ढीलापन-सा मालूम होने लगता है। इसलिए मैंने ज्यादातर उपन्यास नहीं पढ़े। जब कभी पढ़ते-पढ़ते मेरा जी ऊब उठता तब मैं लिखने बैठ जाता। अपनी सजा के दो सालों में तो मैं उस 'ऐतिहासिक पत्रमाला' में लगा रहा जो मैंने अपनी पुत्री (इन्दिरा)

[1] हिन्दी में यह 'विश्व-इतिहास की झलक' के नाम से 'सस्ता साहित्य मण्डल' से प्रकाशित हो चुकी है। --संपादक

के नाम लिखी। उन्होंने मुझे अपने दिमाग को ठीक-ठीक रखने में बहुत मदद दी। कुछ हद तक तो मैं उस पुराने जमाने में रहने लगा, जिसकी बाबत मैं लिख रहा था और इसलिए इन दिनों करीब-करीब यह भूल-सा गया कि मैं जेल के भीतर रह रहा हूं।

यात्रा-सम्बन्धी पुस्तकों का मैं हमेशा स्वागत करता था, खासतौर पर पुराने यात्रियों के यात्रा-वर्णन का——जैसे ह्यू एन-त्सांग, मार्कोपोलो और इब्नबतूता वगैरा। आजकल के यात्रियों की यात्राओं का वर्णन भी अच्छा मालूम होता था——जैसे स्वेन हेडन ने मध्य-एशिया के जंगलों में जो सफर किया उसका और रोरिक को तिब्बत में जो अजीब बातें मिलीं उनका वर्णन। चित्रों की पुस्तकें भी——खासकर पहाड़ों, हिम प्रपातों और मरुस्थलों की तस्वीरें——अच्छी लगती थीं, क्योंकि जेल में विशाल मैदानों और समुद्र और पहाड़ों को देखने की चाह बढ़ जाती है। मेरे पास माउण्ट ब्लेंक, आल्प्स पर्वत और हिमालय की कुछ सुन्दर चित्रोंवाली पुस्तकें थीं और अक्सर मैं उन्हें देखा करता था। जब मेरी कोठरी या बैरक की गरमी एक सौ पन्द्रह डिग्री या उससे भी ज्यादा होती थी, तब मैं हिम-प्रपातों को एकटक होकर देखता। एटलस को देखकर तो बड़ा जोश पैदा होता था। उसे देखकर सब तरह की पुरानी बातों की याद आ जाती थी——उन जगहों की याद जहां हम हो आये हैं और उन जगहों की भी जहां हम जाना चाहते थे। और कभी-कभी मन में यह उत्कण्ठा पैदा होती कि पिछले दिनों जिन जगहों को हम देख आये हैं उन्हें फिर देखें। एटलस में बड़े-बड़े शहरों को बतानेवाले जितने निशान हैं वे ऐसे लगते मानो हमको बुला रहे हों और हमें वहां जाने की स्वाभाविक इच्छा होती थी। एटलस में पहाड़ों को और समुद्र के नीले रंग को देखकर भी उनपर चढ़ने और उन्हें पार करने की इच्छा होती। दुनिया के सौन्दर्य को देखने की, परिवर्तनशील मनुष्यजाति के संघर्षों और संग्रामों को देखने की और खुद भी

इन सब कामों को करने की उमंगें हमको तंग करतीं और हमारा पल्ला पकड़ लेतीं और हम बड़े दु:ख के साथ झटपट एटलस को उठाकर रख देते और अच्छी तरह जानी-पहचानी हुई उन दीवारों को देखने लग जाते, जो हमें घेरे हुए थीं और रोजमर्रा के नीरस ढर्रे में जुट जाते।

: ३७ :

जेल में जीव-जन्तु

कोई साढ़े चौदह महीने तक मैं देहरादून-जेल की अपनी छोटी-सी कोठरी में रहा और मुझे ऐसा लगने लगा जैसे मैं उसी-का एक हिस्सा हूं। उसके प्रत्येक अंश से मैं परिचित हो गया। उसकी सफेद दीवारों और खुरदरी फर्श पर हरेक निशान गड्ढे और उसके शहतीरों पर लगे घुन के छेदों तक से मैं परिचित हो गया था। बाहर के छोटे-से आंगन में उगे घास के छोटे-छोटे गुच्छे और पत्थर के टेढ़े-मेढ़े टुकड़े मेरे पुराने दोस्त से लगते थे। मैं अपनी कोठरी में अकेला था सो बात नहीं। क्योंकि वहां कितने ही ततैयों और बर्रों के छत्ते थे और कितनी ही छिपकलियों ने शहतीरों के पीछे अपना घर बना लिया था, जो शाम को अपने शिकार की तलाश में बाहर निकला करती थीं। यदि विचार और भावनाएं भौतिक चीजों पर अपने चिह्न छोड़ सकती हैं तो इस कोठरी की हवा का एक-एक कण उनसे जरूर भरा हुआ था और उस संकरी जगह में जो-जो भी चीजें थीं उन सब पर वे अंकित हुए बिना न रहे होंगे।

कोठरियां तो मुझे दूसरे जेलों में इससे अच्छी मिली थीं, मगर देहरादून में मुझे एक विशेष लाभ मिला था, जो मेरे लिए बेशकीमत था। असली जेल एक बहुत छोटी जगह थी और हम जेल की दीवारों के बाहर एक पुरानी हवालात में रखे गये थे;

लेकिन थी यह अहाते में ही। यह इतनी छोटी थी कि उसमें आस-पास घूमने की कोई जगह न थी और इसलिए हमको सुबह-शाम फाटक के सामने कोई सौ गज तक घूमने की छुट्टी थी। हम रहते तो थे जेल के अहाते में ही; लेकिन उन दीवारों के बाहर आ जाने से पर्वतमालाओं, खेतों और कुछ दूर पर आम सड़क के दृश्य दिखाई पड़ जाते थे।

केवल एक कैदी ही, जो लम्बे अर्से तक ऊंची-ऊंची दीवारों के अन्दर कैद रहा हो, बाहर सैर करने और इन मुक्त दृश्यों के देखने के असाधारण मानसिक मूल्य को समझ सकता है। मैं इस तरह बाहर घूमने का बड़ा शौक रखता था और बारिश में भी मैंने इस सिलसिले को नहीं छोड़ा था, जबकि जोर से पानी की झड़ी लगती थी और मुझे टखने-टखने तक पानी में चलना पड़ता था। यों तो किसी भी जगह बाहर सैर करने का मैंने सदा ही स्वागत किया होता; लेकिन यहां तो अपने पड़ोसी गगनचुम्बी हिमालय का मनोहर दृश्य और भी खुशी को बढ़ानेवाला था, जिससे कि जेल की उदासी बहुत-कुछ दूर हो जाती थी। यह मेरी बहुत बड़ी खुशकिस्मती थी कि जब लम्बे अर्से तक मैंने कोई मुलाकात नहीं की थी और जब कितने ही महीने तक अकेला रहा, तब मैं इन प्यारे सुहावने पहाड़ों को एक-टक निहार सकता था। अपनी कोठरी से तो मैं गिरिराज के दर्शन नहीं कर सकता था, मगर मेरे मन में सदैव ही उसका ध्यान रहता था और वह हमेशा समीप ही मालूम होता था। जान पड़ता था कि मानो अन्दर-ही-अन्दर हम दोनों के बीच एक घनिष्ठता बढ़ रही थी।

यह एक असाधारण दृश्य था और साधारणतया तो मैं उसकी निकटता से सदा बहुत सुख अनुभव करता था। पर्वतराज की दृढ़ता और स्थिरता मानो लाखों वर्षों के ज्ञान और अनुभव के साथ मुझे तुच्छ दृष्टि से देखती थी और मेरे मन के

तरह-तरह के उतार-चढ़ाव की दिल्लगी उड़ाती थी और मेरे अशांत मन को सान्त्वना देती थी।

देहरादून में वसन्त-ऋतु बड़ी सुहावनी लगी और नीचे के मैदानों की बनिस्बत ज्यादा समय तक रही। जाड़े ने प्रायः सब पेड़ों के पत्ते झाड़ दिये थे और वे बिलकुल नंग-धड़ंग हो गये थे। जेल के फाटक के सामने जो चार विशाल पीपल के पेड़ थे, उन्होंने भी, आश्चर्य तो देखिये, अपने करीब-करीब सब पत्ते गिरा दिये थे और पत्रविहीन तथा उदास होकर खड़े थे। परन्तु अब वसन्त-ऋतु आई और उसकी जीवन-दायिनी वायु ने उन्हें अनुप्राणित कर दिया, उनके एक-एक परमाणु को जीवन-संदेश दिया। क्या पीपल और क्या दूसरे पेड़ों में, एक हलचल मच गई और उनके आसपास एक रहस्यमय वातावरण छा गया, जैसे परदे के अन्दर छिपे-छिपे कोई प्रक्रिया हो रही हो। एक दिन सहसा तमाम पेड़ों पर हरे-हरे अंकुरों और कोपलों को उझक-उझककर झांकते हुए देखकर मैं चकित रह गया। वह बड़ा ही उल्लासमय और आनन्ददायी दृश्य था। फिर बड़ी तेजी के साथ उन पेड़ों में लाखों पत्ते निकल आये और वे सूर्य की किरणों में चमकने और हवा के साथ अठखेलियां करने लगे। एक अंखुए से लेकर पत्ते तक का यह रूपान्तर कितना जल्दी और कितना आश्चर्यजनक होता है!

मैंने इससे पहले कभी नहीं देखा था कि आम के कोमल पत्ते पहले सुर्खी लिये गेहुंए रंग के होते हैं, ठीक वैसे ही जैसे कश्मीर के पहाड़ों पर शरद ऋतु में हलके रंग की छाया छा जाती है; लकिन जल्दी ही वे अपना रंग बदलकर हरे हो जाते हैं।

बारिश का वहां हमेशा ही स्वागत होता था, क्योंकि उससे ग्रीष्मकाल की गर्मी का अन्त आ जाता था। लेकिन अच्छी चीज की भी आखिर हद होती है। बाद में वह भी अखरने लगती है। और देहरादून को तो मानो इन्द्र देवता की प्रिय लीला-भूमि ही

समझिए। बरसात शुरू होते ही पांच हफ्तों तक ऐसी झड़ी लगती है कि कोई पचास-साठ इंच पानी बरस जाता और उस छोटी-सी तंग जगह में खिड़कियों से आती हुई बौछार से अपनेको बचाते हुए सिकुड़-सिकुड़कर बैठे रहना अच्छा नहीं लगता था।

हां, शरदऋतु में फिर आनन्द उमड़ने लगता है और इसी तरह शिशिर में भी, उन दिनों को छोड़कर जबकि मेंह बरसता हो। एक तरफ बिजली कड़क रही है, दूसरी तरफ वर्षा हो रही है और तीसरी तरफ चुभती हुई ठण्डी हवा बह रही है। ऐसी हालत में हर आदमी को उत्कण्ठा होती है कि रहने को एक अच्छी जगह हो, जिसमें सर्दी से बचाव हो सके और जरा आराम मिले। कभी-कभी बरफ का तूफान आता और बड़े-बड़े ओले गिरते और वे टीन की छतों पर गिरते हुए बड़े जोर की आवाज करते, मानो दनादन तोपें छूट रही हों।

एक दिन मुझे खासतौरपर याद है। वह २४ दिसम्बर, १९३२ का दिन था। बड़े जोर की बिजली कड़क रही थी और दिन-भर पानी बरसता रहा। जाड़ा इतना सख्त कि कुछ मत पूछिये। शारीरिक कष्ट की दृष्टि से अपने सारे जेल-जीवन में मुझे बहुत कम ऐसे बुरे दिन देखने पड़े हैं। लेकिन शाम को बादल एकाएक बिखर गए और जब मैंने देखा कि पर्वत-श्रेणियों पर और पहाड़ियों पर बरफ-ही-बरफ जमी हुई है तो मेरा सारा कष्ट न जाने कहां चला गया। दूसरा दिन—बड़ा दिन—बड़ा मनोरम और स्वच्छ था और बरफ के आवरण में पर्वतश्रेणियां बहुत ही सुन्दर दिखाई देती थीं।

जब साधारण रोजमर्रा के कामों से हम रोक दिये गए तो हमारा ध्यान प्राकृतिक लीला के दर्शन की ओर ज्यादा गया। जो-जो जीवधारी या कीड़े-मकोड़े हमारे सामने आते उनको हम ध्यान से देखते थे। अधिक ध्यान जाने पर मैंने देखा कि मेरी कोठरी में और बाहर के छोटे-से आंगन में हर तरह के जीव-

जन्तु रहते हैं। मैंने मन में कहा कि एक ओर मुझे देखो जिसे अकेलेपन की शिकायत है और दूसरी ओर उस आंगन को देखो जो खाली और सुनसान मालूम होता है; लेकिन जिसमें जीवन उमड़ा पड़ता है। ये तमाम किस्म के रेंगनेवाले और उड़नेवाले जीवधारी मेरे काम में जरा भी दखल दिये बिना अपना जीवन बिताते थे, तो मुझे क्या पड़ी थी कि मैं उनके जीवन में बाधा पहुंचाता ? लेकिन हां, खटमलों, मच्छरों और कुछ-कुछ मक्खियों से मेरी लड़ाई बराबर रहती थी। ततैयों और बर्रों को तो मैं सह लेता था। मेरी कोठरी में वे हजारों की तादाद में थे। हां, एक बार उनकी मेरी झड़प हो गई थी, जबकि एक ततैये ने, शायद अनजान में मुझे काट खाया था। मैंने गुस्सा होकर उन सबको निकाल देना चाहा, कोशिश भी की; लेकिन अपने चन्दरोजा घरों को भी बचाने के लिए उन्होंने खूब डटकर सामना किया। छत्तों में शायद उनके अंडे थे। आखिर को मैंने अपना इरादा छोड़ दिया और तय किया कि अगर वे मुझे न छेड़ें तो मैं भी उन्हें आराम से रहने दूंगा। कोई एक साल तक उसके बाद मैं उन बर्रों और ततैयों के बीच रहा। मगर उन्होंने फिर कभी मुझपर हमला नहीं किया और हम दोनों एक-दूसरे का आदर करते रहे।

हां, चमगादड़ों को मैं पसन्द नहीं करता था; लेकिन उन्हें मैं मन मसोसकर बर्दाश्त करता था। वे सन्ध्या के अन्धकार में चुपचाप उड़ जाते और आसमान की अंधेरी नीलिमा में उड़ते दिखाई पड़ते। वे बड़े मनहूस जीव लगते थे और मुझे उनसे नफरत और कुछ भय-सा मालूम होता था। वे मेरे चेहरे के एक इंच दूरी से उड़ जाते और हमेशा मुझे डर लगा रहता कि कहीं मुझपर झपट्टा न मार दें।

मैं चींटियों, दीमकों और दूसरे कीड़ों को घंटों देखता रहता था और छिपकलियों को भी। वे शाम को अपने शिकार चुपके

से पकड़ लेतीं और अपनी दुम एक अजीब हँसी आने लायक ढंग से हिलाती हुई एक-दूसरे को लपेटतीं। मामूली तौर पर वे ततैयों को नहीं पकड़ती थीं; लेकिन दो बार मैंने देखा कि उन्होंने निहायत होशियारी और सावधानी से मुंह की तरफ से उनको चुपके से झपटकर पकड़ा। मैं नहीं कह सकता कि उन्होंने जान-बूझकर उनके डंक को बचाया था या वह एक दैवयोग था।

इसके बाद, अगर कहीं आसपास पेड़ हों तो, झुण्ड-की-झुण्ड गिलहरियां होती थीं; वे बहुत ढीठ और निश्शंक होकर हमारे बहुत पास आ जातीं। लखनऊ-जेल में मैं बहुत देर तक एक आसन बैठे-बैठे पढ़ा करता था। कभी-कभी कोई गिलहरी मेरे पैर पर चढ़कर मेरे घुटने पर बैठ जाती और चारों तरफ देखती। फिर वह मेरी आंखों की ओर देखती, तब समझती कि मैं पेड़ या जो कुछ उसने समझा हो वह नहीं हूं। एक क्षण के लिए तो वह सहम जाती, फिर दुबककर भाग जाती। कभी-कभी गिलहरियों के बच्चे पेड़ के नीचे गिर पड़ते। उनकी मां उनके पीछे-पीछे आती, लपेटकर उनका एक गोला बनाती और उनको ले जाकर सुरक्षित जगह में रख देती। कभी-कभी बच्चे खो जाते। मेरे एक साथी ने ऐसे तीन खोये हुए बच्चे सम्हाल कर रक्खे थे। वे इतने नन्हें-नन्हें थे कि यह एक सवाल हो गया था कि उन्हें दाना कैसे दें? लेकिन यह सवाल बड़ी तरकीब से हल किया गया। फाउण्टेनपेन के फिलर में जरा-सी रुई लगा दी। यह उनके लिए बढ़िया फीडिंग बोतल हो गई।

अल्मोड़ा की पहाड़ी जेल को छोड़कर और सब जेलों में जहां-जहां मैं गया, कबूतर खूब मिले; और हजारों की तादाद में वे शाम को उड़कर आकाश में छा जाते थे। कभी-कभी जेल के कर्मचारी उनका शिकार करके उनसे अपना पेट भी भरते थे। और हां, मैनाएं भी थीं। वे तो सब जगह मिलती हैं। देहरादून में उनके एक जोड़े ने मेरी कोठरी के दरवाजे के ऊपर ही अपना घोंसला

बनाया था। मैं उन्हें दाना दिया करता । वे बहुत पालतू हो गई थीं और जब कभी उनके सुबह या शाम के दाने में देर हो जाती तो वे मेरे नजदीक आकर बैठ जातीं और जोर-जोर से चीं-चीं करके खाना मांगतीं। उनके वे इशारे और उनकी वह अधीर पुकार देखते और सुनते ही बनती थी। नैनी में हजारों तोते थे। उनमें से बहुतेरे तो मेरी बैरक की दीवारों की दरारों में रहते थे।

देहरादून में तरह-तरह के पक्षी थे और उनके कलरव, जोर-जोर से चिचियाने, चहचहाने और टें-टें करने से एक अजीब समा बंध जाता था। और सबसे बढ़कर कोयल की दर्दभरी कूक का तो पूछना ही क्या ? बारिश में और उसके ठीक पहले पपीहा आता। सचमुच उसका लगातार 'पियू-पियू' रटना सुनकर दंग रह जाना पड़ता था। चाहे दिन हो या रात, धूप हो चाहे मेंह, उसकी रटन नहीं टूटती थी। इनमें से बहुतेरे पक्षियों को हम देख नहीं पाते थे, सिर्फ उनकी आवाज सुनाई पड़ती थी, क्योंकि हमारे छोटे-से आंगन में कोई पेड़ नहीं था। लेकिन गिद्ध और चीलें बड़ी धज के साथ आसमान में ऊंची उड़तीं और उन्हें मैं देख सकता था। वे कभी एकदम झपट्टा मारकर नीचे उतर आतीं और फिर हवा के झोंके के साथ ऊपर चढ़ जातीं। कभी-कभी जंगली बतख भी हमारे सिर पर मंडराया करते थे।

बरेली-जेल में बन्दरों की आबादी खासी थी। उनकी कूद-फांद, मुंह बनाना आदि हरकतें देखने लायक होती थीं। एक घटना का असर मेरे दिल पर रह गया है। एक बन्दर का बच्चा किसी तरह हमारी बैरक के घेरे के अन्दर आ गया। वह दीवार की ऊंचाई तक उछल नहीं सकता था। वार्डर, कुछ नम्बरदारों और दूसरे कैदियों ने मिलकर उसे पकड़ा और उसके गले में एक छोटी-सी रस्सी बांध दी। दीवार पर से उसके (मैं समझता हूं) मां-बाप ने यह देखा और वे गुस्से से लाल हो गए। अचानक उनमें से एक बड़ा बन्दर नीचे कूदा और सीधा भीड़ में उस जगह गिरा जहां

कि वह बच्चा था। निस्संदेह यह बड़ी बहादुरी का काम था,क्योंकि वार्डर वगैरा सबके पास डण्डे और लाठियां थीं और वे उन्हें चारों तरफ घुमा रहे थे और उनकी संख्या भी काफी थी। लेकिन साहस की विजय हुई और मनुष्यों की यह भीड़ मारे डर के भाग निकली। उनके डण्डे और लाठियां वहीं पड़ी रह गईं और बन्दर अपना बच्चा छुड़ा ले गया।

अक्सर ऐसे जीव-जन्तु भी दर्शन देते थे, जिनसे हम दूर रहना चाहते थे। बिच्छू हमारी कोठरियों में बहुत आया-जाया करते थे। खासकर तब, जब बिजली जोरों से कड़का करती। ताज्जुब है कि मुझे किसीने भी नहीं काटा। वे अक्सर बेढब जगह मिल जाया करते थे—मेरे बिछौने पर या कोई किताब उठाई उस-पर भी। मैंने खासतौर पर एक काले और जहरीले (बिच्छू) को कुछ दिन तक एक बोतल में रख छोड़ा था और मक्खियां वगैरा उसको खिलाया करता था। फिर मैंने उसे एक डोरे से बांधकर दीवार पर लटका दिया। लेकिन वह किसी तरह भाग निकला। मुझे यह ख्वाहिश नहीं थी कि वह फिर कहीं घूमता-फिरता मुझसे मिलने आ जाय, इसलिए मैंने अपनी कोठरी को खूब साफ किया और चारों ओर उसे ढूंढा, मगर कुछ पता न चला।

तीन-चार सांप भी मेरी कोठरी में या उसके आस-पास निकले थे। एक की खबर जेल के बाहर चली गई और अखबारों में मोटी-मोटी लाइनों में छापी गई। मगर सच पूछिये तो मैंने उस घटना को पसन्द किया था। जेल-जीवन यों ही काफी रूखा और नीरस होता है और जब भी किसी तरह उसकी नीरसता को कोई चीज भंग करती है तो वह अच्छी ही लगती है। यह बात नहीं कि मैं सांपों को अच्छा समझता हूं या उनका स्वागत करता हूं। मगर हां, औरों की तरह मुझे उनसे डर नहीं लगता। बेशक, उनके काटने का तो मुझे डर रहता है और यदि किसी सांप को देखूं तो उससे अपनेको बचाऊं भी; लेकिन उन्हें देखकर मुझे अरुचि

नहीं होती और न उनसे डरकर भागता हूं। हां, कनखजूरे से मुझे बहुत नफरत और डर लगता है। डर तो इतना नहीं मगर उसे देखकर स्वाभाविक नफरत होती है। कलकत्ते के अलीपुर-जेल में कोई आधी रात को मैं सहसा जग पड़ा। ऐसा जान पड़ा कि कोई चीज मेरे पांव पर रेंग रही है। मैंने अपनी टार्च दबाई तो क्या देखा कि एक कनखजूरा बिस्तर पर है। एकाएक और बड़ी तेजी से बिना आगा-पीछा सोचे मैंने बिस्तर से ऐसे जोर की छलांग मारी कि कोठरी की दीवार से टकराते हुए बचा।

देहरादून में एक नया जन्तु देखा, या यों कहूं कि ऐसा जन्तु देखा जो मेरे लिए अपरिचित था। मैं जेल के फाटक पर खड़ा हुआ जेलर से बातचीत कर रहा था कि इतने में बाहर से एक आदमी आया जो एक अजीब जन्तु लिये हुए था। जेलर ने उसे बुलवाया। मैंने देखा कि वह गोह और मगर के बीच का कोई जानवर है जो दो फुट लम्बा था। उसके पंजे थे और छिलके-दार चमड़ी। वह भद्दा और कुडौल था और बहुत-कुछ जीवित था। वह एक अजीब तरह से कुंडलाकर बना हुआ था और लाने-वाला उसे एक बांस में पिरोकर बड़ी खुशी से उठाता हुआ लाया था। वह उसे 'बो' कहता था।

कैदियोंकी, खासकर लम्बी सजावाले कैदियों की भावनाओं को जेल में कोई भोजन नहीं मिलता। कभी-कभी वे जानवरों को पाल-पोसकर अपनी भावनाओं को तृप्त किया करते हैं। मामूली कैदी कोई जानवर नहीं रख सकता। नम्बरदारों को उनसे ज्यादा आजादी रहती है और जेल के कर्मचारी उनके लिए ऐतराज नहीं करते। आमतौर पर वे गिलहरियां पालते हैं और, सुनकर ताज्जुब होगा कि नेवले भी। कुत्ते जेल में नहीं आने दिये जाते, मगर बिल्ली को, जान पड़ता है, उत्साहित किया जाता है। एक छोटी पूसी ने मुझसे दोस्ती कर ली थी। वह एक जेल-अफसर की थी, जब उसका तबादला हुआ तो वह उसे

अपने साथ ले गया। मुझे उसका अभाव खलता रहा। हालांकि जेल में कुत्तों की इजाजत नहीं है, लेकिन देहरादून में इत्तिफाक से कुत्तों के साथ भी मेरा नाता हो गया था। एक जेल-अफसर एक कुतिया लाये थे। बाद को उनका तबादला हो गया और वह उसे वहीं छोड़ गये। बेचारी बे-घर की होकर इधर-उधर घूमती रही और पुलों और मोरियों में रहती हुई वार्डरों के दिये टुकड़े खाकर अपने दिन काटती थी। वह प्रायः भूखों मरती थी। मैं जेल के बाहर हवालात में रहता था। वह मेरे पास रोटी के लिए आया करती। मैं उसे रोज खाना खिलाने लगा। उसने एक मोरी में बच्चे दिये। कुछ तो और लोग ले गये मगर तीन बच रहे और मैं उन्हें खाना देता रहा। इनमें से एक पिल्ली बीमार हो गई। बुरी तरह छटपटाती थी। उसे देखकर मुझे बड़ी तकलीफ होती थी। मैंने बड़ी चिन्ता के साथ उसकी शुश्रूषा की और रात को कभी-कभी तो १०-१२ बार मुझे उठकर उसको सम्हालना पड़ता था। वह बच गई और मुझे इस बात पर खुशी हुई कि मेरी तीमारदारी काम आ गई।

बाहर की अपेक्षा जेल में जानवरों से मेरा ज्यादा साबका पड़ा। मुझे कुत्तों का बड़ा शौक रहा है और घर पर कुछ कुत्ते पाले भी थे, मगर दूसरे कामों में लगे रहने की वजह से उनकी अच्छी तरह सम्हाल न कर सका। जेल में मैं उनके साथ के लिए उनका कृतज्ञ था। हिन्दुस्तानी आमतौर पर घर में जानवर नहीं पालते। यह ध्यान देने लायक बात है कि जीव-दया के सिद्धांत के अनुयायी होते हुए भी वे अक्सर उनकी अवहेलना करते हैं। यहांतक कि गाय के साथ भी, जो हिन्दुओं को बहुत प्रिय और पूज्य है और जो अक्सर दंगों का कारण बनती है, दया का बर्ताव नहीं होता। मानो पूजाभाव और दयाभाव दोनों का साथ नहीं हो सकता।

: ३८ :

गांधीजी का उपवास

हमारे शान्त और एक-ढर्रे के जेल-जीवन में सितम्बर १९३२ के बीच में मानो अचानक एक वज्र-सा गिरा। एक खलबली मच गई। खबर मिली कि मि० रेम्जे मैकडानल्ड के साम्प्रदायिक 'निर्णय' में यहां की दलित जातियों को अलग चुनाव के अधिकार दिये जाने के विरोध में गांधीजी ने आमरण 'अनशन' करना तय किया है। लोगों पर अचानक आघात पहुंचाने की उनमें कितनी अद्भुत क्षमता है ! सहसा सभी तरह के विचार मेरे दिमाग में उत्पन्न होने लगे; सब तरह की भावी सम्भावनाओं के चित्र मेरे सामने आने लगे और उन्होंने मेरे स्थिर चित्त को बिलकुल उद्विग्न कर दिया। दो दिन तक मुझे बिलकुल अंधेरा-ही-अंधेरा दिखाई दिया और कोई रास्ता नहीं सूझा। जब मैं गांधीजी के इस काम के कुछ नतीजों का खयाल करता तो मेरा दिल बैठ जाता था। उनके प्रति मेरा व्यक्तिगत प्रेम काफी प्रबल था और मुझे ऐसा लगता था कि अब शायद मैं उन्हें नहीं देख सकूंगा। इस खयाल से मुझे बहुत ही पीड़ा होने लगी। पिछली बार लगभग एक साल स कुछ ज्यादा हुए मैंने उन्हें इंग्लैंड जाते समय जहाज पर देखा था। क्या वही मेरा उनका अन्तिम दर्शन रहेगा ?

अगर बापू मर गये तो हिंदुस्तान की क्या हालत हो जायगी ? और उसकी राजनैतिक प्रगति का क्या होगा ? मुझे भविष्य सूना और भयंकर दीखने लगा और जब मैं उसपर विचार करता था तो मेरे दिल में एक निराशा-सी छा जाती थी।

इस तरह मैं लगातार विचारों में डूबता-उतराता रहा। मेरे दिमाग में खलबली मच गई, एक ओर गुस्सा, निराशा और दूसरी ओर जिस व्यक्ति ने इतनी बड़ी उथल-पुथल पैदा कर दी

उसके प्रति प्रेम से वह सराबोर हो गया। मुझे नहीं सूझता था कि मैं क्या करूं, और सबसे ज्यादा अपने प्रति मैं चिड़चिड़ा और बद-मिजाज हो गया।

और फिर मुझमें एक अजीब तब्दीली हुई। मैं शुरू-शुरू में भावनाओं के एक तूफान में बह गया था; पर अन्त में मुझे कुछ शान्ति मालूम हुई और भविष्य भी इतना अन्धकार-पूर्ण दिखाई नहीं दिया। बापू में ऐन मौके पर ठीक काम कर डालने की अजीब सूझ है और मुमकिन है कि उनके इस काम के भी—जो मेरे दृष्टि-बिन्दु से बिलकुल अयोग्य ठहरता था—कोई बड़े नतीजे निकलें, केवल उसी काम के छोटे-से सीमित क्षेत्र में नहीं बल्कि हमारी राष्ट्रीय लड़ाई के व्यापक क्षेत्र में भी। और अगर बापू मर भी गये तो हमारी स्वतन्त्रता की लड़ाई चलती रहेगी। इसलिए, कुछ भी नतीजा हो, इन्सान को हर हालत के लिए मुस्तैद और कमर कसकर रहना चाहिए। गांधीजी की मृत्यु तक को बिना हिचकिचाहट के सह लेने का संकल्प करके मैंने शान्ति और धीरज धारण किया और दुनिया की हर घटना का सामना करने को तैयार हो गया।

इसके बाद सारे देश में एक भयंकर उथल-पुथल मचने और हिन्दू-समाज में उत्साह की एक जादूभरी लहर आ जाने की खबरें आईं और मालूम होने लगा कि छुआछूत का अब अन्त ही होनेवाला है। मैं सोचने लगा कि यरवडा-जेल में बैठा हुआ यह छोटा-सा आदमी कितना बड़ा जादूगर है! और लोगों के हृदयों के तारों को झंकृत करना वह कितनी अच्छी तरह जानता है!

उनका एक तार मुझे मिला। मेरे जेल आने के बाद यह उनका पहला ही संदेश था और इतने लम्बे अर्से के बाद उनका संदेश पाना मुझे बहुत अच्छा लगा। इस तार में उन्होंने लिखा—

"इन वेदना के दिनों में मुझे हमेशा तुम्हादा ध्यान रहा है। तुम्हारी राय जानने को मैं बहुत ज्यादा उत्सुक हूं। तुम्हें मालूम है, मैं तुम्हारी राय

की कितनी कदर करता हूँ ! इन्दु और सरूप के बच्चे मिले। इन्दु खुश और कुछ तगड़ी दीखती थी । मेरी तबीयत बहुत ठीक है। तार से जवाब दो। स्नेह ।"

यह एक असाधारण बात थी ; लेकिन उनके स्वभाव के अनुसार ही थी, कि उन्होंने अपने अनशन की पीड़ा और अपने काम-काज के बीच भी मेरी लड़की और मेरी बहन के बच्चों के आने का जिक्र किया और यह भी लिखा कि इन्दिरा तगड़ी हो गई है। उस समय मेरी बहन भी पूना के जेल में थी और ये सब बच्चे पूना के स्कूल में पढ़ते थे। वह जीवन में छोटी दीखनेवाली बातों को कभी नहीं भूलते, जिनका असल में बड़ा महत्त्व भी होता है।

ठीक उसी वक्त मुझे यह खबर मिली कि चुनाव के मामले पर कोई समझौता भी हो गया है। ज़ेल के सुपरिण्टेंडेंट ने कृपा करके मुझे गांधीजी को जवाब देने की इजाजत दे दी और मैंने उन्हें यह तार भेजा—

"आपके तार और यह संक्षिप्त समाचार मिलने से कि कोई समझौता हो गया है, मुझे बड़ी राहत और खुशी हुई। पहले तो आपके अनशन के निश्चय से मानसिक क्लेश और बड़ी दुविधा पैदा हुई; पर आखिर में आशावाद की विजय हुई और मुझे मानसिक शान्ति मिली। दलित वर्गों के लिए बड़े-से-बड़े बलिदान भी कम ही हैं। स्वतन्त्रता की कसौटी सबसे छोटे की स्वतन्त्रता से होनी चाहिए; लेकिन भय है कि कहीं हमारे एक-मात्र लक्ष्य को दूसरी समस्याएं ढक न लें। मैं धार्मिक दृष्टिकोण से निर्णय करने में असमर्थ हूं। यह भी भय है कि दूसरे लोग आपके तरीकों का दुरुप-योग करेंगे। लेकिन एक जादूगर को कैसे सलाह दे सकता हूं ? सप्रेम !"

पूना में जमा हुए भिन्न-भिन्न लोगों ने एक समझौते पर दस्तखत किये और ब्रिटिश-प्रधानमंत्री ने उसे चटपट मंजूर कर लिया और उसके अनुसार अपना पिछला 'निर्णय' बदल दिया। अनशन भी तोड़ दिया गया। मैं ऐसे समझौतों और इकरारनामों

को बहुत नापसन्द करता हूं; लेकिन पूना के समझौते में क्या-क्या तय हुआ इसका खयाल न करते हुए भी मैंने उसका स्वागत किया।

कई महीने बाद, मई १९३३ में, गांधीजी ने फिर अपना इक्कीस दिन का उपवास शुरू किया। पहले तो इसकी खबर से भी मुझे फिर बड़ा धक्का लगा; लेकिन होनहार ऐसा ही था, यह समझकर मैंने उसे मंजूर कर लिया और अपने दिल को समझा लिया। वास्तव में मुझे उन लोगों पर ही झुंझलाहट आई, जो उनके उपवास का संकल्प कर लेने और घोषित कर देने के बाद उसे छोड़ देने का जोर उनपर डाल रहे थे। उपवास मेरी तो समझ के बाहर था और निश्चय कर लेने के पहले अगर मुझसे पूछा जाता तो मैं उसके विरोध में जोर की राय देता; लेकिन मैं गांधीजी की प्रतिज्ञा का बड़ा महत्त्व समझता था, और किसी भी व्यक्ति के लिए मुझे यह गलत मालूम होता था कि वह किसी भी व्यक्तिगत मामले में, जिसे वह (गांधीजी) सबसे ज्यादा महत्त्वपूर्ण समझते थे, उनकी प्रतिज्ञा को तुड़वाने की कोशिश करे। इस तरह यद्यपि मैं खिन्न था, फिर भी मैंने उसे सहन कर लिया।

अपना उपवास शुरू करने से कुछ दिन पहले उन्होंने मुझे अपने खास ढंग का एक पत्र भेजा, जिससे मेरा दिल बहुत हिल गया। चूंकि उन्होंने जवाब मांगा था, इसलिए मैंने नीचे लिखा तार भेजा—

"आपका पत्र मिला। जिन मामलों को मैं नहीं समझता, उनके बारे में मैं क्या कह सकता हूं? मैं तो एक विचित्र देश में अपने को खोया हुआ-सा अनुभव करता हूं जहां आप ही एक-मात्र दीपस्तम्भ हैं; अंधेरे में अपना रास्ता टटोलता हूं; लेकिन ठोकर खाकर गिर जाता हूं। नतीजा जो कुछ हो, मेरा स्नेह और मेरे विचार हमेशा आपके साथ होंगे।"

एक ओर तो मैं उनके कार्य को बिलकुल नापसन्द करता था और दूसरी ओर उन्हें दुःख न पहुंचाने की भी मेरी इच्छा बलवती थी। मैं इस संघर्ष में पड़ा हुआ था। मैंने अनुभव किया कि मैंने

उन्हें प्रसन्नता का संदेश नहीं भेजा है और अब जबकि वह अपनी भयंकर अग्नि-परीक्षा में से, जिसमें उनकी मृत्यु भी हो सकती थी, पार होने का निश्चय कर ही चुके हैं, तो मुझे चाहिए कि मुझसे जितना बन सके उतना मैं उन्हें प्रसन्न रखूं। छोटी-छोटी बातों का भी मन पर बड़ा असर होता है और उन्हें अपना जीवन-दीप बुझने न देने के लिए अपना सारा मनोबल लगा देना पड़ेगा। मुझे ऐसा लगा कि अब जो कुछ भी हो, चाहे दुर्भाग्य से उनकी मृत्यु भी हो जाय, तो भी उसे दृढ़ हृदय से सह लेना चाहिए। इसलिए मैंने उन्हें दूसरा तार भेजा—

"अब तो जब आपने अपना महान् तप शुरू कर ही दिया है, मैं फिर अपना स्नेह और अभिनन्दन आप को भेजता हूं, और में आपको विश्वास दिलाता हूं कि अब मुझे यह ज्यादा स्पष्ट दिखाई देता है कि जो कुछ होता है अच्छा ही होता है, और परिणाम कुछ भी हो आपकी विजय ही है।"

उनका उपवास सकुशल पूरा हुआ। उपवास के पहले ही दिन वह जेल से रिहा कर दिये गये और उनके कहने से छह हफ्तों के लिए सविनय-भंग स्थगित कर दिया गया।

: ३९ :

लम्बी सजा का अन्त

मेरी रिहाई का वक्त नजदीक आ रहा था। साधारणतः मुझे 'नेकचलनी' की जितनी छूट मिलनी चाहिए थी उतनी मिल गई और इससे मेरी दो साल की मियाद में से साढ़े तीन महीने कम हो गये थे। मेरी मानसिक शांति या यों कहिये कि जेल-जीवन से जो मानसिक जड़ता पैदा हो जाती है उसमें रिहाई का खयाल खलल डाल रहा था। बाहर जाकर मुझे क्या करना चाहिए? यह एक मुश्किल सवाल था और इसके जवाब की हिचकिचाहट ने बाहर जाने की मेरी खुशी कम कर दी; लेकिन वह भी एक क्षणिक भाव था और लम्बे अर्से से दबी हुई क्रियाशीलता मेरे

अन्दर फिर उमड़ने लगी और मैं बाहर निकलने को उत्सुक हो गया।

अपनी तन्दुरुस्ती के बारे में मैं खुशकिस्मत था और कांग्रेस के कार्य में भारी मेहनत पड़ने और अनियमित जीवन बीतने पर भी मैं कुल मिलाकर अच्छा ही रहा। मेरे खयाल में, इसका कुछ कारण तो यह भी था कि जन्म से ही मैं हृष्ट-पुष्ट था और दूसरे मैं अपने शरीर का ध्यान रखता था। एक तरफ बीमारी और कमजोरी और दूसरी तरफ ज्यादा मुटापे से भी मुझे नफरत थी, और काफी कसरत, ताजी हवा और सादे भोजन की आदत रहने से मैं दोनों बातों से बचा रहा। मेरा अपना तजरबा यह है कि हिन्दुस्तान के मध्यम वर्गों की बहुत-सी बीमारियां तो गलत भोजन से होती हैं। वे तरह-तरह के पकवान और सो भी अधिक मात्रा में, खाते हैं। लाड़-प्यार करनेवाली माताएं बच्चों को मिठाइयां और दूसरी बढ़िया कही जानेवाली चीजें ज्यादा खिला-खिला कर जिन्दगीभर के लिए उनकी बदहज्मी की पक्की नींव डाल देती हैं। बच्चों पर कपड़े भी बहुत-से लाद दिये जाते ह।

मैंने भोजन-सम्बन्धी शौकिया प्रयोग करनेवाले लोगों की तरफ कोई ध्यान नहीं दिया है। करीब-करीब सभी कश्मीरी ब्राह्मणों की तरह हमारा परिवार भी मांसाहारी परिवार था, और बचपन से मैं हमेशा मांस खाता रहा था, हालांकि मुझे उसका बहुत शौक कभी न रहा। पर १९२० में असहयोग के समय से मैंने मांस छोड़ दिया और मैं शाकाहारी बन गया। इसके छह साल बाद यूरोप जाने पर मैं फिर मांस खाने लगा था; पर हिन्दुस्तान आने पर फिर शाकाहारी हो गया और तबसे मैं बहुत-कुछ शाकाहारी ही रहा हूं। मांसाहार मुझे ठीक-ठीक मुआफिक पड़ता है; लेकिन मुझे उससे अरुचि हो गई है और उसे खाने में कुछ अशिष्टता की भावना मन में पैदा होती है।

अपनी बीमारियों के समय में खासकर १९३२ में जेल में,

जबकि कई महीनों तक रोजाना मुझे हरारत हो आया करती थी, मैं झुंझला उठता था, क्योंकि उससे मेरी अच्छी तन्दुरुस्ती के गर्व को ठेस पहुंचती थी। मुझमें असीम जीवन-शक्ति और स्फूर्ति है, अपनी इस सदा की धारणा के विरुद्ध, मैं पहली बार सोचने लगा कि मेरी तन्दुरुस्ती धीरे-धीरे गिरती जा रही है और मैं घुलता जा रहा हूं और इससे मैं भयभीत हो गया। मेरा खयाल है कि मैं मौत से डरता नहीं हूं; लेकिन शरीर और मस्तिष्क का धीरे-धीरे घुलते जाना तो दूसरी ही बात थी। मगर मेरा डर जरूरत से ज्यादा था और मैं स्वस्थ होने और अपने शरीर पर अधिकार कर लेने में सफल हो गया। जाड़े में बड़ी देर तक धूप में बैठे रहने से मैं फिर अपनेको तन्दुरुस्त महसूस करने लगा। जबकि जेल के मेरे साथी कोट और दुशाले में लिपटे हुए कांपा करते थे, मैं खुले बदन धूप में बैठकर गर्मी का आनन्द लिया करता था। ऐसा जाड़े के दिनों में सिर्फ उत्तर हिन्दुस्तान में ही हो सकता था; क्योंकि दूसरी जगहों पर तो धूप अक्सर बहुत तेज होती है।

अपनी कसरतों में मुझे खासकर शीर्षासन से बहुत आनन्द आता था। मेरी समझ में शारीरिक दृष्टि से यह कसरत बड़ी अच्छी है और इसका मानसिक प्रभाव भी मेरे ऊपर अच्छा पड़ता था। इस कुछ-कुछ विनोदपूर्ण आसन से मेरी तबीयत खुश रहती थी और इसने जीवन की विचित्रताओं के प्रति मुझे अधिक सहनशील बना दिया।

उदासी के क्षण को, जो कि जेल-जीवन में लाजिमी तौर पर होते ही हैं, दूर करने में मेरी आमतौर पर अच्छी तन्दुरुस्ती ने और तन्दुरुस्त होने की शारीरिक अनुभूति ने, बड़ी सहायता की। इन दोनों बातों से मुझे जेल की या बाहर की बदलती हुई हालतों के मुताबिक अपने-आपको बना लेने में भी मदद मिली। मेरे दिल को कई बार धक्के लगे हैं, जिनसे उस वक्त तो मैं बहुत ही बेहाल हो जाता था; लेकिन मुझे ताज्जुब

हुआ कि मैं अपनी उम्मीद से भी जल्दी प्रकृतिस्थ हो जाता था। मेरी राय में, मेरी मूलभूत संयमित तथा स्वस्थ प्रकृति का एक सबूत यह है कि मुझे कभी तेज सिर-दर्द नहीं हुआ और न मुझे कभी नींद न आने की शिकायत हुई। मैं सभ्यता की इन आम बीमारियों से और आँख की कमजोरी से भी बच गया हूं, हालांकि मैं पढ़ने और लिखने में और कभी-कभी तो जेल की खराब रोशनी में भी आँखों से बहुत ज्यादा काम लेता रहा। पिछले साल आँख के एक डाक्टर ने मेरी अच्छी दृष्टि-शक्ति पर बड़ा आश्चर्य प्रकट किया। आठ साल पहले उसने भविष्य-वाणी की थी कि मुझे एक या दो साल में ही चश्मा लगाना पड़ेगा। उसका कहना बहुत गलत निकला और मैं अब भी बगैर ऐनक के अच्छी तरह काम चला रहा हूं।

जब मैं जेल से अपनी रिहाई का इन्तजार कर रहा था, उस समय बाहर व्यक्तिगत सविनय-भंग का नया स्वरूप शुरू हो रहा था। गांधीजी ने इसमें सबसे पहले मिसाल पेश करने का फैसला किया और अधिकारियों को पूरी तरह नोटिस देने के बाद वह एक अगस्त को गुजरात के किसानों में सविनय-भंग का प्रचार करने के लिए रवाना हुए। वह फौरन गिरफ्तार कर लिये गये। उन्हें एक साल की सजा दे दी गई और वह यरवडा की अपनी कोठरी में फिर भेज दिये गये। मुझे खुशी हुई कि वह वापस वहां चले गये। लेकिन जल्दी ही एक नई पेचीदगी पैदा हो गई। गांधीजी ने जेल से हरिजन-कार्य करने की वही सहूलियतें मांगीं, जो उन्हें पहले मिली थीं। सरकार ने उन्हें देने से इनकार कर दिया। अचानक हमने सुना कि गांधीजी ने फिर इसी बात पर उपवास शुरू कर दिया है। ऐसी जबरदस्त कार्रवाई के लिए हमें वह बहुत ही छोटा कारण मालूम हुआ। उनके निर्णय के रहस्य को समझना मेरे लिए बिलकुल नामुमकिन था, चाहे सरकार के सामने उनकी दलील बिलकुल सही भी हो। मगर हम

कुछ नहीं कर सकते थे। असमंजस में पड़े हुए हम यह सब देखते रहे।

उपवास के एक हफ्ते बाद उनकी हालत तेजी से गिरने लगी। वह एक अस्पताल में पहुंचा दिये गए, लेकिन वह कैदी ही रहे और सरकार हरिजन-कार्य के लिए सहूलियतें देने के मामले में न झुकी। उन्होंने अपने जीवन की आशा (जो कि पिछले उपवासों में कायम रही थी) छोड़ दी और अपनी तन्दुरुस्ती को गिरने दिया। उनका अन्त नजदीक दीखने लगा। उन्होंने आस-पास के लोगों से विदाई ले ली और अपने पास पड़ी हुई अपनी थोड़ी-सी चीजों को भी इस-उसको बांट देने का इन्तजाम कर लिया, जिनमें से कुछ नर्सों को भी दे दीं, लेकिन सरकार यह नहीं चाहती थी कि उनकी मौत की जिम्मेदारी अपने ऊपर ले, इसलिए उसी शाम को वह अचानक रिहा कर दिये गये। इससे वह मरते-मरते बच गये। एक दिन और बीत जाता तो फिर उनका बचना मुश्किल था। इस प्रकार उन्हें बचाने का बहुत-कुछ श्रेय सम्भवतः श्री० सी० एफ० एण्ड्रयूज को है, जो गांधीजी के मना करने पर भी जल्दी से हिन्दुस्तान आ गये थे।

इस बीच (२३ अगस्त को) मैं देहरादून-जेल बदल दिया गया और दूसरे जेलों में करीब-करीब डेढ़ साल रहने के बाद फिर नैनी-जेल में आ गया। ठीक उसी वक्त मेरी माताजी के अचानक बीमार हो जाने और अस्पताल ले जाये जाने की खबर मिली। ३० अगस्त १९३३ को मैं नैनी से रिहा कर दिया गया, क्योंकि मेरी मां की हालत गम्भीर समझी गई। मामूली तौर पर मैं अपनी मियाद खतम होने पर ज्यादा-से-ज्यादा १२ सितम्बर को रिहा हो जाता। इस तरह मुझे प्रान्तीय सरकार ने तेरह दिन की छूट और दे दी।

: ४० :

गांधीजी से मुलाकात

जेल से रिहा होते ही मैं अपनी बीमार मां के पास लखनऊ पहुंचा और कुछ दिन उनके पास रहा। मैं काफी लम्बे अर्से के बाद जेल से बाहर निकला था, अतः मुझे लगा कि मैं आस-पास के हालात से बिलकुल अपरिचित और अलग-सा हो गया हूं। इस अनुभव से मेरे दिल को कुछ धक्का भी लगा, जैसाकि आम तौर पर होता है कि जब मैं जेल में पड़ा-पड़ा सड़ रहा था तो दुनिया आगे बढ़ती जा रही थी और बदलती जा रही थी। बच्चे और लड़कियां और लड़के बड़े होते जा रहे थे, शादियां,पैदाइशें और मौतें हो रही थीं। प्रेम और घृणा, काम और खेल, दुःख और सुख सब चल रहा था। जीवन में दिलचस्पी पैदा करनेवाली नई-नई बातें हो रही थीं, बातचीत के विषय नये हो गए थे, मैं जो कुछ देखता और सुनता था, सब-पर मुझे कुछ-न-कुछ आश्चर्य होता था। मुझे लगा कि मुझे एक खाड़ी में छोड़कर जिन्दगी का जहाज कितना आगे बढ़ गया था ! यह भावना कुछ खुश करनेवाली नहीं थी। जल्दी ही इस स्थिति के अनुकूल मैं अपनेको बना सकता था, लेकिन ऐसा करने की मुझे प्रेरणा नहीं होती थी। मेरे दिल ने कहा कि "जेल के बाहर सैर करने का तुम्हें यह थोड़ा-सा मौका मिला है और जल्दी ही फिर तुम्हें जेल में जाना पड़ेगा। इसलिए जिस जगह से जल्दी ही चल देना है, उसके अनुकूल अपनेको बनाने की झंझट क्यों मोल ली जाय ?"

राजनैतिक दृष्टि से हिन्दुस्तान कुछ शान्त था। सार्वजनिक प्रवृत्तियों का ज्यादातर सरकार ने नियंत्रण और दमन कर रखा था और गिरफ्तारियां कभी-कभी हो जाया करती थीं। मगर हिन्दुस्तान की उस वक्त की खामोशी बहुत महत्त्व रखती थी।

वह वैसी ही मनहूस खामोशी थी जैसी कि भयंकर दमन के अनुभव के बाद थक जाने से आ जाती है; वह खामोशी अक्सर बहुत वाचाल होती है; लेकिन दमन करनेवाली सरकार उसे नहीं सुन सकती। सारा हिन्दुस्तान एक आदर्श पुलिस-राज्य बन गया था और शासन के सब कामों में पुलिस-मनोवृत्ति व्याप्त हो गई थी। जाहिरा तौर पर हर तरह की कार्रवाई जो सरकार की इच्छा के मुआफिक न हो, दबा दी जाती थी और देशभर में खुफिया और छिपे कारिन्दों की बड़ी भारी फौज फैली हुई थी। लोगों में आम तौर पर पस्त-हिम्मती आ गई थी और चारों ओर आतंक छा गया था। कोई भी राजनैतिक कार्य, खासकर गांवों में, फौरन कुचल दिया जाता था।

जेल से रिहा होने के बाद, मैंने हिन्दुस्तान की राजनैतिक और आर्थिक परिस्थितियों का अध्ययन किया और मुझे उन्हें देखकर जरा भी उत्साह नहीं मालूम हुआ। मेरे कई साथी जेल में थे, नई गिरफ्तारियां जारी थीं, सारे आर्डिनेंस कानून की शक्ल में अमल में आ रहे थे, सेन्सर से अखबारों का गला घुटा हुआ था और हमारे पत्र-व्यवहार की व्यवस्था अस्त-व्यस्त हो गई थी।

वापस जेल जाने से पहले मैं कुछ कामों को निबटा भी डालना चाहता था। सबसे पहले तो मुझे अपनी मां की बीमारी की तरफ ध्यान देना था। उनकी हालत बहुत धीरे-धीरे सुधर रही थी, इतनी धीरे कि कोई एक साल तक वह चारपाई पर ही रहीं। मैं गांधीजी से भी मिलने को उत्सुक था, जो कि पूना में अपने हाल के उपवास से स्वास्थ्य-लाभ कर रहे थे। दो साल से ज्यादा हुए, मैं उनसे नहीं मिला था। मैं अपने सूबे के अधिक-से-अधिक साथियों से भी मिलना चाहता था, ताकि उनसे न सिर्फ हिन्दुस्तान की मौजूदा राजनैतिक स्थिति पर ही, बल्कि संसार की परिस्थिति पर, और उन सब विचारों पर भी बातचीत

करूं, जो मेरे दिमाग में भरे हुए थे। उस वक्त मेरा खयाल था कि दुनिया बड़ी तेजी से एक महान् राजनैतिक और आर्थिक विपत्ति की तरफ जा रही है और अपने राष्ट्रीय कार्यक्रमों को बनाते वक्त हमें इसका ध्यान रखना चाहिए।

मेरी रिहाई के बाद फौरन ही मेरी छोटी बहन कृष्णा की सगाई हो गई और मैं चिन्तित था कि जल्दी ही शादी हो जाय—मुझे फिर कहीं जेल न चला जाना पड़े, इस खयाल से। कृष्णा खुद भी एक साल तक जेल काटकर कुछ महीने पहले ही छूटी थी।

जैसे ही मां की बीमारी से मैंने छुट्टी पाई, मैं गांधीजी से मिलने पूना चला गया। उनसे मिलकर और यह देखकर मुझे खुशी हुई कि हालांकि वह कमजोर थे; लेकिन वह अच्छी रफ्तार से स्वास्थ्य-लाभ कर रहे थे। हमारे बीच लम्बी-लम्बी बातचीत हुई। यह साफ जाहिर था कि जीवन, राजनीति और अर्थशास्त्र के हमारे दृष्टिकोणों में काफी फर्क था; लेकिन मैं उनका कृतज्ञ हूं कि उनसे जहांतक बना, उन्होंने उदारतापूर्वक मेरे दृष्टिकोण के अधिक-से-अधिक नजदीक आने की कोशिश की।

गांधीजी के सामने जो खास समस्या थी वह थी व्यक्तिगत। उन्हें खुद क्या करना चाहिए, इस संबंध में वह बड़ी उलझन में थे। अगर वह फिर जेल गये तो हरिजन कार्य की सहूलियतों का वही सवाल फिर उठेगा और बहुत मुमकिन था कि सरकार न झुके और वह फिर उपवास करें तो क्या वह सारा क्रम फिर दोहराया जायगा? ऐसी चूहे-बिल्लीवाली नीति के सामने उन्होंने झुकने से इनकार कर दिया और कहा, "अगर मुझे उन सहूलियतों के लिए उपवास करना पड़ा तो रिहा कर दिये जाने पर भी मैं उपवास जारी रक्खूंगा।" इसका अर्थ था आमरण उपवास।

' दूसरा रास्ता उनके सामने यह था कि वह अपनी सजा की मियाद तक (जिसमें से अभी साढ़े दस महीने बाकी थे) अपनी गिरफ्तारी न करवायें और सिर्फ हरिजन-कार्य में ही अपने आपको लगा दें। लेकिन साथ ही, उनका कांग्रेस-कार्यकर्त्ताओं से मिलते रहना और जब जरूरत हो, तब उन्हें सलाह भी देना जरूरी ही था।

उन्होंने मुझे एक तीसरा रास्ता भी सुझाया कि वह कुछ अर्से के लिए कांग्रेस से बिल्कुल अलग हो जायं और उसे (उनके ही शब्दों में) 'नई पीढ़ी' के हाथों में छोड़ दें।

पहले रास्ते की, जिसका अन्त उपवास द्वारा प्राणान्त कर देना मालूम होता था, हममें से कोई भी सिफारिश नहीं कर सकता था। तीसरा रास्ता भी जबकि कांग्रेस एक गैर-कानूनी संस्था थी, ठीक मालूम नहीं हुआ। इस रास्ते का नतीजा यह होता कि सविनय-भंग और सब तरह की 'सीधी लड़ाई' फौरन वापस ले ली जाती और फिर कानूनी और वैध प्रवृत्ति पर लौटना पड़ता या कांग्रेस गैर-कानूनी होकर और सबसे, अब तो गांधीजी तक से, विलग होकर सरकार द्वारा और भी ज्यादा कुचली जाती। इसके अलावा, एक गैर-कानूनी संस्था पर, जो मीटिंग करके किसी नीति पर विचार नहीं कर सकती थी, किसी दल का कब्जा कर लेने का कोई सवाल ही नहीं उठता था। इस तरह और रास्तों को छोड़ते हुए हम उनके सुझाये दूसरे उपाय पर आ गये। हममें से ज्यादातर लोग उसे नापसंद करते थे और हम जानते थे कि कि उससे बचे-खुचे सविनय-भंग को एक भारी आघात पहुंचेगा। अगर नेता ही लड़ाई में से हट जायगा तो यह सम्भव नहीं था कि उत्साही कांग्रेसी-कार्यकर्त्ता लोग आग में कूद पड़ेंगे। लेकिन उलझन में से निकलने का और कोई रास्ता ही न था और इसी के अनुसार गांधीजी ने अपनी घोषणा कर दी।

गांधीजी और मैं, दोनों इस बात पर सहमत थे, हालांकि

हमारे कारण अलग-अलग थे कि सविनय-भंग को वापस लेने का अभी वक्त नहीं आया है और चाहे आन्दोलन धीरे-धीरे चले, लेकिन उसे जारी रखना ही चाहिए। कुछ भी हो, मैं लोगों का ध्यान समाजवादी सिद्धांतों और संसार की परिस्थिति की ओर भी खींचना चाहता था।

: ४१ :

अन्तर्जातीय विवाह एवं लिपि का प्रश्न

सितम्बर १९३३ के बीच करीब एक हफ्ता बम्बई और पूना रहने के बाद मैं लखनऊ लौट आया। मेरी मां अभी तक अस्पताल में थीं और उनकी हालत धीरे-धीरे सुधर रही थी। कमला भी लखनऊ में, खुद तन्दुरुस्त न होते हुए भी, माताजी की सेवा करने में लगी थी। हर सप्ताह के आखिरी दिनों में मेरी बहनें भी इलाहाबाद से आती रहती थीं। लखनऊ में मैं दो-तीन हफ्ते रहा। वहां इलाहाबाद के मुकाबले में ज्यादा फुरसत मिली थी। मेरा खास काम दिन में दो बार अस्पताल जाना था। मैंने अपना यह फुरसत का समय अखबार के लिए लेख लिखने में लगाया और ये सब लेख देश के लगभग सभी अखबारों में छपे। 'हिन्दुस्तान किधर ?' शीर्षक लेखमाला पर जनता का काफी ध्यान गया। इस लेखमाला में मैंने दुनिया की हलचलों पर, हिन्दुस्तान की परिस्थिति के साथ उनके संबंध को ध्यान में रखकर, विचार किया था। आजकल के पश्चिमी विचारों और हलचलों से जानकारी रखनेवालों के लिए इन लेखों में कोई नई या अद्भुत बात नहीं थी। मगर हिन्दुस्तान के लोग अपने घरेलू मामलों में ही इतने व्यस्त रहते हैं कि दूसरी जगह क्या हो रहा है, इसपर वे ज्यादा ध्यान नहीं दे सकते। मेरे लेखों का जो स्वागत हुआ, उससे और दूसरे आसारों से मालूम पड़ा कि लोगों का दृष्टिकोण

व्यापक हो रहा है।

माताजी अस्पताल में पड़ी-पड़ी ऊबती जा रही थीं, इसलिए हमने उन्हें इलाहाबाद वापस ले जाने का निश्चय कर लिया। वापस लाने के दूसरे कारणों में से एक कारण मेरी बहन कृष्णा की सगाई का हो जाना भी था, जो इन्हीं दिनों में पक्की की गई थी। हम चाहते थे कि मेरे फिर से जेल चले जाने से पहले जल्दी-से-जल्दी विवाह हो जाय; मुझे कुछ पता न था कि मुझे कितने समय तक बाहर रहने दिया जायगा; क्योंकि सविनय-भंग कांग्रेस का बाकायदा कार्यक्रम था और खुद कांग्रेस और दूसरी बीसियों संस्थाएं गैर-कानूनी थीं।

हमने अक्तूबर के तीसरे सप्ताह में इलाहाबाद में विवाह करने का निश्चय किया। यह विवाह 'सिविल मैरिज एक्ट' के मुताबिक होनेवाला था, क्योंकि वह विवाह दो भिन्न जातियों, ब्राह्मण और अ-ब्राह्मण, में होनेवाला था। इस कानून के अनुसार दोनों को अपने-अपने धर्मों का परित्याग करना पड़ता है, या उन्हें कम-से-कम यह तो कहना ही पड़ता है कि हममें से कोई किसी धर्म को नहीं मानता है। इस प्रकार का अनावश्यक परित्याग बड़ा वाहियात है। मैं स्वयं अन्तर्जातीय विवाहों को प्रोत्साहन देना पसंद करूंगा; लेकिन उन्हें प्रोत्साहन दिया जाय या नहीं, ऐसी अनुमति देनेवाले एक अन्तर्जातीय-विवाह कानून का बनना तो निहायत जरूरी है जो आम तौर पर सब धर्मवालों पर लागू हो और जिसमें विवाह करने के लिए उन्हें धर्म छोड़ने या बदलने की जरूरत न पड़े।

कृष्णा की शादी में कोई धूम-धाम नहीं हुई, सारा काम बड़ी सादगी से हुआ। हिन्दुस्तानी विवाहों में जो धूमधाम हुआ करती है, मामूली तौर पर, वह मुझे पसंद भी नहीं है। फिर माताजी की बीमारी के कारण और उससे भी अधिक इस बात से कि सविनय-भंग अभी भी जारी था और हमारे बहुत-से

साथी जेलों में पड़े सड़ रहे थे, दिखावे के रूप में कोई भी बात करना था भी बिलकुल अनुचित। इसलिए सिर्फ थोड़े रिश्तेदारों और स्थानीय मित्रों को ही निमंत्रित किया गया। पिताजी के बहुत-से पुराने मित्रों को इससे सदमा भी पहुंचा, क्योंकि उन्हें यह लगा, हालांकि वह था गलत कि मैंने जान-बूझकर उनकी उपेक्षा की है।

विवाह के लिए जो छोटा-सा निमंत्रण-पत्र हमने भेजा था, वह लेटिन अक्षरों व हिन्दुस्तानी भाषा में छपाया गया था। यह एक बिलकुल नई बात थी। अबतक इस तरह के निमंत्रण-पत्र आमतौर पर नागरी या फारसी लिपि में ही लिखे जाते थे। फौज या ईसाई मिशनवालों के सिवाय कहीं भी हिन्दुस्तानी भाषा लेटिन अक्षरों में नहीं लिखी जाती थी। मैंने रोमन का इस्तेमाल केवल यह देखने के लिए किया था कि इसका मुख्तलिफ किस्म के लोगों पर क्या असर होता है। इसे कुछ ने पसंद किया, कुछ ने नहीं। ज्यादा संख्या नापसंद करनेवालों की ही थी। बहुत कम लोगों के पास यह निमंत्रण-पत्र भेजा गया था, और अगर ज्यादा लोगों के पास भेजा जाता तो इसका असर और भी ज्यादा खिलाफ होता। गांधीजी ने भी इसे पसंद नहीं किया।

मैंने रोमन लिपि इसलिए इस्तेमाल नहीं की थी कि मैं उसके पक्ष में हो गया था, हालांकि उसने मुझे बहुत दिनों से अपनी ओर आकर्षित कर रक्खा था। टर्की और मध्य एशिया में रोमन लिपि की सफलता ने मुझे प्रभावित किया था। रोमन के पक्ष में जो दलीलें हैं, उनमें काफी वजन है, फिर भी मैं भारतवर्ष के लिए रोमन लिपि के पक्ष में नहीं हो गया था। अगर मैं उसके पक्ष में हो भी जाता तो मैं अच्छी तरह जानता था कि वर्तमान भारत में उसके अपनाये जाने की रत्ती भर भी संभावना न थी। राष्ट्रीय, धार्मिक, हिन्दू, मुस्लिम, नये, पुराने सब दलों की ओर से इसका बहुत सख्त विरोध होता, और यह मैं मानता हूं कि यह विरोध महज

भावुकतावश ही नहीं होता। किसी भी भाषा के लिए, जिसका प्राचीन काल उज्ज्वल रहा हो, लिपि का बदलना बहुत बड़ी क्रान्ति है, क्योंकि लिपि का उस साहित्य से बहुत गहरा सम्बन्ध रहता है। लिपि बदल दीजिये तो सामने कुछ और ही शब्द-चित्र नजर आयंगे, ध्वनि बदल जायगी, भाव बदल जायंगे। पुराने और नए साहित्य के बीच एक अटूट दीवार उठ खड़ी होगी। पुराना साहित्य एकदम किसी विदेशी भाषा में लिखा हुआ-सा जान पड़ेगा, ऐसी भाषा में जो मर चुकी हो। लिपि बदलने का जोखिम उसी भाषा में लेना चाहिए, जिसका कोई उल्लेखनीय साहित्य न हो। हिन्दुस्तान में तो मैं ऐसी रद्दो-बदल का खयाल भी नहीं कर सकता हूं, क्योंकि हमारा साहित्य केवल सम्पन्न और अमूल्य ही नहीं, बल्कि हमारे इतिहास और विचार-परम्परा से सम्बद्ध है और हमारी सर्व-साधारण जनता के जीवन के साथ उसका बड़ा गहरा नाता रहा है। हमारे देश पर इस तरह का परिवर्तन लाद देना एक क्रूर विच्छेद के समान होगा और सार्वजनिक शिक्षा के रास्ते में बाधक होगा।

लेकिन आज तो हिन्दुस्तान में रोमन लिपि का प्रश्न सार्वजनिक चर्चा का विषय ही नहीं है। मेरी समझ में लिपि-सुधार की दृष्टि से जो अगला कदम होना चाहिए, वह है संस्कृत भाषा से उत्पन्न चारों सहोदरा——हिन्दी, बंगला, मराठी, गुजराती—— भाषाओं के लिए एक-सी लिपि बनाना। इन चारों भाषाओं की लिपियों का उद्‌गम एक ही है और इनमें एक-दूसरे से भिन्नता भी विशेष नहीं है और इसलिए इन सबके लिए एक ही लिपि ढूंढ़ निकालने में कोई खास दिक्कत न होनी चाहिए। इससे ये चारों भाषाएं एक-दूसरे के नजदीक आ जायंगी।

मुझे इसमें कोई शक नहीं है कि हिन्दुस्तानी ही भारतवर्ष की राष्ट्रभाषा बनेगी। दरअसल रोजमर्रा के काम-काज के लिए वह एक बड़ी हद तक आज भी राष्ट्रभाषा-सी बनी हुई है। लिपि

नागरी हो या फारसी, इस निरर्थक वाद-विवाद ने इसकी तरक्की को रोक दिया है और दोनों दलों की इस कोशिश ने भी इसकी प्रगति में रुकावट खड़ी कर दी है कि भाषा को संस्कृत-प्रधान बनाया जाय या फारसी-प्रधान। लिपि का प्रश्न उठते ही इतने झगड़े पैदा हो जाते हैं कि इस कठिनाई को हल करने का इसके सिवा और कोई उपाय ही नहीं मालूम होता कि दोनों लिपियों को अधिकारी रूप से मान लिया जाय और लोगों को इनमें से किसी को भी काम में लाने की छूट दे दी जाय। संस्कृत व फारसी के शब्दों को ज्यादा काम में लाने की जो बेजा प्रवृत्ति चल पड़ी है, उसे रोकने के लिए पूरी कोशिश करनी चाहिए और सामान्य व्यवहार में बोली जानेवाली सरल भाषा के ढंग पर एक साहित्यिक भाषा बना लेनी चाहिए। जनता में जैसे-जैसे शिक्षा बढ़ती जायगी, वैसे-वैसे अपने आप ऐसा होता जायगा।

हिन्दुस्तानी की वृद्धि और प्रसार को, भारत की दूसरी बड़ी भाषाओं—बंगला, गुजराती, मराठी, उड़िया और दक्षिण की द्राविड़ी—के सतत व्यवहार और समृद्धि में, न तो बाधक बनना चाहिए और न वह बनेगा। इनमें से कुछ भाषाएं तो अब भी हिन्दुस्तानी की बनिस्बत बहुत अधिक जागरूक और बौद्धिक दृष्टि से सतर्क हैं और इसलिए अपने-अपने क्षेत्र में शिक्षा के माध्यम और अन्य व्यवहारों के लिए अधिकारी रूप से उन्हें अवश्य स्वीकार कर लेना चाहिए। सिर्फ इन्हीं के जरिये साधारण जनता में शिक्षा और संस्कृति तेजी के साथ फैल सकती ह।

मैं खुद इस बात को पसंद करूंगा कि हिन्दुस्तानी अंग्रेजी व दूसरी विदेशी भाषाओं से बहुत-से शब्द अपने में ले ले। इस बात की जरूरत है, क्योंकि आजकल जो नई-नई चीजें निकलती हैं, हमारी भाषा में उनके अर्थ-द्योतक शब्द नहीं मिलते, इसलिए यही बेहतर है कि संस्कृत, फारसी या अरबी से नए और मुश्किल शब्द गढ़ने के बजाय हम उन्हीं सुप्रचलित शब्दों को काम में लावें।

भाषा की पवित्रता के हामी विदेशी शब्दों के इस्तेमाल का विरोध करते हैं; लेकिन मेरा खयाल है कि वे गलती करते हैं। असल में किसी भाषा को समृद्ध बनाने का तरीका यही है कि वह इतनी लचीली रखी जाय कि दूसरी भाषाओं के भाव और शब्द उसमें शामिल होकर उसीके हो जायं।

अपनी बहन की शादी के बाद ही मैं अपने पुराने दोस्त और साथी श्री शिवप्रसाद गुप्त से मिलने के लिए बनारस गया। गुप्त-जी एक बरस से भी ज्यादा अर्से से बीमार थे। जब वह लखनऊ-जेल में थे, अचानक उनको लकवा मार गया और अब वह धीरे-धीरे अच्छे हो रहे थे। बनारस की इस यात्रा के अवसर पर मुझे हिन्दी-साहित्य की एक छोटी-सी संस्था की ओर से मानपत्र दिया गया और वहां उसके सदस्यों से दिलचस्प बातचीत करने का मुझे मौका मिला। मैंने उनसे कहा कि जिस विषय का मेरा ज्ञान बहुत अधूरा है, उसपर उसके विशेषज्ञों से बोलते हुए मुझे हिचक होती है; लेकिन फिर भी मैंने उन्हें थोड़ी-सी सूचनाएं दीं। आज-कल हिन्दी में जो क्लिष्ट और आलंकारिक भाषा इस्तेमाल की जाती है, उसकी मैंने कुछ कड़ी आलोचना की। उसमें कठिन, बना-वटी और पुरानी शैली के संस्कृत शब्दों की भरमार रहती है। मैंने यह कहने का भी साहस किया कि यह थोड़े-से लोगों के काम में आनेवाली दरबारी शैली अब छोड़ देनी चाहिए और हिन्दी लेखकों को यह कोशिश करनी चाहिए कि वे हिन्दुस्तान की आम जनता के लिए लिखें और ऐसी भाषा में लिखें जिसे लोग समझ सकें। आम जनता के संसर्ग से भाषा में नया जीवन और असली सच्चापन आ जायगा। इससे स्वयं लेखकों को जनता की भाव-व्यंजना शक्ति मिलेगी और वे अधिक अच्छा लिख सकेंगे। साथ ही मैंने यह भी कहा कि हिन्दी-लेखक पश्चिमी विचारों व साहित्य का अध्ययन करें तो उससे उन्हें बड़ा लाभ होगा। यह और भी अच्छा होगा कि यूरोप की भाषाओं के पुराने साहित्य और नवीन विचारों और ग्रंथों का हिन्दी में अनुवाद कर डाला जाय। मैंने यह

भी कहा कि सम्भव है कि आज का गुजराती, मराठी और बंगला साहित्य इन बातों में आजकल के हिन्दी-साहित्य से अधिक उन्नत हो और यह तो मानी हुई बात है कि पिछले वर्षों में हिन्दी की अपेक्षा बंगला में कहीं अधिक रचनात्मक साहित्य लिखा गया है।

: ४२ :

फिर जेल की तैयारी

दुबारा गिरफ्तार होने और सजा पाने की सम्भावना हमेशा मेरे सामने बनी रहती थी। उस समय देश में आर्डिनेंस वगैरा का दौरदौरा था और कांग्रेस भी गैर-कानूनी जमात थी, इसलिए यह सम्भावना और भी ज्यादा थी। ब्रिटिश सरकार ने जैसा रुख अख्तियार कर रक्खा था और जैसा मेरा स्वभाव था, उसको देखते हुए मुझपर प्रहार होना अनिवार्य मालूम होता था। हमेशा सिर पर सवार रहनेवाली इस सम्भावना का मेरी गतिविधि पर भी असर पड़े बिना न रहा। मैं जमकर कोई काम नहीं कर सकता था और मुझे यह जल्दी रहती थी कि जितना कुछ हो सके कर डालूं।

फिर भी, मेरी इच्छा गिरफ्तारी मोल लेने की नहीं थी और जहांतक हो सकता था मैं ऐसी कार्रवाइयों से बचता था जो मेरी गिरफ्तारियों का कारण बनें। अपने प्रान्त में और प्रान्त के बाहर भी, दौरा करने के लिए मेरे पास कितनी ही जगहों से बुलावे आ रहे थे। मैंने सबसे इनकार कर दिया, क्योंकि मैं जानता था कि कोई भी व्याख्यानों का दौरा आन्दोलनकारी हलचल के सिवा और कुछ नहीं हो सकता था, और वह हलचल सरकार द्वारा कभी भी यकायक बन्द कर दी जा सकती थी। उस समय मेरे लिए कोई बीच का मार्ग हो ही नहीं सकता था।

घरेलू झगड़ों में मेरा बहुत-सा समय खर्च हो जाता था। मेरी मां का स्वास्थ्य सुधर तो रहा था; मगर बहुत धीरे-धीरे। वह अभी तक रोगशय्या पर पड़ी थीं; पर उनके जीवन को कोई खतरा नहीं मालूम होता था। मैंने अब अपना ध्यान अपने आर्थिक मामलों की ओर फेरा, जिनकी इधर बहुत दिनों से परवा नहीं की गई थी और जो बड़ी गड़बड़ म पड़ गये थे। हम लोग अपने बूते से ज्यादा खर्च कर रहे थे और खर्च कम करने की जाहिरा तौर पर कोई तरकीब ही नजर नहीं आती थी। मुझे घर का खर्च चलाने की तो कोई खास फिक्र न थी। मैं तो करीब-करीब उस वक्त के इन्तजार में था कि जब मेरे पास कुछ भी न बचता। वर्तमान संसार में धन और संपत्ति बड़ी उपयोगी चीजें हैं, लेकिन जिस मनुष्य को लम्बी यात्रा पर जाना हो, उसके लिए तो ये अक्सर भार-रूप बन जाती हैं। धनवान आदमियों के लिए ऐसे कामों में हाथ डालना बहुत कठिन हो जाता है, जिनमें कुछ खतरा हो; उनको सदा अपनी धन-दौलत के चले जाने का भय रहता है। लेकिन धन-सम्पत्ति किस काम की, अगर सरकार अपनी मर्जी के मुताबिक उसपर अधिकार कर सकती हो या उसे जब्त कर सकती हो? इसलिए जो थोड़ा-बहुत मेरे पास था, उससे भी छुटकारा पाना चाहता था। हमारी आवश्यकताएं बहुत थोड़ी थीं और मुझे जरूरत के मुताबिक कमा लेने की अपनी शक्ति में विश्वास था। मुझे सबसे बड़ी चिन्ता यह थी कि मेरी माताजी को उनके जीवन के अन्तिम दिनों में तकलीफ न उठानी पड़े या उनके रहन-सहन के ढंग में कोई खास कमी न आने पावे। मुझे यह भी फिक्र थी कि मेरी लड़की की शिक्षा में कोई बाधा न पड़े, जिसके लिए मैं उसका यूरोप में रहना आवश्यक समझता था। इन सबके अलावा मुझे या मेरी पत्नी को रुपये की कोई विशेष आवश्यकता नहीं थी। अथवा, इस तरह का हम खयाल करते थे, क्योंकि हमें कभी उसका अभाव तो था नहीं। मुझे यकीन है कि जब ऐसा समय आयगा कि हमारे

पास रुपये की कमी पड़ेगी तो हमें दुःख ही होगा। किताबें खरीदने की खर्चीली आदत को छोड़ना मेरे लिए शायद मुश्किल होगा।

उस वक्त की बिगड़ी हुई आर्थिक स्थिति को सुधारने के लिए हमने यह निश्चय किया कि मेरी पत्नी के गहने, हमारी सोने-चांदी की चीजें और छोटा-मोटा बहुत-सा सामान बेच दिया जाय। कमला को अपने जेवर बेचने का खयाल पसंद नहीं आया, हालांकि करीब १२ साल से उसने उन्हें नहीं पहना था और वे बैंक में पड़े हुए थे, लेकिन वह किसी दिन उनको अपनी लड़की को देने का विचार करती थी।

१९३४ का जनवरी महीना था। २६ जनवरी—स्वतंत्रता-दिवस—नजदीक आ रहा था। उसे दर-गुजर नहीं किया जा सकता था। १९३० से वह दिवस हर साल, देश के कोने-कोने म, आर्डिनेंसों और पाबन्दियों के बावजूद नियमित रूप से मनाया जा रहा था। लेकिन अब इसका अगुवा कौन बनता? किस तरह से इसे आगे बढ़ाया जाता? मेरे सिवा आल इण्डिया कांग्रेस कमेटी के किसी पदाधिकारी का सिद्धांत-रूप से कोई भी अस्तित्त्व न था। मैंने कुछ मित्रों से सलाह की तो करीब-करीब सब इस बात पर सहमत हुए कि कुछ करना चाहिए, लेकिन यह 'कुछ' क्या होना चाहिए, इसपर कोइ राय कायम न हो सकी। मुझे आमतौर पर लोगों में ऐसे कामों से दूर रहने की प्रवृत्ति नजर आई, जिसके फलस्वरूप बहुत-से लोग पकड़े जा सकते थे। आखिरकार मैंने स्वतंत्रता-दिवस को उचित प्रकार से मनाने की एक छोटी-सी अपील निकाली, पर उसे मनाने का ढंग हर जगह के लोगों के निश्चय पर छोड़ दिया। इलाहाबाद में हमने सारे जिले में काफी विस्तार के साथ मनाने की योजना तैयार की।

हमारा खयाल था कि इस स्वतंत्रता-दिवस के संयोजक उसी दिन गिरफ्तार हो जायंगे। लेकिन मैं दुबारा जेल जाने से पहले बंगाल का एक दौरा करना चाहता था। इसका कुछ-कुछ उद्देश्य

तो पुराने साथियों से मिलना था; पर असल में यह बंगालियों के प्रति, उनकी गत वर्षों की असाधारण मुसीबतों के लिए श्रद्धांजलि भी थी। मैं भली-भांति जानता था कि मैं उनकी कुछ भी सहायता नहीं कर सकता था। सहानुभूति और भाईचारा किसी मर्ज की दवा नहीं थे, मगर फिर भी इसका स्वागत ही किया गया था—और खासकर बंगाल तो उस समय एक जुदापन-सा महसूस कर रहा था और इस बात से दुखी हो रहा था कि जरूरत के वक्त बाकी हिन्दुस्तान ने उसे छोड़ दिया। यह भावना न्यायोचित तो नहीं थी, पर फिर भी यह थी।

मुझे कमला के साथ कलकत्ता इसलिए भी जाना था कि अपने डाक्टरों से उसकी बीमारी के बारे में सलाह लूं। उसका स्वास्थ्य बहुत गिर गया था; पर हम दोनों ने कुछ हदतक इसे दर-गुजर करने की और ऐसे इलाज को टालने की कोशिश की, जिसके कारण हमको कलकत्ते में या किसी और जगह बहुत दिनों तक ठहरना पड़े। जेल से मेरे बाहर रहने के थोड़े समय में हम दोनों यथासम्भव एक साथ ही रहना चाहते थे। मैंने सोचा था कि जब मैं जेल चला जाऊंगा तो उसे इलाज के लिए चाहे जितना समय मिल जायगा। अब चूंकि गिरफ्तारी नजदीक नजर आ रही थी इसलिए मैंने इरादा किया कि यह सलाह-मशविरा कलकत्ते में कम-से-कम मेरी मौजूदगी में हो जाय, बाकी बातें बाद में भी तय की जा सकती थीं।

इसलिए हम दोनों ने—कमला ने और मैंने—१५ जनवरी को कलकत्ते जाने का निश्चय कर लिया। स्वतंत्रता-दिवस की सभाओं से पहले ही हम लौट आना चाहते थे।

: ४३ :

भूकम्प

१५ जनवरी १९३४ का तीसरा पहर था। इलाहाबाद में अपने मकान के बरामदे में खड़ा किसानों के एक गिरोह से मैं कुछ बात कर रहा था। माघ मेला आरम्भ हो गया था और सारे दिन हमारे यहां मिलने-जुलनेवालों का तांता लगा रहता था। यकायक मेरे पैर लड़खड़ाने लगे और अपनेको सम्हालना मुश्किल हो गया। मैंने पास के एक खम्भे का सहारा ले लिया। दरवाजों के किवाड़ भड़भड़ाने लगे और बराबर के स्वराज-भवन से, जिसके खपरे छत से नीचे खिसक रहे थे, खड़खड़ाहट की आवाज आने लगी। मुझे भूकम्पों का कुछ अनुभव नहीं था। इसलिए पहले तो मैं यह न समझ सका कि क्या हो रहा है, लेकिन मैं जल्दी ही समझ गया। इस अनोखे अनुभव से मुझे कुछ विनोद और दिलचस्पी हुई। मैंने किसानों से बातचीत जारी रक्खी और उन्हें भूचालों के बारे में बतलाने लगा। मेरी बूढ़ी मौसी ने कुछ दूर से चिल्लाकर मुझे मकान के बाहर दौड़ आने के लिए कहा। यह विचार मुझे बिलकुल भद्दा मालूम हुआ। मैंने भूकम्प को कोई गम्भीर बात नहीं समझा, और कुछ भी हो, मैं ऊपर की मंजिल में अपनी माता को बिस्तर पर पड़ी हुई, और वहीं अपनी पत्नी को, जो शायद सामान बांध रही थी, छोड़ देने और अपनेको बचा लेने के लिए कभी तैयार न था। ऐसा अनुभव हुआ कि भूचाल के धक्के काफी देर तक जारी रहे और बाद में बन्द हो गए। उन्होंने चन्द मिनटों की बातचीत के लिए एक मसाला पैदा कर दिया, पर लोग उसे जल्दी-ही करीब-करीब भूल-से गए। उस वक्त हम नहीं जानते थे और न इसका अन्दाज ही कर सकते थे कि ये दो-तीन मिनट बिहार और अन्य स्थानों के लाखों आदमियों के लिए कितने घातक साबित हुए होंगे!

उसी शाम को कमला और मैं कलकत्ते के लिए रवाना हो गए और हम, बिलकुल बेखबर, अपनी गाड़ी में बैठे हुए उसी रात को भूकम्प-पीड़ित प्रदेश के दक्षिण हिस्से में होकर गुजरे। अगले दिन भी कलकत्ते में भूकम्प से हुए घोर अनर्थ के बारेम हमें कोई खबर नहीं मिली। दूसरे दिन इधर-उधर से कुछ समाचार आने शुरू हुए। तीसरे दिन हमको इस वज्रपात का कुछ-कुछ आभास होने लगा।

हम साढ़े तीन दिन कलकत्ता ठहरे और इस अर्से में मैंने तीन सावजनिक सभाओं में भाषण दिये। जैसा कि मैंने पहले कलकत्ता में किया था, इस बार भी आतंकवादी कार्यों की निन्दा की और उनकी हानियां बतलाईं और इसके बाद मैं उन तरीकों पर भी बोला, जो सरकार ने बंगाल में अख्तियार किये थे। मैं काफी जोश के साथ बोला, क्योंकि इस प्रान्त की घटनाओं के विवरणों से मैं बहुत अधीर हो गया था। जिस बात ने मुझे सबसे अधिक चोट पहुंचाई, वह थी वह तरीका, जिसके जरिये सारी जनता का अन्धा-धुन्ध दमन कर मानव-सम्मान पर बलात्कार किया गया था। इस मानवता के प्रश्न के आगे राजनीतिक प्रश्न ने, अत्यंत आवश्यक होते हुए भी, गौण स्थान प्राप्त कर लिया था। बाद में, कलकत्ता में मुझपर जो मुकदमा चला, उसमें मेरे यही तीनों भाषण मेरे विरुद्ध तीन आरोप बनाये गये, और मेरी यह पिछली सजा इन्हींका परिणाम है।

कलकत्ता से हम कवि रवीन्द्रनाथ ठाकुर से भेंट करने के लिए शान्ति-निकेतन पहुंचे। कवि से मिलना हमेशा आनन्ददायक था। इतने नजदीक आकर हम उनसे बिना मिले कैसे जा सकते थे? मैं तो पहले दो बार शान्ति-निकेतन हो आया था, लेकिन कमला का यह पहली बार जाना था और वह इस स्थान को देखने खासतौर पर आई थी, क्योंकि हम अपनी बेटी को वहां भेजना चाहते थे।

लौटते हुए, हम राजेन्द्रबाबू के साथ भूकम्प-पीड़ितों की सहायता के प्रश्न पर विचार करने के लिए पटना ठहरे। वह अभी जेल से छूटकर आये ही थे और लाजिमी तौर पर उन्होंने पीड़ितों की सहायता के गैर-सरकारी काम में सबसे आगे कदम रक्खा। हमारा यहां पहुंचना बिलकुल अकस्मात् ही हुआ, क्योंकि हमारा कोई भी तार उन्हें नहीं मिला था। कमला के भाई के जिस मकान में हम ठहरना चाहते थे वह खंडहर हो गया था; पहले वह ईंटों की एक बड़ी भारी दुमंजिली इमारत थी। इसलिए और बहुत-से लोगों की तरह हम भी खुले में ही ठहरे।

दूसरे दिन मैं मुजफ्फरपुर गया। भूकम्प हुए पूरे सात दिन हो चुके थे; पर अभी तक सिवा कुछ खास रास्तों के, कहीं भी मलवा उठाने के लिए कुछ भी नहीं किया गया था। इन रास्तों को साफ करते वक्त बहुत-सी लाशें निकली थीं। इनमें कुछ तो विचित्र भावमयी अवस्थाओं में थीं, जैसे किसी गिरती हुई दीवार या छत से बचने की कोशिश कर रही हों। इमारतों के खंडहरों का दृश्य बड़ा मार्मिक और रोमांचकारी था। जो लोग बच गये थे, वे अपने दिल दहलानेवाले अनुभवों के कारण बिलकुल घबराये हुए और भयभीत हो रहे थे।

इलाहाबाद लौटते ही धन और सामान इकट्ठा करने के काम का फौरन प्रबन्ध किया गया और सब लोग, जो कांग्रेस में थे वे भी और जो नहीं थे वे भी, मुस्तैदी के साथ इनमें जुट गये। मेरे कुछ सहयोगियों की यह राय हुई कि भूकम्प के कारण स्वतन्त्रता-दिवस के जल्से रोक दिये जायं। लेकिन दूसरे साथियों को और मुझे भी कोई कारण नजर न आता था कि भूकम्प से भी हमारे प्रोग्राम में क्यों ख़लल पड़े? बहुत-से लोगों का खयाल था कि शायद पुलिस दस्तन्दाजी और गिरफ्तारियां कर बैठे और उसकी तरफ से कुछ मामूली दस्तन्दाजी हुई भी। मगर मीटिंग कर चुकने के बाद जब हम लोग बच गये तो हमें बहुत

ताज्जुब हुआ। हमारे यहां के कुछ गांवों में और कुछ दूसरे शहरों में गिरफ्तारियां हुईं।

इलाहाबाद की भूकम्प-सहायक-समिति ने मुझे भूकम्प-पीड़ित इलाकों में जाने के लिए और वहां भूकम्प-पीड़ितों की सहायता के लिए जो ढंग अख्तियार किया गया था, उसकी रिपोर्ट देने के लिए नियुक्त किया। मैं अकेला ही फौरन चल पड़ा और दस दिन तक उन ध्वस्त और नष्ट-भ्रष्ट इलाकों में घूमा। इस दौरे में बड़ी मेहनत करनी पड़ी और इन दिनों मुझे सोने को भी बहुत कम समय मिला। सुबह के पांच बजे से लगभग आधी रात तक हम लोग चलते ही रहते थे——कभी दरारोंवाली टूटी-फूटी सड़कों पर मोटर में जा रहे हैं, तो कभी छोटी-छोटी डोंगियों के द्वारा ऐसे स्थानों में उतर रहे हैं, जहां पुल गिरे पड़े थे या जहां जमीन की सतह में फर्क आ जाने से सड़कें पानी में डूब गईं थीं। शहरों में ढेर-के-ढेर खंडहरों और टूटी हुई, या मानों किसी दैत्य के द्वारा मरोड़ी हुई, या दोनों ओर के मकानों की कुर्सी से ऊपर उठी हुई सड़कों का दृश्य बड़ा हृदय-स्पर्शी था। इन सड़कों की बड़ी-बड़ी दरारों में से पानी और रेत जोर से निकले थे जिससे असंख्य मनुष्य और जानवर बह गये थे। इन शहरों से भी ज्यादा उत्तर विहार के मैदानों पर——जिनको बिहार का बाग कहा जाता था——उजड़ेपन और विनाश की छाप लगी हुई थी। मीलों तक फैली हुई बालू-रेत, पानी के बड़े-बड़े तालाब और विशालकाय दरारें और छोटे-छोटे असंख्य ज्वालामुखी के-से मुंह बन गये थे, जिनमें से बालू-रेत और पानी निकला था। इस इलाके के ऊपर हवाई जहाज में बैठकर उड़ने-वाले कुछ अंग्रेज अफसरों ने कहा था कि यह नजारा लड़ाई के जमाने के और उसके कुछ बाद के उत्तरी फ्रांस के युद्ध-क्षेत्र से कुछ-कुछ मिलता-जुलता था।

यह एक बड़ा भयानक अनुभव हुआ होगा। भूकम्प पहले

अगल-बगल की गति से जोरों से शुरू हुआ, जिससे खड़े हुए मनुष्य गिर पड़े। इसके बाद ऊपर-नीचे की गतियां हुईं और एक ऐसी गड़गड़ाहट और गूंजती हुई भयंकर आवाज हुई जैसे तोपें चल रही हों या आकाश में सैकड़ों हवाई जहाज उड़ रहे हों। अन-गिनती स्थानों पर बड़ी-बड़ी दरारों और गड्ढों में से पानी फूट निकला और उसकी धारें दस-बारह फुट तक ऊंची उछलीं। यह सब शायद तीन या चार मिनट में हो गया, मगर ये तीन मिनट ही महाभयंकर थे। जिन लोगों ने इन घटनाओं को होते हुए देखा, आश्चर्य नहीं, यदि उन्हें यह कल्पना हुई हो कि दुनिया का अन्त आ गया। शहरों में मकानों के गिरने का शोर था, पानी बड़े जोर से बहकर आ रहा था और सारे वायुमंडल में धूल भर गई थी, जिससे कुछ ही गज आगे की चीजें भी नजर नहीं आती थीं। देहातों में इतनी धूल नहीं थी और दूर तक दिखलाई देता था; लेकिन वहां कोई शान्ति से देखनेवाले ही नहीं थे। जो लोग जिन्दा बचे वे भयंकर त्रास के कारण जमीन पर लेट गये या इधर-उधर लुढ़कने लगे।

एक बारह बरस का लड़का (मेरे खयाल से, मुजफ्फरपुर में) भूकम्प के दस दिन बाद खोदकर जीवित निकाला गया था। वह बड़ा चकित था। टूट-टूटकर गिरनेवाले ईंट-चूने ने जब उसे नीचे गिराकर दबा लिया तो उसने कल्पना की कि प्रलय हो गया है और अकेला वही जिन्दा बचा है।

मुजफ्फरपुर में ही ऐन भूकम्प के मौके पर, जबकि मकान गिर रहे थे, और चारों तरफ सैकड़ों आदमी मर रहे थे, एक बच्ची पैदा हुई। उसके अनुभव-हीन माता-पिता को यह न सूझा कि क्या करना चाहिए और पागल-से हो गये। मगर मैंने सुना कि माता और बच्ची दोनों की जानें बच गईं और वे मजे में थे। भूकम्प की यादगार में बच्ची का नाम 'कम्पो देवी' रक्खा गया।

हमारे दौरे का आखिरी शहर मुंगेर था। हम लोग बहुत घूम चुके और करीब-करीब नेपाल की सीमा तक पहुंच गये थे और हमने अनेक हृदय-विदारक दृश्य देखे थे। हम लोग एक बड़े भारी पैमाने पर खंडहर और विध्वंस देखने के आदी हो गये थे; लेकिन फिर भी जब हमने मुंगेर को और इस धन-सम्पन्न नगर की अत्यन्त विनाश-पूर्ण हालत को देखा, तो उसकी भयंकरता से हमारा दम फूलने लगा और हमें कंपकंपी आने लगी। मैं उस महाभयंकर दृश्य को कभी नहीं भूल सकता।

भूकम्प के तमाम इलाकों में, क्या शहरों और क्या देहात में, वहां के निवासियों में स्वावलम्बन का बड़ा शोचनीय अभाव नजर आया। शायद शहरों के मध्यम-वर्ग में इसका सबसे अधिक प्रभाव था——वे लोग इस इन्तजार में थे कि कोई सरकारी या गैर-सरकारी भूकम्प-सहायक-समिति आकर काम करे और उन्हें सहायता दे। जो दूसरे लोग सेवा करने को आगे आये, उन्होंने समझा कि काम करने का अर्थ है लोगों पर हुक्म चलाना। यह निस्सहायता की भावना कुछ तो निस्संदेह भूकम्प के आतंक से पैदा हुई मानसिक दुर्बलता के कारण थी और वह धीरे-धीरे ही कम हुई होगी।

बिहार के दूसरे हिस्सों और दूसरे प्रान्तों से बड़ी संख्या में आनेवाले मददगारों का जोश और उनकी कार्यशक्ति इसकी तुलना में एक बिलकुल अलग ही चीज नजर आती थी। इन नवयुवकों और नवयुवतियों की मुस्तैदी के साथ सेवा करने की भावना को देखकर चकित होना पड़ता था। हालांकि अनेक भिन्न-भिन्न सहायक संस्थाएं काम कर रही थीं, फिर भी इनमें आपस में बहुत-कुछ सहयोग था।

मुंगेर में खोदने और मलवा हटाने की स्वावलम्बी भावना को प्रोत्साहन देने के लिए मैंने एक नाटक-सा किया। इसे करने में मुझे कुछ हिचकिचाहट तो हुई; पर इसका परिणाम बड़ा सफलता-

पूर्ण निकला। सहायक संस्थाओं के तमाम अगुआ टोकरियां और फावड़े ले-लेकर निकले और उन्होंने दिनभर खुदाई की और हमने एक लड़की की लाश बाहर निकाली। मैं तो उस दिन मुंगेर से चला आया, लेकिन खुदाई का काम जारी रहा और बहुत-से स्थानीय व्यक्तियों ने उसे बड़ी सफलतापूर्वक किया।

जितनी गैर-सरकारी सहायक संस्थाएं थीं, उन सबमें सेंट्रल रिलीफ कमेटी, जिसके अध्यक्ष बाबू राजेन्द्रप्रसाद थे, सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण थी। यह सर्वथा कांग्रेसी संस्था नहीं थी। शीघ्र ही यह बढ़कर भिन्न-भिन्न दलों और दानदाताओं की प्रतिनिधि-स्वरूप एक अखिल भारतीय संस्था बन गई।

मैं ११ फरवरी को, दौरे के कारण बिल्कुल थका-मांदा इलाहाबाद में अपने घर पहुंचा। कड़ी मेहनत के इन दस दिनों ने मेरा रूप बड़ा अजीब बना दिया था और मेरे कुटुम्ब के लोग मेरी शक्ल देखकर चकित हो गये। मैंने इलाहाबाद रिलीफ-कमेटी के लिए अपने दौरे की रिपोर्ट लिखने की कोशिश की, लेकिन नींद ने मुझे आ-घेरा। अपने २४ घंटों में से मैंने कम-से-कम १२ घंटे नींद में बिताये।

दूसरे दिन, शाम के वक्त कमला और मैं चाय पीकर बैठे थे और पुरुषोत्तमदास टंडन हमारे पास आये ही थे। हम लोग बरामदे में खड़े हुए थे। इतने में एक मोटर आई और पुलिस का एक अफसर उसमें से उतरा। मैं फौरन समझ गया कि मेरा वक्त आ गया है। मैंने उसके पास जाकर कहा—"बहुत दिनों से आपका इन्तजार था।" वह जरा माफी-सी मांगने लगा और कहने लगा कि कुसूर उसका नहीं है। वारण्ट कलकत्ता से आया था।

मैं पांच महीने और तेरह दिन बाहर रहा। और मैं फिर एकान्त और तनहाई में भेज दिया गया। लेकिन दुःख का असली भार मुझपर न था। वह तो हमेशा की तरह स्त्रियों पर

ही था——मेरी बीमार माता पर, मेरी पत्नी और मेरी बहन पर।

: ४४ :

अलीपुर-जेल

"फेंक यकायक कहां दिया है इतनी दूर मुझे लाकर !
कबतक यों टकराना होगा इन अदृष्ट की लहरों पर ?
किधर खींच ले जावेंगे अब झोंकों के ये उलझे तार,
दिखता नहीं प्रकाश, न जाने कहा लगेगी किश्ती पार !"[1]

उसी रात को मैं कलकत्ता ले जाया गया। हावड़ा स्टेशन से लालबाजार पुलिस-थाने तक मुझे एक बड़ी काली मोटर-लारी में बिठाकर ले गये। कलकत्ता पुलिस के मशहूर प्रधान कार्यालय के बारे में मैंने बहुत-कुछ पढ़ रक्खा था। अतः मैं उस जगह को बड़े चाव से देखने लगा। यहां अंग्रेज सार्जेण्ट और इन्सपैक्टर इतनी बड़ी तादाद में मौजूद थे, जितने उत्तर-भारत के किसी भी बड़े पुलिस थाने में नहीं हैं। वहां के सिपाही अक्सर सभी बिहार और संयुक्त प्रांत के पूर्वी जिलों के थे। अदालत से जेल या एक जेल से दूसरी जेल जाने के लिए मुझे कई बार जेल की लारी में जाना पड़ता था और हर दफा इनमें से कई सिपाही लारी के भीतर मेरे साथ जाते थे। वे जरूर ही कुछ दुःखी मालूम होते थे। उनको यह काम पसंद न था और स्पष्टतः वे मेरे साथ बड़ी हमदर्दी-सी रखते थे। मैंने देखा कि कई बार उनकी आंखों में आंसू छलक पड़ते थे।

मुझे शुरू में प्रेसीडेंसी जेल में रक्खा गया और वहीं से मुझे अपने मुकदमे के लिए चीफ प्रेसीडेंसी मैजिस्ट्रेट की अदालत में ले जाया जाता था। यह अदालत मेरे लिए एक नया तजुर्बा था।

---

[1] रॉबर्ट ब्राउनिंग की कविता का भावानुवाद ।

अदालत का कमरा और इमारत साधारण अदालत की-सी नहीं बल्कि एक घिरे हुए किले-जैसी थी। सिवा कुछ अखबारवालों और वहीं के वकीलों के बाहर का कोई आदमी उसके आस-पास नहीं फटकने दिया जाता था। पुलिस वहां काफी तादाद में जमा थी। यह सब बन्दोबस्त कोई मेरे लिए नया नहीं किया गया था, यह तो वहां का हमेशा का दस्तूर है। अदालत के कमरे में जाने के लिए मुझे दूसरे कमरे में होते हुए एक लम्बे रास्ते से जाना पड़ता था, जिसके ऊपर और दोनों तरफ जालियां पड़ी हुई थीं। मानों किसी पिंजड़े में से निकल रहे हों। मुलजिम का कटघरा हाकिम की कुर्सी से कुछ दूर था। कमरा पुलिसवालों और काले कोट और चोंगेवाले वकीलों से भरा हुआ था।

मुझे अदालती मुकदमों से काफी काम पड़ चुका है। मेरे पहले के कई मुकदमे जेल के भीतर हो चुके हैं; परन्तु उन सब मौकों पर मेरे साथ दोस्त, रिश्तेदार और जान-पहचानवाले रहते थे, इस कारण वहां का वातावरण मेरे लिए कुछ सरल जान पड़ता था। पुलिस अधिकतर गौणरूप में होती थी और वहां पिंजड़े वगैरा नजर न आते थे। यहां तो बात ही दूसरी थी, चारों तरफ अजनबी और बिना जान-पहचान की शक्लें नजर आती थीं, जिनमें और मुझमें कुछ भी साम्य नहीं दीखता था। वे लोग मुझे बहुत पसंद भी नहीं आये।

मुकदमा शुरू होने के पहले जब मैं बाहर झरोखे में बैठा रहता था तब भी मुझे अकेलापन और सुनसान मालूम पड़ता था। मेरी नब्ज जरूर तेज हो गई होगी और मेरा दिल इतना शान्त नहीं था जैसा पहले के मुकदमों के समय रहता था। मुझे तब खयाल आया कि जब इतने मुकदमों और सजाओं का तजुर्बा होते हुए भी मुझपर परिस्थिति की अजीब प्रतिक्रिया का असर हुए बिना न रहा तो ऐसी हालत में नातजुर्बेकार नौजवानों पर परिस्थिति का कितना बड़ा भार पड़ता होगा!

कटघरे में मेरा चित्त बहुत-कुछ शान्त मालूम हुआ। हमेशा की तरह कोई सफाई पेश नहीं की गई और मैंने अपना एक छोटा-सा बयान पढ़कर सुना दिया। दूसरे दिन अर्थात् १६ फरवरी को मुझे दो बरस की सजा हो गई और इस तरह मेरी सातवीं सजा शुरू हुई।

अपनी साढ़े पांच महीने की रिहाई के समय का बाहरी जीवन मुझे संतोषप्रद मालूम हुआ। इस अर्से में मैं काम में काफी लगा रहा और कई जरूरी काम पूरे कर सका। मेरी माता की बीमारी ने पलटा खा लिया था और अब वह खतरे से बाहर हो चलीं थीं। मेरी छोटी बहन कृष्णा की शादी हो चुकी थी, मेरी लड़की की आगे की शिक्षा का सिलसिला ठीक बैठ गया था। मैंने भी अपनी घर-गृहस्थी की ओर कई आर्थिक मुश्किलों को हल कर लिया और कई घरेलू मामले, जिनको मैं अर्से से भुला रहा था, सुलझा लिये थे। सार्वजनिक मामलों में तो मैं जानता था कि उस समय किसीके लिए भी कुछ विशेष कर लेना सहज न था। हां, मैंने कांग्रेस की ताकत को मजबूत कर उसका रुख सामाजिक और आर्थिक विचारों के मार्ग की ओर मोड़ने में जरूर कुछ मदद की। गांधीजी के साथ मेरे पूना के पत्र-व्यवहार और बाद में अखबारों में निकले लेखों ने हालत को कुछ बदल दिया था। साम्प्रदायिक मसले पर भी मेरे लेखों ने कुछ असर ही किया। इसके अलावा, दो बरस से ज्यादा अर्से के बाद, मैं गांधीजी और दूसरे मित्रों और साथियों से भी मिल लिया और कुछ समय तक जेल-जीवन बिताने के लिए मैंने दिली व दिमागी शक्ति जुटा ली थी।

पर मेरे मन को दुखी करनेवाली एक बात तो अब भी बाकी थी और वह थी कमला की बीमारी। मुझे उस वक्त तक उसकी बीमारी की गहराई का अन्दाजा न था, क्योंकि उसकी आदत थी कि जबतक वह बिस्तर न पकड़ लेती, तबतक काम

में अपनी बीमारी को भुलाती ही रहती। लेकिन मुझे बड़ी फिक्र थी। इसपर भी मुझे उम्मीद थी कि अब मेरे जेल चले जाने के बाद तो वह मन लगाकर अपना इलाज करायगी। मेरे बाहर रहने पर वह कुछ-कुछ कठिन था, क्योंकि वह मुझे ज्यादा समय के लिए अकेला छोड़ने को सहसा तैयार नहीं होती थी।

लेकिन एक बात का और भी मुझे दुःख रह गया था। वह यह था कि इलाहाबाद जिले के गांवों में मैं एक बार भी दौरा न कर सका था। मरे कई नवयुवक साथी हमारी नीति पर कार्य करते हुए गिरफ्तार हो गये थे। इस कारण उनके बाद गांवों की खबर न लेना मुझे एक तरह से उनके प्रति बेवफा-सा होना मालूम होता था।

काली मोटर लारी ने मुझे फिर जेल में पहुचा दिया। रास्ते में कई फौजी सिपाही मशीनगनों, फौजी गाड़ी (आर्मर्ड-कार) वगैरा के साथ मार्च करते हुए मिले। जेल की लारी के छोटे सुराखों में से मैंने उनकी ओर देखा। मेरे दिल में खयाल आया कि फौजी गाड़ी और टैंक कितने भद्दे होते हैं। उन्हें देखकर मुझे इतिहास से पूर्वकाल के दानवों, अजगरों इत्यादि का स्मरण हो आया।

मेरा तबादला प्रेसीडेंसी जेल से अलीपुर सेण्ट्रल जेल में हो गया और वहां मुझे एक दस फुट लम्बी और नौ फुट चौड़ी छोटी-सी कोठरी दी गई। इस कोठरी के सामने एक बरामदा और छोटा-सा सहन था। सहन की चारदीवारी नीची, करीब सात फुट की थी और उसपर से झांककर देखने पर मेरे सामने एक अजीब दृश्य दिखाई दिया। सब तरह की बेढंगी इमारतें इकमंजिली, गोल, चौकोर और अजीब छतोंवाली खड़ी थीं। कई तो एक के ऊपर एक नजर आती थीं। ऐसा मालूम होता था कि ये सब इमारतें बेतरतीब, जमीन का एक-एक कोना-भरने के लिए बनाई गई थीं। यह बनावट मुझे तो किसी घरोंदे की भूल-भुलैयाँ या किसी भविष्यवादी की हवाई रचना-सी

मालूम होती थी। मुझे बताया गया कि ये इमारतें बड़े सिलसिले से बनी हुई हैं, बीच में एक मीनार है (जो ईसाई क़ैदियों का गिर्जा है) और उसके चारों तरफ घरों की लाइनें हैं। चूंकि यह जेल शहर में था, इस वजह से जमीन बहुत परिमित थी और उसका छोटे-से-छोटा टुकड़ा भी काम में लाये बिना छोड़ा नहीं जा सकता था।

मैं अभी इस भोंड़े दृश्य को देखकर नजर हटा ही रहा था कि मुझ एक दूसरा डरावना दृश्य दीख पड़ा। मेरी कोठरी और सहन के ठीक सामने दो चिमनियां खड़ी दिखाई दीं, जिनमें से लगातार गहरा काला धुआं निकल रहा था, जिसकी हवा कभी-कभी मेरी तरफ आकर मेरा दम घोटने लगती थी। ये जेल के बावर्चीखानों की चिमनियां थीं। मैंने बाद में जेल के सुपरिण्टेंडेंट से कहा कि इस मुसीबत से मुझे बचाने के वास्ते चिमनियों पर 'गैस-मास्क' लगा दें।

यह शुरूआत ही अच्छी न थी और न इसके आइन्दा अच्छा होने की ही उम्मीद थी—वही अलीपुर-जेल की अपरिवर्तनीय लाल ईंटों की इमारतों का दृश्य, और वही बावर्चीखानों की चिमनियों का धुआं रात-दिन सांस से मुंह में जाना, सामने था। मेर सहन म पेड़ या हरियाली कुछ न थी। वह यों तो पत्थरों का पक्का और साफ बना हुआ था, पर रोज-रोज धुआं जम जाने की वजह से बड़ा भद्दा और बदनुमा मालूम होता था। वहीं से पड़ोस वाले सहनों के एक-दो दरख्तों के ऊपर के सिरे कुछ-कुछ नजर आते थे। मेरे जेल में पहुंचने पर वे दरख्त बिना पत्ते और फूलों के ठूंठ-से खड़े थे; पर धीरे-धीरे उनमें एक अजीब तब्दीली होनी शुरू हुई और सब शाखाओं में हरी-हरी कोपलें निकलने लगीं। कोपलों में से पत्ते निकले और बड़ी जल्दी बढ़कर उन्होंने नंगी शाखाओं को खुशनुमा हरियाली से ढक दिया। यह तबदीली बड़ी सुखद मालूम हुई और अलीपुर-जेल भी मेरे लिए खुशनुमा हो गया।

इनमें से एक पेड़ में चील का घोंसला था। इसमें मुझे दिलचस्पी पैदा हुई और मैं बड़े चाव से उसे देखा करता था। छोटे-छोटे बच्चे बढ़-बढ़कर उड़ने की अपनी पैतृक कला सीख गये। कभी-कभी तो ऐसी हैरत में डालने वाली होशियारी से उड़कर झपटते कि सीधे किसी कैदी के हाथ या मुंह में से रोटी का टुकड़ा झपट लेते।

करीब-करीब शाम से सुबह तक मुझे अपनी कोठरी में बन्द रहना पड़ता था और जाड़े की लम्बी रातें काटे नहीं कटती थीं। घण्टों पढ़ते-पढ़ते थककर मैं अपनी कोठरी में इधर-उधर टहलना शुरू कर देता, चार-पांच कदम आगे बढ़कर फिर लौटना पड़ता। उस वक्त मुझे चिड़ियाघर में रीछ के अपने पिंजरे में इधर-से-उधर चक्कर काटने का दृश्य याद आ जाता था। कभी-कभी जब मैं बहुत ऊब उठता तो अपना प्रिय शीर्षासन करने लगता था।

रात का पहला पहर तो काफी शान्त होता था केवल शहर की मुख्तलिफ आवाजें——ट्राम, ग्रामोफोन या दूर से किसीके गाने की लहर——धीरे-धीरे पहुंचती थी। दूर से आते हुए, धीमे गानों की यह आवाज मधुर मालूम पड़ती थी। पर रात में चैन नहीं था, क्योंकि जेल के पहरेदार इधर-उधर टहलते रहते थे और हर घंटे कोई-न-कोई मुआयना होता रहता था। लालटेन हाथ में लिए कोई अफसर यह देखने आता कि कोई कैदी भाग तो नहीं गया है। हर रोज तीन बजे रात से बड़ा शोर-गुल मचना और बर्तन घिसने व मांजने की आवाज आती। उस वक्त रसोई में काम शुरू हो जाता था।

सुहावनी शरद-ऋतु जल्द बीत गई। वसन्त भी भागता हुआ-सा निकल गया और गर्मी आ पहुंची। दिन-दिन गर्मी बढ़ती गई। मुझे कलकत्ते की आबहवा कभी पसंद न थी और कुछ दिनों के वहां रहने ने ही मुझे निस्तेज और उत्साह-हीन बना दिया। जेल में तो हालत कुदरती तौर पर और भी बुरी होती

है। समय बीतता गया और मेरी हालत में कोई तरक्की नहीं हुई। शायद कसरत के लिए जगह की कमी होने और ऐसी आबहवा में कई घंटों कोठरी में बन्द रहने से मेरी सेहत कुछ गिर गई और मेरा वजन तेजी से घटने लगा। मुझे तालों, चटखनियों, सीखचों और दीवारों से नफरत-सी होने लग गई।

अलीपुर-जेल में एक महीना रहने के बाद मुझे अपने सहन के बाहर कुछ कसरत करने की सहूलियत दी गई। यह तबदीली मुझे पसंद आई और मैं सुबह-शाम जेल की बड़ी दीवार के सहारे घूमने लगा। धीरे-धीरे मैं अलीपुर-जेल और कलकत्ता की आबहवा का आदी हो गया, और रसोईघर भी मय उसके धुएं और शोर-गुल के, बर्दाश्त करने लायक बुराई हो गई।

: ४५ :

फिर देहरादून-जेल

लेकिन अलीपुर-जेल में मेरी तन्दुरुस्ती ठीक नहीं रहती थी, मेरा वजन बहुत घट चुका था और कलकत्ते की हवा और दिन-दिन बढ़ती हुई गर्मी मुझे परेशान कर रही थी। अफवाह थी कि मुझे किसी अच्छी आबहवावाली जगह में भेजा जायगा। ७ मई को मुझसे अपना सामान समेटने और जेल से बाहर चलने को कहा गया। मैं देहरादून-जेल भेजा जा रहा था। कुछ महीनों की तनहाई के बाद शाम की ठंडी-ठंडी हवा में कलकत्ता के बीच होकर गुजरना पड़ा अच्छा मालूम होता था और हावड़ा क आलीशान स्टेशन पर लोगों की भीड़ भी भली मालूम होती थी।

मुझे अपने इस तबादले पर खुशी थी और मैं देहरादून और उसके आस-पास के पहाड़ों को देखने को उत्सुक था। लेकिन वहां पहुंचने पर देखा कि नौ महीने पहले, नैनी जाते समय जैसा मैंने उसे छोड़ा था, वह सब हालत अब नहीं रही है। मैं अब एक नए

स्थान पर रखा गया, जो मवेशियों के रहने की जगह को साफ करके ठीक की गई थी।

कोठरी की शकल में वह कुछ बुरी नहीं थी। उसके साथ एक छोटा-सा बरामदा भी था। उसीसे लगा हुआ करीब पचास फुट लम्बा सहन था। देहरादून में पहली बार मुझे जो पुरानी कोठरी मिली थी, उससे यह अच्छी थी। लेकिन शीघ्र ही मुझे मालूम हुआ कि दूसरी तब्दीलियां कुछ अच्छी न थीं। घेरे की दीवार, जो दस फुट ऊंची थी, खासकर मेरे कारण उस वक्त चार या पांच फुट और बढ़ा दी गई थी। इससे पहाड़ियों के जिस दृश्य की मैं इतनी आशा लगाये था, वह बिल्कुल छिप गया था और मैं सिर्फ कुछ दरख्तों के सिरे ही देख पाता था। मैं इस जेल में लगभग तीन महीने से ज्यादा रहा; लेकिन मुझे कभी पहाड़ों की झलक तक नहीं दिखाई दी। पहली बार की तरह, इस बार मुझे बाहर जेल के दरवाजे के सामने, घूमने की इजाजत न थी। मेरा छोटा-सा आंगन ही कसरत के लिए काफी बड़ा समझा गया था।

ये तथा दूसरी नई बन्दिशें नाउम्मेदी पैदा करनेवाली थीं, जिनसे मैं खीझ गया। मैं अनमना हो गया और अपने आंगन में जो थोड़ी-बहुत कसरत कर सकता था, उसतक के करन को तबीयत न रही। शायद ही मैंने कभी अपनेको इतना अकेला और दुनिया से जुदा महसूस किया हो। एकान्त कारावास का मेरी तबीयत पर खराब असर होने लगा और मेरा शरीर तथा मन गिरने लगा। मैं जानता था कि दीवार की दूसरी तरफ कुछ फुट की दूरी पर वायुमंडल में ताजगी और सुगन्ध भरी है, घास और नम धरती की ठंडी-ठंडी महक फैल रही है और दूर-दूर तक के दृश्य दिखाई पड़ते हैं। लेकिन यह सब मेरी पहुंच के बाहर थे और बार-बार उन्हीं दीवारों को देखते-देखते मेरी आँखें पथरा जाती थीं। वहां पर जेल की मामूली चहल-पहल तक न थी,

क्योंकि मैं सबसे अलग और अकेला रखा गया था।

छह हफ्ते बाद मूसलाधार वर्षा हुई; पहले हफ्ते में बारह इंच पानी बरसा। हवा बदली और नवजीवन का संचार हुआ। गर्मी कम हुई और शरीर हल्का हुआ और आराम-सा मालूम होने लगा। लेकिन आँखों या दिमाग को कुछ आराम न मिला। जेल के वार्डर के आने-जाने के लिए जब कभी मेरे सहन का लोहे का दरवाजा खुलता था तो एक क्षण के लिए बाहरी दुनिया की झलक, लहराते हुए हरे-भरे खेत और रंग-बिरंगे वृक्ष, जिनपर मेह की बूंदें मोती की तरह चमकती थीं, बिजली के कौंध की भांति अकस्मात् दिखाई देकर तत्काल छिप जाती थीं। दरवाजा शायद ही कभी पूरा खुलता हो। सिपाहियों को खास-तौर पर हिदायत थी कि अगर मैं कहीं नजदीक होऊं तो वह न खोला जाय और वे जब कभी खोलते भी थे तो बस, जरा-सा ही। हरियाली और ताजगी की ये थोड़ी-थोड़ी झाँकियां अब मुझे अच्छी नहीं लगती थीं, इन्हें देखकर मुझे घर की याद हो आती थी और दिल में एक दर्द-सा उठता था; इसलिए जब कभी दरवाजा खुलता तो मैं बाहर की तरफ नहीं देखता था।

लेकिन यह सब परेशानी असल में जेल की ही वजह से नहीं थी। यह तो बाहरी घटनाओं का असर था। मुझे सताने के लिए एक तरफ तो कमला की बीमारी थी और दूसरी तरफ से मेरी राजनैतिक चिन्ताएं। मुझे ऐसा दिखाई दे रहा था कि कमला को उसकी पुरानी बीमारी ने फिर आ दबाया है। मैं उसकी कोई भी सेवा करने के अयोग्य हूं, यह विचार दुःख देने लगा। मैं जानता था कि मैं कमला के पास होता तो अवस्था बहुत कुछ बदल जाती।

सरकार ने कांग्रेस पर से बन्दिशें हटा लीं और वह कानूनी संस्था बन गई। लेकिन इसकी बहुत-सी सहायक-संस्थाएं फिर भी गैर-कानूनी बनी रहीं, जैसे कि कांग्रेस का स्वयं-सेवक विभाग—

सेवादल और कई स्वतन्त्र किसान-सभाएं, शिक्षण-संस्थाएं और नौजवान-सभाएं, जिनमें एक बच्चों की संस्था भी थी। खासतौर पर 'खुदाई खिदमतगार' या सरहदी लाल कुर्तीवाले फिर भी गैर-कानूनी बने रहे। यह संस्था १९३१ में कांग्रेस की एक अंग बन गई थी और सरहदी सूबे में उसकी तरफ से काम करती थी। इस तरह हालांकि कांग्रेस ने सीधी लड़ाई पूरी तरह स्थगित कर दी थी और वैध ढंग अख्तियार कर लिया था, फिर भी सरकार ने सत्याग्रह के लिए जो खास कानून बनाये थे, वे सब-के-सब कायम रखे और कांग्रेस-संगठन की महत्त्वपूर्ण संस्थाओं पर पाबन्दियां जारी रखीं। किसानों और मजदूरों की संस्थाओं को दबाने की तरफ भी खास ध्यान दिया गया। मजेदार बात तो यह थी कि साथ-ही-साथ बड़े-बड़े सरकारी अफसर घूम-घूमकर जमींदारों और ताल्लुकेदारों को संगठित करने लगे। जमींदारों की इन संस्थाओं को हर तरह की सहूलियत दी गई। युक्तप्रान्त की इन संस्थाओं में से बड़ी-बड़ी दो संस्थाओं का चन्दा लगान के साथ सरकारी आदमियों ने इकट्ठा किया।

सरकार की तरफ से विजय का वातावरण स्पष्ट रूप से प्रकट था। उसकी दृष्टि से उसकी यह जीत उसकी सविनय-भंग तथा उसकी अन्य शाखाओं को दबा देने की नीति के फलस्वरूप हुई थी। आपरेशन तो सफलतापूर्वक हो ही गया था। फिर उस समय यह क्यों चिन्ता होने लगी कि मरीज जियेगा या मरेगा। हालांकि उस वक्त कांग्रेस किसी हद तक दबा दी गई थी, फिर भी सरकार कुछ मामूली हेर-फेर के साथ अपनी दमन-नीति वैसे ही जारी रखना चाहती थी। वह जानती थी कि जबतक असंतोष का आधारभूत कारण मौजूद है, तबतक राष्ट्रीय नीति में इस प्रकार के परिवर्तन क्षणिक ही हो सकते हैं, और इसलिए उसने यदि अपनी नीति में जरा भी ढिलाई की तो आन्दोलन तेजी पकड़ सकता है। वह शायद यह भी समझती थी कि कांग्रेस अथवा मजदूर या किसान-वर्ग में से अधिक गरम विचार-

वालों को दबाने की नीति जारी रखने में कांग्रेस के फूंक-फूंककर चलनेवाले नेताओं के बहुत अधिक नाराज होने की कोई आशंका नहीं है।

देहरादून-जेल में मेरे विचारों का प्रवाह किसी हद तक इसी प्रकार का था। परिस्थिति के संपर्क में न होने के कारण वास्तव में मैं घटना-चक्र के संबंध में अपना निश्चित मत बनाने की स्थिति में न था। अलीपुर में तो मैं परिस्थिति से बिलकुल ही अपरिचित था। देहरादून में मुझे सरकार की पसंद के अखबार के जरिये अधूरी और कभी-कभी बिलकुल एकतरफा खबरें मिलने लगी थीं। अपने बाहर के साथियों के सम्पर्क में आने और परिस्थिति के निकट अध्ययन से मेरे विचारों में किसी हद तक परिवर्तन होना बहुत मुमकिन था।

वर्तमान परिस्थिति से परेशान होकर मैं भूतकाल की बातों का, जबसे मैंने सार्वजनिक कार्यों में कुछ भाग लेना शुरू किया, तबसे हिन्दुस्तान की राजनीतिक घटनाओं का अवलोकन करने लगा। हमने जो कुछ किया, उसमें हम किस हद तक सही रास्ते पर थे? किस हद तक गलती पर थे? उसी समय मुझे यह सूझा कि मैं अपने विचारों को अगर कागज पर लिखता जाऊं तो वे अधिक व्यवस्थित और उपयोगी होंगे। इससे मुझे अपने दिमाग को एक निश्चित काम में लगाये रखने से उसे चिन्ता और परेशानी से दूर रखने में भी सहायता मिलेगी। इस तरह जून सन् १९३४ में देहरादून-जेल में मैंने अपनी यह कहानी लिखनी शुरू की और आठ महीने तक, जबतक इसकी धुन सवार रही, लिखता रहा। अक्सर ऐसे मौके आये जब मुझे लिखने की इच्छा न हुई। तीन बार ऐसा हुआ कि महीने-महीने भर तक मैं न लिख सका। लेकिन मैंने इसे जारी रखने की कोशिश की और अब मैं इस निजी यात्रा की समाप्ति के निकट पहुंच चुका हूं। इसका अधिकांश एक अजीब परेशानी की हालत में लिखा गया है, जबकि मैं उदासी और मानसिक चिन्ताओं

से दबा हुआ था। शायद इसकी थोड़ी-सी झलक, जो कुछ मैंने लिखा, उसमें आ गई है; लेकिन इस लिखने ने ही मुझे वर्तमान चिन्ताओं को भुलाने में बड़ी सहायता दी। जब मैं इसे लिख रहा था, मुझे बाहर के पाठकों का बिलकुल खयाल न था, मैं अपने-आपको सम्बोधन करता था और अपने लाभ के प्रश्न बनाकर उनके उत्तर देता था। कभी-कभी तो उससे मेरा कुछ मनोरंजन भी हो जाता था। यथासम्भव मैं बिना किसी लागलपेट के स्पष्ट विचार करना चाहता था और मैं सोचता था कि शायद भूतकाल का यह सिंहावलोकन मुझे इस काम में सहायक होगा।

आखिरी जुलाई के करीब कमला की हालत बड़ी तेजी से बिगड़ने लगी और कुछ ही दिनों में वह नाजुक हो गई। ११ अगस्त को मुझसे एकाएक देहरादून जेल छोड़ने को कहा गया और उस रात को मैं पुलिस की निगरानी में इलाहाबाद भेज दिया गया। दूसरे दिन शाम को हम इलाहाबाद के प्रयाग स्टेशन पर पहुंचे और वहां मुझसे जिला मजिस्ट्रेट ने कहा कि मैं अस्थायी तौर पर रिहा किया जा रहा हूं, जिससे मैं अपनी बीमार पत्नी को देख सकूं। मेरी गिरफ्तारी का छठवां महीना पूरा होने में एक दिन बाकी रह गया था।

: ४६ :

ग्यारह दिन

"स्वयं काटकर जीर्ण म्यान को दूर फैंक देती तलवार,
इसी तरह चोला अपना यह रख देता है जीव उतार।"[1]

मेरी रिहाई आरजी थी। मुझे बता दिया गया था कि मेरी रिहाई एक या दो दिन के लिए, या जबतक डाक्टर बिलकुल जरूरी समझें, तबतक के लिए है। अनिश्चिय से भरी हुई यह

---

[1] बायरन के मूल अंग्रेजी पद्य का भावानुवाद

एक अजीब स्थिति थी और मेरे लिए कुछ निश्चित कर सकना मुमकिन न था। एक निश्चित अवधि होती तो मैं जान सकता था कि मेरी क्या स्थिति है और मैं अपने आपको उसके अनुकूल बनाने की कोशिश करता। मौजूदा हालत जैसी थी, उसमें तो मैं किसी भी दिन, जेल को वापिस भेज दिया जा सकता था।

परिवर्तन आकस्मिक था और मैं उसके लिए जरा भी तैयार न था। कैद की तनहाई से मैं एकदम डाक्टरों, नर्सों और रिश्तेदारों से भरे घर पर पहुंचाया गया। मेरी लड़की इन्दिरा भी शान्ति-निकेतन से आ गई थी। मुझसे मिलने और कमला की हालत दरियाफ्त करने के लिए बहुत-से मित्र बराबर आते जा रहे थे। रहन-सहन का ढंग भी बिल्कुल जुदा था, घर के सब आराम थे और अच्छा खाना था। वह सब कुछ होते हुए भी कमला की खतरनाक हालत की चिन्ता परेशान कर रही थी।

उसके शरीर में केवल हड्डियां रह गई थीं और वह अत्यंत कमजोर हो गई थी। उसका शरीर छाया-मात्र मालूम पड़ता था। वह बहुत कमजोर हालत में रोग से टक्कर ले रही थी और यह खयाल कि शायद वह मुझे छोड़ जायगी, असह्य वेदना देने लगा। इस समय हमारी शादी को साढ़े अठारह साल हुए थे। मेरे मन में उस दिन से लेकर आज तक के बरसों की सुधि आने लगी। शादी के वक्त मैं छब्बीस साल का था और वह करीब सत्रह बरस की। वह सांसारिक बातों से सर्वथा अनभिज्ञ निरी अबोध बालिका थी। हमारी उम्र में काफी फर्क था और उससे भी अधिक फर्क हमारे मानसिक दृष्टि-बिन्दु में था, क्योंकि उसकी बनिस्बत मेरी उम्र कहीं ज्यादा थी। पर ऊपर से गम्भीर होते हुए भी मुझमें बड़ा लड़कपन था और मैंने शायद ही कभी यह महसूस किया हो कि इस सुकुमार और भावुक बाला का मस्तिष्क फूल की तरह धीरे-धीरे विकसित हो रहा है और उसे सहृदयता और होशियारी के साथ सहारा देने की आवश्यकता है। हम दोनों एक-दूसरे की तरफ

आकर्षित हो रहे थे और काफी अच्छी तरह हिल-मिल गये; लेकिन हमारा दृष्टि-पथ जुदा-जुदा था और एक-दूसरे में अनुकूलता का अभाव था। इस विपरीतता के कारण कभी-कभी आपस में संघर्ष तक की नौबत आ जाती थी; और कई बार छोटी-छोटी बातों पर बच्चों के-से छोटे-छोटे झगड़े भी हो जाया करते थे, जो ज्यादा देर तक न टिकते थे, और तुरन्त ही मेल-मिलाप होकर समाप्त हो जाते थे। दोनों का स्वभाव तेज था, दोनों ही तुनक-मिजाज थे और दोनों में ही अपनी शान रखने की बच्चों की-सी जिद थी। इतने पर भी हमारा प्रेम बढ़ता गया, हालांकि परस्पर मानसिक भेद धीरे-धीरे कम हुआ। हमारी शादी के इक्कीस महीने बाद हमारी लड़की और एकमात्र सन्तान इन्दिरा पैदा हुई।

हमारी शादी के बिलकुल साथ-ही-साथ देश की राजनीति में अनेक नई घटनाएँ हुईं और उनकी ओर मेरा झुकाव बढ़ता गया। वे होमरूल के दिन थे। उनके पीछे फौरन ही पंजाब के मार्शल-ला और असहयोग का जमाना आया और मैं सार्वजनिक कामों के आंधी-तूफानों में अधिकाधिक फंसता ही गया। इन आन्दोलनों में मेरी तल्लीनता इतनी बढ़ गई थी कि ठीक उसी समय जबकि उसे मेरे पूरे सहयोग की आवश्यकता थी, मैंने अनजान में उसे बिलकुल नजरअन्दाज कर, उसे अपने निज के भरोसे छोड़ दिया। उसके प्रति मेरा प्रेम बराबर बना रहा; बल्कि बढ़ता गया, और वह अपने प्रेमपूर्ण हृदय से मुझे सहायता देने को सदा तैयार है, यह जानकर मन को बड़ी सान्त्वना मिलती थी। उसने मुझे बल दिया; लेकिन साथ ही उसे मानसिक व्यथा भी होती रही होगी और अपने प्रति मेरी कुछ लापरवाही उसे खटकती रही होगी। इस तरह उसे भूला-सा रहना और कभी-कदास उसकी सुध लेने के बजाय यदि उसपर मेरी अकृपा रही होती तो यह किसी कदर अच्छा होता।

इसके बाद उसकी बीमारी का दौरा शुरू हुआ और मेरा लम्बा

जेल-निवास। हम केवल जेल की मुलाकात के समय ही मिल पाते थे। सत्याग्रह-आन्दोलन ने उसे सैनिकों की प्रथम पंक्ति में ला खड़ा किया और वह स्वयं जेल जाने पर बड़ी खुश हुई। हम एक-दूसरे के और भी निकट आते गये। कभी-कभी होनेवाली ये मुलाकातें अनमोल होती गईं; हम उनकी बाट जोहते रहते थे और बीच के दिन गिनते रहते थे। हम आपस में एक-दूसरे से उकताते न थे और हमारी बातें नीरस नहीं हुआ करती थीं, क्योंकि हमारी मुलाकातें और थोड़ी देर के मिलन में हमेशा कुछ-न-कुछ ताजगी और नवीनता बनी रहती थी। हम दोनों बराबर एक-दूसरे में नई-नई बातें पाते रहते थे। हालांकि कभी-कभी ये बातें शायद हमारी पसन्द की न होती थीं। हमारी बढ़ती हुई उम्र के इन मतभेदों में भी लड़कपन की मात्रा रहती।

वैवाहिक जीवन के अठारह बरस बाद भी उसके मुख पर मुग्धा कुमारी का भाव अभी तक वैसा ही बना हुआ था, प्रौढ़ता का कोई चिन्ह न था। प्रथम दिन नववधू बनकर वह जैसी हमारे घर आई थी, अब भी बिलकुल वैसी ही मालूम होती थी। लेकिन मैं बहुत बदल गया था और हालांकि अपनी उम्र के मुताबिक मैं काफी योग्य, चपल और क्रियाशील था—और कुछ लोगों का कहना था कि अब भी मुझमें लड़कपन की कई सिफतें मौजूद हैं—फिर भी मेरे चेहरे से मेरी अधिक उम्र मालूम पड़ती थी। मेरे सिर के आधे बाल उड़ गए थे और जो बाकी थे वे पक गये थे, पेशानी पर सिलवटें, चेहरे पर झुर्रियां और आँखों के चारों तरफ काली झाईं पड़ गई थी। पिछले चार वर्षों की मुसीबतें और परेशानियां मुझपर अपने बहुत-से निशान छोड़ गई थीं। इन पिछले वर्षों में मैं और कमला जब कभी किसी नई जगह जाते तो मैं यह जानकर हैरान हो जाता था कि अक्सर कमला को मेरी लड़की समझ लिया जाता। वह और इन्दिरा सगी बहनें-सी दिखाई देती थीं।

वैवाहिक-जीवन के अठारह बरस! लेकिन इनमें से कितने

साल मैंने जेल की कोठरियों में और कमला ने अस्पतालों और सेनिटोरियम में बिताये ? और फिर इस समय भी मैं जेल की सजा भुगतता हुआ कुछ ही दिनों के लिए बाहर आ गया था और वह बीमार पड़ी हुई जीवन के लिए संघर्ष कर रही थी। अपनी तन्दुरुस्ती के बारे में उसकी लापरवाही पर कुछ झुंझलाहट-सी आई। लेकिन फिर भी मैं उसे दोष किस तरह दे सकता था, क्योंकि राष्ट्रीय युद्ध में पूरा हिस्सा लेने में अशक्त होने के कारण उसकी तेजस्वी आत्मा छटपटाती रहती थी। शरीर से समर्थ न होने के कारण न तो वह ठीक तरह से काम ही कर सकती थी, न ठीक तौर पर अपना इलाज ही करा सकती थी। नतीजा यह हुआ कि अन्दर-ही-अन्दर सुलगती रहनेवाली आग ने उसके शरीर को खा डाला।

सचमुच ही इस समय, जबकि मुझे उसकी सबसे अधिक आवश्यकता है, वह मुझे छोड़ तो न जायगी। अरे, अभी-अभी तो हम दोनों ने एक-दूसरे को ठीक तरह से पहचानना और समझना शुरू किया है। हम दोनों को एक-दूसरे पर कितना भरोसा था, हम दोनों को एक-साथ रहकर अभी कितना काम करना था।

प्रतिदिन और प्रति घंटे उसकी हालत देख-देखकर मेरे दिल में इस तरह के विचार उठते रहते थे।

साथी और मित्र मुझसे मिलने आये। अभीतक जो कुछ हो चुका था और जिससे कि मैं वाकिफ नहीं था, उसके बारे में उन्होंने बहुत-कुछ कहा। उन्होंने वर्तमान राजनैतिक समस्याओं के बारे में मुझसे चर्चा की और प्रश्न पूछे। मुझे उन्हें जवाब देना मुश्किल मालूम हुआ। कमला की बीमारी का खयाल दिमाग से दूर होना आसान न था और तनहाई और जेल की जुदाई के कारण मैं इस स्थिति में नहीं था कि इन सब ठोस प्रश्नों का जवाब एकाएक दे सकता। अपने लम्बे तजुर्बे ने मुझे यह सिखाया है कि जेल में मिली हुई मुख्तसिर-सी जानकारी से स्थिति का ठीक-ठीक अन्दाजा नहीं

लगाया जा सकता। अच्छी तरह सोचने-समझने के लिए व्यक्तिगत सम्पर्क जरूरी था, उसके बगैर राय जाहिर करना सर्वथा किताबी और असलियत से दूर होता। साथ ही, गांधीजी और कांग्रेस वर्किंग कमेटी के अपने पुराने साथियों के साथ सब बातों पर चर्चा करने से पहले कांग्रेस की नीति के सम्बन्ध में कुछ निश्चित राय जाहिर करना, मुझे उनके प्रति अन्याय मालूम हुआ। जो कुछ हो चुका था उसपर मेरे मन में बहुत-सी आलोचना भरी हुई थी; लेकिन मैं कुछ निश्चित सूचनाएं देने के लिए तैयार न था। जेल से बाहर आने का कोई खयाल न होने के कारण उस दिशा में मैंने सोचा ही न था।

इसके साथ ही एक खयाल यह भी था कि सरकार ने मुझे अपनी पत्नी के पास आने देने की जो शिष्टता दिखाई है, उसको ध्यान में रखते हुए मेरे लिए यह मुनासिब न होगा कि इस मौके का मैं राजनीतिक बातों के लिए उपयोग करूं। हालांकि ऐसे कामों से दूर रहने की मैंने कोई शर्त या वादा नहीं किया था, फिर भी इस खयाल का मुझपर बराबर असर होता रहा।

मैंने कमला की हालत के बारे में गांधीजी को लिखा, क्योंकि मेरा खयाल था कि मैं जल्दी ही वापिस जेल चला जाऊंगा और मुमकिन है कि अपने दिल की बात जाहिर करने का फिर दूसरा मौका न मिले, इसलिए मेरे दिमाग में जो बातें घूम रही थीं उनकी भी कुछ-कुछ झलक उन्हें दे दी। हाल की घटनाओं ने मुझे बहुत अधिक सन्तप्त और परेशान कर दिया था और मेरे पत्र में उसकी एक हल्की-सी छाप थी। मैंने यह सूचित करने की कोशिश नहीं की थी कि क्या करना चाहिए और क्या नहीं? मैंने जो कुछ भी किया वह तो इधर की घटनाओं से मेरे दिल पर जो कुछ भी प्रतिक्रिया हुई थी उसका खुलासा भर था। वह पत्र क्या था, सर्वथा दबे हुए जोश का उबाल था और बाद में मुझे मालूम हुआ कि गांधीजी को उससे बहुत दुःख पहुंचा।

दिन-पर-दिन निकलते जाते थे और मैं जेल की तलबी या सरकार से किसी दूसरी इत्तिला मिलने का इन्तजार कर रहा था। समय-समय पर मुझसे यह कहा जाता कि आगे के लिए कल या परसों हिदायत जारी होनेवाली है। इस बीच डाक्टरों से यह कह दिया गया कि वे सरकार को कमला की हालत की रोजाना सूचना देते रहें। मेरे आने के बाद से कमला की हालत कुछ सुधर गई थी।

यह आम विश्वास था, यहांतक कि जो लोग साधारणतया सरकार के विश्वास-पात्र होने के कारण उसकी बातों की जानकारी रखते हैं, उनका भी यह खयाल था कि अगर दो बातों——एक तो अक्तूबर में बम्बई में कांग्रेस का अधिवेशन और दूसरे नवम्बर में असेम्बली का चुनाव——होनेवाला न होता तो मैं पूरी तरह रिहा कर दिया गया होता। जेल से बाहर रहने पर सम्भव है कि मैं इन कामों में बाधा डालूं, इसलिए सम्भवतः मैं तीन महीने के लिए वापस जेल भेज दिया जाऊंगा और उसके बाद छोड़ दिया जाऊंगा। मेरे जेल वापस न भेजे जाने की भी सम्भावना थी और जैसे-जैसे दिन निकलते जाते थे, यह सम्भावना बढ़ती जाती थी। मैंने करीब-करीब काम में लग जाने का निश्चय किया।

२३ अगस्त का दिन मेरे छुटकारे का ग्यारहवां दिन था। पुलिस की मोटर आई। पुलिस अफसर मेरे पास पहुंचा और मुझसे कहा कि मेरी अवधि समाप्त हो गई और मुझे उसके साथ नैनी-जेल के लिए रवाना होना होगा। मैंने अपने मित्रों से विदाई ली। जैसे ही मैं पुलिस की मोटर में बैठ रहा था, मेरी बीमार मां बाहें फैलाये हुए दौड़ी हुई आईं। उसकी वह मुखमुद्रा एक अर्से तक रह-रहकर मेरी नजरों में घूमती रही।

: ४७ :

फिर जेल में

मैं फिर नैनी-जेल के अन्दर दाखिल हो गया। मुझे ऐसा जान पड़ने लगा, जैसे मैं एक नई सजा की मियाद शुरू कर रहा हूं। कभी जेल के भीतर, कभी जेल के बाहर--मैं एक खिलौना-सा बना हुआ था। घड़ी में छूटना, घड़ी में पकड़ा जाना---यह आना-जाना हृदय को झकझोर डालता है और अपने-आपको बारम्बार नये परिवर्तनों के अनुकूल कर लेना बड़ा कठिन काम है। मैं आशा कर रहा था कि इस बार भी मुझे नैनी की उसी पुरानी कोठरी में रखा जायगा, जिसमें मैं अपनी पिछली लम्बी सजा काट चुका था। वहां थोड़े-से फूल के पेड़ थे, जिन्हें मेरे बहनोई रणजित पंडित ने शुरू में लगाया था और एक बरामदा भी था। लेकिन नम्बर ६ की उस पुरानी बैरक में, एक नजरबन्द को, जिसपर न तो कोई मुकदामा चलाया गया था, न कोई सजा दी गई थी, रख दिया गया था। यह उचित नहीं समझा गया कि मैं उसके सम्पर्क में आऊं, इसलिए मुझे जेल के दूसरे हिस्से में रखा गया, वह और भी अधिक अन्दर की तरफ था और उसमें फूल या हरियाली कुछ भी नहीं थी।

लेकिन मुझे अपने इस स्थान की इतनी चिन्ता नहीं थी, मेरा मन तो दूसरे स्थान पर था। मुझे डर था कि कमला की हालत में जो थोड़ा-सा सुधार आया है, वह मेरे दुबारा गिरफ्तार होने के समाचार से रुक जायगा। हुआ भी ऐसा ही। कुछ दिनों तक ऐसी व्यवस्था रही कि कमला की हालत के बारे में मुझे हर रोज डाक्टर का एक मुख्तसिर-सा बुलेटिन मिल जाया करता था। यह भी घूम-फिरकर मेरे पास पहुंचता था। डाक्टर टेलीफोन से पुलिस के सदर दफ्तर को सूचना देता और पुलिस उसे जेल तक पहुंचा देती। डाक्टरों और जेल के कर्मचारियों में सीधा सम्बन्ध मुनासिब नहीं समझा गया। दो सप्ताह तक तो मुझे यह सूचना नियमित और

कभी-कभी अनियमित रूप से मिलती रही और उसके बाद रोक दी गई, हालांकि कमला की हालत दिन-पर-दिन गिरती ही जा रही थी।

इन बुरे समाचारों तथा समाचारों की ऐसी प्रतीक्षा के कारण दिन काटे नहीं कटता था और रात और भी भीषण मालूम पड़ती थी। समय की गति मानो बिलकुल रुक गई हो या अत्यन्त सुस्ती से सरक रही हो, हरएक घण्टा बोझ और आतंक-सा जान पड़ता था। इतनी तीव्र उद्विग्नता मैंने कभी महसूस नहीं की थी। उस समय मैं समझता था कि इन दो महीनों के अन्दर, बम्बई-कांग्रेस के अधिवेशन के बाद ही मैं शायद छूट जाऊंगा; लेकिन वे दो महीने भी अनन्तकाल के समान मालूम पड़ रहे थे।

मेरी दुबारा गिरफ्तारी के ठीक एक महीने बाद एक पुलिस-अफसर मुझे मेरी पत्नी से थोड़ी-सी देर के लिए मुलाकात कराने ले गया। मुझसे कहा गया था कि मुझे इस तरह हफ्ते में दो बार उससे मिलने दिया जाया करेगा और उसके लिए समय भी निश्चित हो गया था। मैंने चौथे दिन बाट देखी––कोई मुझे लेने नहीं आया, इसी तरह पांचवा, छठा और सातवां दिन बीता, मैं इंतजार करते-करते थक गया। मेरे पास समाचार पहुंचा कि उसकी हालत फिर चिन्ताजनक होती जा रही है। मैंने सोचा कि मुझसे सप्ताह में दो बार कमला से मिल सकने की बात कहना कैसा अजीब मजाक था।

सितम्बर का महीना भी किसी तरह खतम हुआ। मेरी जिन्दगी में वे तीस दिन सबसे लम्बे और सबसे अधिक दुखदाई थे।

कई व्यक्तियों के द्वारा मुझे यह सूचना दी गई कि अगर मैं अपनी मियाद के बाकी दिनों के लिए राजनीति में भाग न लेने का आश्वासन––चाहे वह लिखित भले ही न हो––दे दूं तो मुझे कमला की सेवा-शुश्रूषा के लिए छोड़ा जा सकेगा। राजनीति उस समय मेरे विचारों से दूर की चीज थी और बाहर जाकर ग्यारह दिनों में मैंने राजनीति की जो दशा देखी थी, उससे तो मुझे

घृणा-सी हो गई थी, पर आश्वासन की तो कल्पना भी नहीं की जा सकती थी। उसका अर्थ होता, अपनी प्रतिज्ञाओं, अपने कार्यों, अपने साथियों और खुद अपने साथ विश्वासघात करना। परिणाम कुछ भी होता, यह तो एक असम्भव शर्त थी। ऐसा करने का अर्थ होता अपने अस्तित्व के मूल पर मर्माघात और उन सब चीजों को, जो मेरी दृष्टि में पवित्र थीं, अपने हाथों कुचल डालना। मुझसे कहा गया कि कमला की हालत दिन-पर-दिन बिगड़ती जा रही है और मेरे उसके पास रहने से उसके जीवन की थोड़ी सम्भावना हो सकती है। तो मेरा व्यक्तिगत दम्भ या अहंकार क्या कमला के जीवन से बड़ी चीज थी ? मेरे लिए यह एक भयंकर समस्या बन जाती; पर भाग्यवश कम-से-कम इस रूप में, वह मेरे सामने उपस्थित नहीं हुई। मैं जानता था कि इस प्रकार के किसी भी आश्वासन को खुद कमला नापसन्द करेगी और अगर मैं कोई ऐसा काम कर बैठता, तो उसे आघात लगता और उसकी तबीयत को नुकसान भी पहुँचता।

अक्तूबर के शुरू में मुझे फिर उससे भेंट करने के लिए ले जाया गया। वह करीब-करीब गाफिल-सी पड़ी हुई थी, बुखार बहुत तेज था। मुझे अपने निकट रखने की उसकी इच्छा बड़ी तीव्र थी; पर जब मैं जेल लौट जाने के लिए उससे विदा होकर चला तो उसने साहसपूर्ण मुस्कराहट से मेरी ओर देखा और मुझे नीचे झुकने का इशारा किया। मैं जब उसके नजदीक जाकर झुका, उसने मेरे कान में कहा, "सरकार को आश्वासन देने की यह क्या बात है ? ऐसा हरगिज न करना।"

कुल ग्यारह दिन मैं जेल के बाहर था। हम लोगों ने इन दिनों निश्चय कर लिया था कि कमला के स्वास्थ्य में थोड़ा-सा सुधार होने पर, उसे इलाज के लिए किसी अधिक उपयुक्त जगह पर भेज देंगे। तभी से हम उसके कुछ अच्छा होने की बाट देख रहे थे, पर इसके बजाय उसकी हालत दिन-दिन गिरती ही जा रही थी और

अब छह हफ्ते बाद तो, यह गिरावट बहुत साफ दिखने लगी थी। इसलिए अब इन्तजार करते रहना बेकार समझा गया, और यह निश्चय किया कि उसे ऐसी ही हालत में भुवाली की पहाड़ी पर भेज दिया जाय।

जिस दिन कमला भुवाली जानेवाली थी, उसके एक दिन पहले मुझे उससे मिलने के लिए ले जाया गया। मैं सोच रहा था, अब फिर दुबारा कब इससे भेंट होगी और भेंट होगी भी या नहीं? पर, वह उस दिन प्रसन्न और कुछ स्वस्थ दिखाई दे रही थी। इससे मुझे इतनी खुशी हुई कि कुछ न पूछो।

करीब तीन हफ्ते बाद, मुझे नैनी-जेल से अलमोड़ा डिस्ट्रिक्ट जेल में भेज दिया गया, जिससे मैं कमला के ज्यादा नजदीक रह सकूं। भुवाली रास्ते में ही पड़ता था; पुलिस की गारद के साथ मैंने कुछ घण्टे वहीं बिताये। मुझे कमला की हालत में थोड़ा सुधार देखकर बड़ी प्रसन्नता हुई और उससे विदा लेकर मैं आनन्दपूर्वक, अपनी अलमोड़ा तक की यात्रा पूरी कर सका। सच तो यह है कि कमला तक पहुंचने के पहले ही पहाड़ों ने मुझे प्रफुल्लित कर दिया था।

मुझे वापस इन पहाड़ों में पहुंच जाने की बड़ी खुशी थी। ज्यों-ज्यों हमारी मोटर चक्करदार सड़क पर तेजी से आगे बढ़ती जा रही थी, सबेरे की ठंडी हवा और धीरे-धीरे खुलता जानेवाला प्रकृति का सौन्दर्य मुझे एक विचित्र हर्ष से भर रहा था। हम ऊपर-ऊपर चढ़ते जा रहे थे, घाटियां गहरी होती जा रही थीं, पर्वत की चोटियां बादलों में छिपती जा रही थीं। हरियाली भी रंग बदलती गई और चारों ओर की पहाड़ियां देवदार से घिरी हुई दिखाई देने लगीं। कभी सड़क के किसी मोड़ को पार करते ही, अचानक हमारे सामने पर्वत-श्रेणियों का एक नया विस्तार और कहीं घाटियों की गहराई में एक छोटी नदी कलकल करती हुई दिखाई देती। उस दृश्य को देखते मेरा जी नहीं अघाता था, उसे पूरा ही

पी जाने की इच्छा हो रही थी। मैं अपने स्मृति-पात्र को उससे भर लेना चाहता था, जिससे उस समय, जबकि सच्चा दृश्य देखना मुझे नसीब नहीं होगा, उसीकी मैं अपने मन में कल्पना करके आनन्द पा लिया करूंगा।

पहाड़ियों की तलहटी में छोटी-छोटी झोंपड़ियों के झुण्ड दिखाई देते थे और उनके चारों ओर छोटे-छोटे खेत। जहां-कहीं थोड़ी-भी ढाल मिल गई, वहीं कड़ी मेहनत-मशक्कत करके खेत बना लिये। दूर से वे झरोखों या छज्जों के समान दिखाई देते थे, या ऐसा जान पड़ता था, मानो बड़ी-बड़ी सीढ़ियां हों जो घाटी के नीचे से पहाड़ी की चोटी तक सीधी कतारबन्द चली गई हों। इस बिखरी हुई बस्ती के लिए प्रकृति के भंडार से थोड़ा-सा अन्न निकलवाने के लिए कितनी कड़ी मेहनत करनी पड़ती है! इस लगातार परिश्रम के बाद भी कितनी कठिनाई से उनकी जरूरतें पूरी हो पाती हैं। इन सीढ़ीनुमा खेतों के कारण पहाड़ियों में एक तरह की बस्ती का-सा बोध होता था और उनके सामने वनस्पतिशून्य या जंगलों से ढकी ढालू जमीन बड़ी विचित्र लगती थी।

दिन में यह सारा दृश्य बड़ा मनोहर दिखाई देता है और ज्यों-ज्यों सूर्य आकाश में ऊंचा चढ़ता जाता है, उसकी बढ़ती हुई गरमी से पहाड़ों में एक नया जीवन दिखाई देने लगता है और वे अपना अजनबीपन भूलकर हमारे मित्र और साथी-से मालूम होने लगते हैं। लेकिन दिन डूब जाने पर उनका सारा रूप कैसा बदल जाता है। जब रात अपने लम्बे-चौड़े डग भरती हुई विश्व को अंक में भर लेती है और उच्छृंखल प्रकृति को पूरी आजादी देकर जीवन अपने बचाव के लिए छिपने का मार्ग ढूंढता है, तब ये जीवन-शून्य पर्वत कैसे ठंडे और गम्भीर बन जाते हैं। चांदनी या तारों की रोशनी में पर्वतों की श्रेणियां रहस्यमयी, भयंकर, विराट और फिर भी आकार-हीन-सी मालूम पड़ती हैं और घाटियों के बीच से वायु की कराहट सुनाई पड़ती है। गरीब

मुसाफिर एकांत मार्ग पर चलता हुआ कांप उठता है और अपने चारों ओर विरोधी शक्तियों की उपस्थिति का अनुभव करता है। पवन की सनसनाहट भी मखौल-सा उड़ाती और उपेक्षा-सी करती दिखाई देती है। कभी पवन का निश्वासें भरना बन्द हो जाता है, दूसरी कोई ध्वनि भी नहीं होती और चारों ओर पूर्ण शान्ति होती है, जिसकी प्रचण्डता ही डरावनी लगने लगती है। केवल टेलीग्राफ के तार धीमे-धीमे गुनगुनाते रहते हैं और तारे अधिक चमकदार और अधिक समीप दिखाई देने लगते हैं। पर्वत-श्रेणियां गम्भीरता से नीचे की ओर देखती रहती हैं और ऐसा जान पड़ता है जैसे कोई भयावना रहस्य उस ओर को घूर रहा हो। पास्कल के समान ही मनुष्य सोचता है, "मुझे अनन्त आकाश की इस अनन्त शान्ति से भय लगता है।" मैदानों में रात कभी इतनी सुनसान नहीं होती; प्राणों का कम्पन वहां तब भी सुनाई देता रहता है और कई प्रकार के प्राणियों और जन्तुओं की आवाजें रात के सन्नाटे को चीरती रहती हैं।

लेकिन जब हम मोटर में बैठे अलमोड़ा जा रहे थे, रात अपने ठंड और निस्तब्धता के सन्देश सहित हमसे अब भी दूर थी। हमारी यात्रा का अन्त अब समीप ही आ गया था। सड़क के मोड़ को पार करने और बादलों के एकसाथ हट जाने से मुझे एक नया दृश्य दिखाई दिया, कितना अचरज और हर्ष हुआ मुझे वह देखकर! बीच में आ जानेवाले जंगल से लदे पहाड़ों के बहुत ऊपर बड़ी दूर पर, हिमालय की बर्फीली चोटियां चमक रही थीं। अतीत के सारे बुद्धि-वैभव को लिये, भारतवर्ष के विस्तृत मैदान के ये सन्तरी बड़े शान्त और रहस्यमय लगते थे। उनके देखने से ही मन में एक शान्ति-सी छा जाती थी और उनकी सनातनता के आगे जनपदों और नगरों के हमारे छोटे-छोटे द्वेष और संघर्ष, विकार तथा प्रपंच अत्यन्त तुच्छ-से लगते थे।

अलमोड़ा का छोटा-सा जेल एक ढालू जमीन पर बना हुआ है। मुझे उसीमें एक 'शानदार' बैरक रहने के लिए दी गई। इसमें

५१ × १७ फुट का एक बड़ा-सा कमरा था, जिसका फर्श कच्चा और बड़ा ऊंचा-नीचा था, छत कीड़ों की खाई हुई थी, जिसमें से टुकड़े टूट-टूटकर बराबर नीचे गिरा करते थे। उसमें पन्द्रह खिड़कियां और एक दरवाजा था, या यों कहना चाहिए कि इतने सींखचों से जड़े हुए बड़े-छोटे झरोखे थे, क्योंकि असल में किसी पर पल्ले तो थे नहीं। इस प्रकार ताजी हवा की तो कमी हो ही नहीं सकती थी। जब सरदी बढ़ गई तो कुछ खिड़कियों को नारियल की चटाइयों से बन्द कर दिया गया। इस बड़े कमरे में (जो देहरादून के जेल के किसी भी कमरे से बड़ा था) मैं अपने एकान्त वैभव का भोग करता था। लेकिन मैं बिलकुल अकेला भी नहीं था, क्योंकि कम-से-कम दो दर्जन चिड़ियों ने उस टूटी छत में अपना घर बना रक्खा था। कभी-कभी कोई भटकता हुआ बादल, कई खिड़कियों में से प्रवेश करता हुआ, मुझसे भेंट करने आ जाता और सारी जगह पर नमी फैला देता।

यहां रोज शाम के साढ़े चार बजे के आखिरी भोजन, अर्थात एक प्रकार के जलपान के बाद, पांच बजे मुझे बन्द कर दिया जाता था और फिर सवेरे सात बजे मेरा सींखचोंवाला दरवाजा खुलता था। दिन के समय या तो बैरक में या उसके बाहर एक पास के दालान में, धूप लिया करता था। मेरी चहार-दीवारी से एक-डेढ़ मील दूर एक पहाड़ की चोटी दिखाई देती थी और मेरे सिर पर नीले आकाश का अनन्त वितान तना रहता था, जिसपर बादल छिटके रहते थे। ये बादल चित्र-विचित्र रूप धारण करते रहते, जिन्हें देखते-देखते मैं कभी थकता न था। कभी उन्हें देखकर मन में तरह-तरह के जानवरों के रूप की कल्पना उठती और कभी-कभी वे मिलकर एक भारी महासागर के समान दिखाई देने लगते। कभी वे समुद्र के किनारे-से लगते और देवदार के पेड़ों के बीच से आनेवाली वायु की मर्मराहट समुद्र के ज्वारभाटे की-सी आवाज लगती। कभी-कभी कोई बादल बड़े साहस के साथ

हमारी ओर बढ़ता नजर आता। दिखने में तो बड़ा ठोस और घना लगता; पर हमारे नजदीक आते-आते वह बिलकुल कुहरा बन जाता और हमें लपेट लेता।

मुझे अपनी विशाल बैरक छोटी कोठरी से ज्यादा पसन्द थी। छोटी कोठरी से इसमें अकेलापन ज्यादा महसूस होता था। बाहर पानी बरसता तो मैं उसके अन्दर ही घूम-फिर सकता था। लेकिन जैसे-जैसे सर्दी बढ़ती गई, उसकी मनहूसियत बढ़ती गई और जब सर्दी बहुत ही बढ़ गई, तब ताजी हवा और खुले में रहने का मेरा प्रेम शिथिल पड़ गया। मुझे उस समय बड़ी खुशी हुई, जब नए साल के शुरू होते ही खूब बर्फ पड़ी और जेल का नीरस वातावरण भी सुन्दर हो उठा। बर्फ से लिपटे हुए जेल की दीवारों के बाहर के देवदार वृक्ष तो बहुत ही सुहावने और लुभावने दिखने लगे।

कमला की हालत में उतार-चढ़ाव होते रहने से मुझे चिन्ता रहती थी और कभी कोई खराब खबर मिल जाती तो उससे मैं कुछ देर के लिए उदास हो जाता; लेकिन पहाड़ की हवा मुझे स्वस्थ तथा शान्त कर देती और मैं फिर पहले की तरह गहरी नींद से सोने लगता। कभी-कभी मैं नींद के झोंकों से झूमता हुआ सोचता था कि यह नींद भी कैसी आश्चर्य और रहस्य की चीज है। मनुष्य उससे जगे ही क्यों? मैं बिलकुल ही न जागूं तो?

तो भी जेल से छुटकारा पाने की मेरी इच्छा प्रबल थी और इस वक्त तो बहुत ही तीव्र हो रही थी। बम्बई-कांग्रेस खत्म हो चुकी थी। नवम्बर भी आकर चला गया और असेम्बली के चुनावों की चहलपहल भी खत्म हो गई थी। मुझे आशा हो चुकी थी कि मैं जल्दी ही छोड़ दिया जाऊंगा।

अलमोड़ा-जेल में एक महीना रहने के बाद कमला को देखने के लिए मुझे ले जाया गया। उसके बाद मैं करीब-करीब

हर तीसरे हफ्ते उससे मिलता रहा। इन मुलाकातों के फलस्वरूप हम एक-दूसरे के और भी नजदीक आते गये, और उससे विदा होते समय एक असहनीय पीड़ा होती। हम केवल विदा होने के लिए ही मिलते थे। कभी-कभी तो मैं बड़े वेदना-भरे हृदय से सोचता था कि एक ऐसा दिन आ सकता है, जब यह विदा शायद आखिरी विदा हो।

मेरी मां बीमारी से उठ न पाई थीं, इसलिए इलाज के लिए बम्बई गई थीं। वहां उनकी हालत में सुधार होता दिखाई दे रहा था। जनवरी का आधा महीना बीतने के करीब, एक दिन सवेरे ही तार के जरिए दिल को चोट पहुंचानेवाली ऐसी खबर मिली जिसकी कल्पना भी नहीं थी। उन्हें लकवा मार गया था। इसलिए मेरे बम्बई-जेल में भेजे जाने की सम्भावना थी; ताकि जरूरत पड़ने पर मैं उन्हें देख सकूं। लेकिन उनकी हालत में थोड़ा सुधार हो जाने के कारण मुझे वहां नहीं भेजा गया।

जनवरी ने अपना स्थान अब फरवरी को दे दिया है और वायुमण्डल में बसन्त के आगमन की आहट सुनाई दे रही है। बुलबुल और दूसरी चिड़ियां फिर दिखाई और सुनाई देने लगी हैं और जमीन में जगह-जगह छोटे-छोटे कल्ले फूटकर इस विचित्र दुनिया पर अपनी अचरज-भरी नजर डाल रहे हैं। सदाबहार के फूल पहाड़ियों में स्थान-स्थान पर रक्त के-से लाल चप्पे बनाते जा रहे हैं और शान्तिपूर्ण वातावरण में बेर के फूल बाहर झांक रहे हैं। दिन बीतते जा रहे हैं, और ज्यों-ज्यों वे समाप्त होते जा रहे हैं, मैं उन्हें गिनता रहता हूं और अपनी अगली भुवाली-यात्रा की बात सोचता रहता हूं। मैं नहीं कह सकता कि इस कहावत में कहांतक सचाई है कि जीवन के बड़े-बड़े पुरस्कार निराशा, निर्दयता और वियोग के बाद ही मिलते हैं। अगर ऐसा न हो तो शायद उन पुरस्कारों का मूल्य ठीक-ठीक न आंका जा सके।

शायद विचारों की स्पष्टता के लिए कष्ट-सहन जरूरी है, परन्तु उनकी अधिकता दिमाग पर पर्दा डाल सकती है। जेल से आत्म-चिन्तन को प्रोत्साहन मिलता है और अनेक वर्षों के जेल-निवास ने मुझे अधिक-से-अधिक आत्मनिरीक्षण के लिए विवश किया है। स्वभाव से मैं अन्तर्मुखी नहीं था, पर जेल का जीवन, तेज कॉफी या कुचले के सत की तरह आत्म-चिन्तन की ओर ले जाता है।

उपसंहार

हमें कर्म करने का आदेश है; किंतु यह हमारे हाथ की बात नहीं कि हम अपने कार्यों को सफल बना सकें। तालमुद

मैं अपनी कहानी के अन्त तक पहुंच गया हूं। मेरी जीवन-यात्रा का यह वृत्तांत जैसा कुछ भी बन पड़ा है, अलमोड़ा जिला जेल में आज दिन——१४ फरवरी १९३५——तक का है। तीन महीने पहले, आज के ही दिन, मैंने इस जेल में अपनी पैंतालीसवीं वर्षगांठ मनाई थी और मैं खयाल करता हूं कि अभी मुझे और भी कई बरस जीना है। कभी-कभी उम्र और थकान का खयाल मन पर छा जाता है; लेकिन मैं फिर अपनेको उत्साह और चैतन्य से भरपूर अनुभव करने लगता हूं। मेरा शरीर काफी गठीला है और मेरे मन में आघातों को झेल सकने की क्षमता है। इसलिए मैं समझता हूं कि मैं अभी काफी अर्से तक जिन्दा रहूंगा, बशर्ते कि कोई अघटित घटना न घट जाय। लेकिन भविष्य के सम्बन्ध में तो पहले से लिखा नहीं जा सकता।

मेरी ये जीवन-घटनाएं शायद बहुत अधिक रोमांचकारी नहीं हैं; कई बरसों का जेल-निवास शायद साहसिक कार्य नहीं कहा जा सकता। इन घटनाओं में कोई अपूर्वता भी नहीं है; क्योंकि इन बरसों के सुख-दुःखों में हजारों देश-भाइयों और बहनों का हिस्सा है। इसलिए जुदी-जुदी भावनाओं और हर्ष-विषाद, प्रचण्ड हलचलों और बरबस एकान्तवास का यह वर्णन,

हम सबका संयुक्त वर्णन है। मैं जन-समूह का ही एक व्यक्ति रहा हूं, उसके साथ काम करता रहा हूं, कभी उसका नेतृत्व करके उसे आगे बढ़ाता रहा हूं, कभी उससे प्रभावित होता रहा हूं; और फिर भी अन्य दूसरे व्यक्तियों की तरह एक-दूसरे से अलग, जन-समूह के बीच में अपना पृथक् जीवन व्यतीत करता रहा हूं। अनेक बार हमने रूपक बांधा है और नाटक किया है; लेकिन हमने जो कुछ किया, उसमें बहुत सत्य वस्तु तथा तीव्र निष्ठा रही है और इसने हमें अपनी क्षुद्र अहंता से ऊंचा उठा दिया, हमें अधिक बल दिया और इतना महत्त्व दे दिया जो अन्यथा हमें मिल नहीं सकता था। कभी-कभी हमें जीवन की उस पूर्णता को अनुभव करने का सौभाग्य मिला जो आदर्शों को कार्यरूप में परिणत करने से होती है। हमने समझ लिया कि इससे भिन्न कोई भी दूसरा जीवन, जिसमें इन आदर्शों का परित्याग करके, पशुबल के सामने दीनता ग्रहण करनी होती, व्यर्थ, सन्तोषहीन तथा अन्तर्वेदना से भरा होता।

इन वर्षों में मुझे बहुत-से लाभों के साथ-साथ एक अनमोल लाभ यह भी हुआ है। मैं जीवन को अधिकाधिक रसमय महत्त्व का एक प्रयोग समझने लगा हूँ। इसमें बहुत-कुछ सीखने को मिलता है, बहुत-कुछ करने को रहता है। क्रमोन्नति की भावना मुझमें हमेशा रही है और अब भी मुझमें है। इससे मुझे अपनी विविध प्रवृत्तियों में, पुस्तकों के पठन-पाठन में, रस मिलता है और जीवन जीने योग्य बनता है।

अपनी इस कहानी में मैंने हरेक घटना के समय अपने मनोभावों और विचारों का चित्र खींचने का, यथासंभव उस क्षण की अपनी अनुभूतियों के व्यक्त करने का प्रयत्न किया है। भूत-काल की मनोदशा स्मृति से जागृत करना कठिन है और बाद में होनेवाली घटनाओं को भुलाना सरल नहीं है। इस तरह मेरे आरम्भिक दिनों के वर्णन पर पिछले विचारों का प्रभाव जरूर पड़ा होगा; लेकिन मेरा उद्देश्य, खासकर अपने ही लाभ के लिए

अपने मानसिक विकास को अंकित करना था। मैंने जो कुछ लिखा है, वह मैं कभी कैसा था, इस बात का शायद इतना वर्णन नहीं है, जितना इस बात का कि कभी-कभी मैं कैसा होना चाहता था, या कैसा होने की कल्पना करता था।

मैं पूर्व और पश्चिम का एक अजीब-सा सम्मिश्रण बन गया हूं, हर जगह बे-मौजूं, कहीं भी अपनेको अपने घर में होने-जैसा अनुभव नहीं करता। शायद मेरे विचार और मेरी जीवन-दृष्टि पूर्वी की अपेक्षा पश्चिमी अधिक है; लेकिन भारतमाता अनेक रूपों में अपने अन्य बालकों की भांति, मेरे हृदय में भी विराजमान है और अन्तर के किसी अनजान कोने में, कोई सौ (या संख्या कुछ भी हो) पीढ़ियों के ब्राह्मणत्व के संस्कार छिपे हुए हैं। मैं अपने पिछले संस्कार और नूतन ज्ञान से मुक्त हो नहीं सकता। यह दोनों मेरे अंग हो गये हैं और जहां वे मुझे पूर्व और पश्चिम दोनों से मिलने में सहायता करते हैं, वहां साथ ही न केवल सार्वजनिक जीवन में, बल्कि समग्र जीवन में एक मानसिक एकाकीपन का भाव पैदा करते हैं। पश्चिम में मैं विदेशी हूं—अजनबी हूं। मैं उसका हो नहीं सकता। लेकिन अपने देश में भी मुझे कभी-कभी ऐसा लगता है मानो मैं देश-निर्वासित हूं।

सुदूरवर्ती पर्वत सुगम्य और उसपर चढ़ना सरल मालूम होता है। उसका शिखर आवाहन करता दिखाई देता है; लेकिन ज्यों-ज्यों हम उसके नजदीक पहुंचते हैं, कठिनाइयां दिखाई देने लगती हैं; जैसे-जैसे ऊँचे चढ़ते जाते हैं, चढ़ाई अधिकाधिक मालूम होने लगती है और शिखर बादलों में छिपता दिखाई पड़ने लगता है। फिर भी चढ़ाई के प्रयत्न का एक अनोखा मूल्य रहता है और उसमें एक विचित्र आनन्द और एक विचित्र संतोष मिलता है। शायद जीवन का मूल्य पुरुषार्थ में है, फल में नहीं। अक्सर यह जानना मुश्किल होता है कि सही रास्ता कौन-सा है? कभी-कभी यह जानना ज्यादा आसान होता है कि कौन-सा रास्ता सही नहीं है और उससे बचे रहना भी श्रेयस्कर होता

है। अत्यन्त नम्रता के साथ मैं महान् सुकरात के अन्तिम शब्दों का उल्लेख करना पसन्द करूंगा। उसने कहा था--

"मैं नहीं जानता कि मृत्यु क्या चीज है--वह कोई अच्छी चीज हो सकती है और मुझे उसका कोई भय नहीं है। लेकिन मैं यह जानता हूं कि मनुष्य का अपने भूतकर्मों से भागना बुरा है; इसलिए जिसके बारे में मैं जानता हूं कि वह खराब है उसकी अपेक्षा जो अच्छा हो सकता है वह काम करना पसन्द करता हूं।"

बरसों मैंने जेल में बिता दिये! अकेले बैठे हुए, अपने विचारों में डूबे हुए, कितनी ऋतुओं को मैंने एक-दूसरे के पीछे आते-जाते और अन्त में विस्मृति के गर्भ में लीन होते देखा है! कितने चन्द्रमाओं को मैंने पूर्ण विकसित और क्षीण होते देखा है और कितने झिलमिल करते तारामंडल को अबाध, अनवरत गति और भव्यता के साथ घूमते देखा है! मेरे यौवन के कितने बीते दिवसों की यहां चिता-भस्म बनी हुई है और कभी-कभी मैं इन बीते दिवसों की प्रेतात्माओं को उठते हुए, दुखद स्मृतियों को जगाते हुए, कान के पास आकर यह कहते हुए सुनता हूं "क्या उसमें कुछ भलाई थी?" और इसका जवाब देने में मेरे मन में कोई शंका नहीं है। अगर अपने मौजूदा ज्ञान और अनुभव के साथ मुझे अपने जीवन को फिर से दुहराने का मौका मिले तो इसमें कोई शक नहीं कि मैं अपने व्यक्तिगत जीवन में अनेक फेरफार करने की कोशिश करूंगा। जो-कुछ मैं पहले कर चुका हूं, उसको कई तरह से सुधारने का प्रयत्न करूंगा, लेकिन सार्वजनिक विषयों में मेरे प्रमुख निर्णय ज्यों-के-त्यों बने रहेंगे। निस्सन्देह मैं उन्हें बदल नहीं सकता, क्योंकि वे मेरी अपेक्षा कहीं अधिक बलवान हैं और मेरे ऊपर होनेवाली एक शक्ति ने मुझे उनकी ओर ढकेला था।

मेरी सजा को आज पूरा एक बरस हो गया; सजा के दो बरसों में से एक बरस बीत गया है। दूसरा पूरा एक बरस बाकी है, क्योंकि इस बार रिआयती दिन न कटेंगे--सादी सजा में इस

तरह दिन नहीं कटते। इतना ही नहीं, पिछली अगस्त में जो ग्यारह दिन मैं बाहर रहा था, वे भी मेरी सजा की अवधि में बढ़ा दिये गये हैं। लेकिन यह साल भी बीत जायगा और मैं जेल से बाहर हो जाऊंगा—मगर इसके बाद ? मैं नहीं जानता, लेकिन मन में ऐसा भाव उठता है कि मेरे जीवन का एक अध्याय समाप्त हो गया है, और दूसरा आरम्भ होगा। वह क्या होगा, इसका मैं स्पष्ट अनुमान नहीं कर सकता। मेरी जीवन-कथा के—'मेरी कहानी' के ये पन्ने अब समाप्त होते हैं।

कुछ और

बीडनवीलर, स्वार्ट स्वाल्ड
२५ अक्तूबर, १९३५

पिछले मई महीने में कमला भुवाली से यूरोप इलाज कराने के लिए गई। उसके यूरोप चले जाने से मेरा मुलाकात करने के लिए भुवाली जाना बन्द हो गया; पहाड़ी सड़कों पर मेरा हर पखवाड़े मोटर पर यात्रा करना बन्द हो गया। अब अलमोड़ा-जेल मेरे लिए पहले से भी ज्यादा सुनसान हो गया।

क्वेटा में भूकम्प की खबर मिली, जिसने कुछ समय के लिए दूसरी सब बातें भुला दीं; लेकिन अधिक समय के लिए नहीं, क्योंकि भारत-सरकार अपनेको या अपने विचित्र तरीकों को, हमें भूलने नहीं देती। फौरन ही मालूम हुआ कि कांग्रेस के सभापति बाबू राजेन्द्रप्रसाद को, जोकि भूकम्प-सहायता का काम हिन्दुस्तान के प्रायः किसी भी अन्य मनुष्य से अधिक जानते हैं, क्वेटा जाने और पीड़ितों को सहायता करने की इजाजत नहीं दी गई। न गांधीजी या अन्य किसी प्रसिद्ध सार्वजनिक कार्यकर्त्ता को ही वहां जाने दिया। क्वेटा-भूकम्प के बारे में लेख लिखने के कारण कई भारतीय समाचार-पत्रों की जमानतें जब्त कर ली गयीं।

जिधर देखिए उधर—सब ओर फौजी मनोवृत्ति, पुलिस-दृष्टिकोण दिखाई देता था—असेम्बली में, सिविल शासन में,

सीमान्त पर बम बरसाये जाने में, सबमें, इसीका बोलबाला था। ज्यादातर ऐसा मालूम होता था, मानो हिन्दुस्तान में अंग्रेजी सरकार हिन्दुस्तानी जनता के एक बड़े समुदाय से निरन्तर लड़ाई लड़ रही है।

पुलिस एक काम की और आवश्यक शक्ति है; लेकिन वह दुनिया, जो पुलिस के सिपाहियों और उनके डण्डों से भरी हो, शायद रहने के लिए ठीक जगह न होगी। अक्सर यह कहा गया है कि शक्ति का अनियन्त्रित प्रयोग प्रयोग-कर्त्ता को गिरा देता है, और साथ ही जिसके विरुद्ध इसका प्रयोग किया जाता है उसको भी अपमानित तथा पतित कर देता है। इस समय हिन्दुस्तान में ऊंची नौकरियों में, खासकर भारतीय सिविल-सर्विस में, अधिकारियों के दिन-पर-दिन बढ़ते जानेवाले नैतिक और बौद्धिक पतन के सिवा शायद ही कोई बात मार्के की दिखाई देती हो। खासतौर पर ऊँचे अफसरों में सबसे अधिक पतन दिखाई देता है, लेकिन आमतौर पर सभी नौकरियों में यह फैला हुआ है। जब कभी किसी ऊंचे पद पर नए आदमी की नियुक्ति का समय आता है, तब निश्चित रूप से वही आदमी पसन्द किया जाता है, जो इस नई (अधम) मनोवृत्ति का सबसे अच्छा परिचायक होता है।

गत ४ सितम्बर को एकाएक मैं अलमोड़ा-जेल से छोड़ दिया गया, क्योंकि यह समाचार मिला था कि मेरी पत्नी की हालत नाजुक हो गई है। स्वार्ट, स्वाल्ड (जर्मनी) के बीडनवीलर स्थान पर उसका इलाज हो रहा है। मुझसे कहा गया कि मेरी सजा मुल्तवी कर दी गई है, और मैं अपनी रिहाई के साढ़े पांच महीने पहले छोड़ दिया गया। मैं फौरन हवाई जहाज से यूरोप को रवाना हुआ।

●

'मंडल' द्वारा प्रकाशित प्राप्य साहित्य

१ आत्मकथा (गांधीजी) ५)
२ प्रार्थना प्रवचन २ भाग ,,५॥)
३ गीता-माता ,, ४)
४ पंद्रह अगस्त के बाद १॥),२)
५ धर्मनीति ,, १॥),२)
६ द० अफ्रीका का सत्याग्रह ३॥)
७ मेरे समकालीन ,, ५)
८ आत्म-संयम ,, ३)
९ गीता-बोध ,, ॥)
१० अनासक्तियोग ,, १॥)
११ ग्राम-सेवा ,, ।=)
१२ मंगल-प्रभात ,, ।=)
१३ सर्वोदय ,, ।=)
१४ नीति-धर्म ,, ।=)
१५ आश्रमवासियों से ,, ।=)
१६ हमारी मांग ,, १)
१७ सत्यवीर की कथा ,, ।)
१८ संक्षिप्त आत्मकथा ,, १॥)
१९ हिंद-स्वराज्य ,, ॥।)
२० अनीति की राह पर ,, १)
२१ बापू की सीख ,, ॥)
२२ गांधी-शिक्षा (तीन भाग) १=)
२३ आज का विचार ,, ।=)
२४ ब्रह्मचर्य (दो भाग),, १॥।)
२५ गांधीजी ने कहा था ५ भाग १।)
२६ शान्ति-यात्रा (विनोबा) १॥)
२७ विनोबा-विचार : २ भाग ३)
२८ गीता प्रवचन ,, १) १॥।)
२९ जीवन और शिक्षण ,, २)
३० स्थितप्रज्ञ-दर्शन ,, १)
३१ ईशवास्यवृत्ति ,, ॥।)
३२ ईशावास्योपनिषद् ,, =)
३३ सर्वोदय-विचार ,, १=)
३४ स्वराज्य-शास्त्र ,, ॥।)
३५ गांधीजी को श्रद्धांजलि ,, ।=)
३६ भू-दान-यज्ञ (विनोबा) ।)
३७ राजघाट की संनिधि में ।=)
३८ विचार-पोथी ,, १)
३९ सर्वोदय का घोषणा-पत्र ,, ।)
४० जमाने की मांग ,, =)
४१ मेरी कहानी (नेहरू) ८)
४२ हिन्दुस्तान की समस्याएं २)
४३ लड़खड़ाती दुनिया ,, २)
४४ राष्ट्रपिता ,, २)
४५ राजनीति से दूर ,, २)
४६ हमारी समस्यायें ,, ॥।)
४७ विश्व-इतिहास की झलक २१)
४८ सं० हिन्दुस्तान की कहानी ५)
४९ नया भारत ,, ।)
५० आजादी के आठ साल ,, ।)
५१ गांधीजी की देन (राजेन्द्र०) १॥)
५२ गांधी-मार्ग ,, =)
५३ महाभारत-कथा (राजाजी) ५)
५४ कुब्जा सुन्दरी ,, २)
५५ शिशु-पालन ,, ॥)
५६ मैं भूल नहीं सकता ,, २॥)
५७ कारावास-कहानी (सु.नै.) १०)
५८ गांधी की कहानी (फिशर) ४)
५९ भारत-विभाजन की कहानी ४)
६० बापू के चरणों में २॥)
६१ इंग्लैंड में गांधीजी २)
६२ बा, बापू और भाई ॥)
६३ गांधी-विचार-दोहन १॥)
६४ देवदासी २)
६५ सत्याग्रह-मीमांसा ३॥)
६६ बुद्धवाणी (वियोगी हरि) १)
६७ सन्त-सुधासार ,, ११)
६८ प्रकाश की बातें १॥)
६९ धरती और आकाश १।)
७० अयोध्याकाण्ड ,, १)

७१ भागवत-धर्म (ह. उ.) ५॥)
७२ श्रेयार्थी जमनालालजी ,, ६॥)
७३ स्वतन्त्रता की ओर ,, ४)
७४ बापू के आश्रम में ,, १)
७५ मनन ,, १॥)
७६ मानवता के झरने (माव.) १॥)
७७ बापू (घ० बिड़ला) २)
७८ रूप और स्वरूप ,, ॥=)
७९ डायरी के पन्ने ,, १)
८० ध्रुवोपाख्यान ,, ।)
८१ स्त्री और पुरुष (टाल्स्टाय) १)
८२ मेरी मुक्ति की कहानी ,, १॥)
८३ प्रेम में भगवान ,, २)
८४ जीवन-साधना ,, १।)
८५ कलवार की करतूत ,, ।)
८६ सामाजिक कुरीतियां ,, २)
८७ हमारे जमाने की गुलामी ,, ।॥)
८८ बुराई कैसे मिटे ? ,, १)
८९ बालकों का विवेक ,, ।॥)
९० हम करें क्या ? ,, ३॥)
९१ धर्म और सदाचार ,, १।)
९२ अंधेरे में उजाला ,, १॥)
९३ ईसा की सिखावन ,, १।)
९४ कल्पवृक्ष (वा० अग्रवाल) २)
९५ लोक-जीवन (कालेलकर) ३॥)
९६ साहित्य और जीवन २)
९७ कब्ज (म० प्र० पोद्दार) १)
९८ हिमालय की गोद में ,, २)
९९ कहावतों की कहानियां ,, २)
१०० राजनीति-प्रवेशिका १)
१०१ जीवन-संदेश (ख.जिब्रान) १।)
१०२ अशोक के फूल ३)
१०३ जीवन-प्रभात ५)
१०४ कां० का इतिहास ३ भाग २०)
१०५ पंचदशी १॥)
१०६ सप्तदशी २)
१०७ रीढ़ की हड्डी १॥)
१०८ अमिट रेखायें ३)
१०९ एक आदर्श महिला १)
११० राष्ट्रीय गीत ।)
१११ तामिल-वेद (तिरुवल्लुवर) १॥)
११२ आत्म-रहस्य ३)
११३ थेरी-गाथाएं १॥)
११४ बुद्ध और बौद्ध साधक १॥)
११५ जातक-कथा (आनंद कौ.) २॥)
११६ हमारे गांव की कहानी १॥)
११७ खादी द्वारा ग्राम-विकास ।॥)
११८ साग-भाजी की खेती ३)
११९ ग्राम-सुधार १।)
१२० पशुओं का इलाज (प.प्र.) ॥)
१२१ चारादाना ,, ।)
१२२ रामतीर्थ-संदेश (३ भाग) १=)
१२३ रोटी का सवाल (क्रोपा०) ३)
१२४ नवयुवकों से दो बातें ,, ।=)
१२५ पुरुषार्थ (डा० भगवान्दास) ६)
१२६ काश्मीर पर हमला २)
१२७ शिष्टाचार ॥)
१२८ तट के बंधन २)
१२९ भारतीय संस्कृति ३॥)
१३० आधुनिक भारत ५)
१३१ फलों की खेती २॥)
१३२ मैं तन्दुरुस्त हूँ या बीमार ॥)
१३३ नवजागरण का इतिहास ३)
१३४ गांधीजी की छत्रछाया में २॥)
१३५ भागवत-कथा ३॥)
१३६ जय अमरनाथ १॥)
१३७ हमारा कानून ५)
१३८ हमारी लोककथाएं १॥)
१३९ संस्कृत-साहित्य-सौरभ
(२५ पुस्तकें) प्रत्येक ।=)
१४० समाज-विकास-माला
(५६ पुस्तकें) प्रत्येक ।=)

ಕರ್ನಾಟಕ ಗಾಂಧೀ ಸ್ಮಾರಕ ನಿಧಿ (ರಿ)
ಪರಿಗ್ರಹಣ ಸಂಖ್ಯೆ:
ACC. No.: 94437
ಗಾಂಧೀ ಗ್ರಂಥಾಲಯ, ಬೆಂಗಳೂರು-1

लेखक की अन्य पुस्तकें

१. विश्व इतिहास की झलक
२. हिन्दुस्तान की कहानी
३. मेरी कहानी
४. राजनीति से दूर
५. राष्ट्रपिता
६. हिन्दुस्तान की समस्यायें
७. हमारी समस्याएं
८. लड़खड़ाती दुनिया
९. नया भारत
१०. आजादी के आठ साल

सस्ता साहित्य मण्डल

ढाई रुपया